॥ ॐ तत् सत् ॥

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

अष्टम खण्ड ।

—:o#o:—

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. VIII

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

AS THE BASIS OF

All Religion and Philosophy

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

काशीधाम ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय
शास्त्र प्रकाश विभागद्वारा प्रकाशित ।

द्वितीय संस्करण ।

१६५७

[मूल्य ३॥)

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक

श्रीभारतधर्म महामण्डल-प्रधान कार्यालय

जगतगंज, वाराणसी कैंट।

॥ ॐ तत् सत् ॥

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

अष्टम खण्ड।

—:०*०:—

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. VIII

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

AS THE BASIS OF

All Religion and Philosophy

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीभारतधर्म-महामण्डल

प्रधान कार्यालय काशीद्वारा प्रकाशित।

द्वितीय संस्करण।

4.00

संशोधित मूल्य [मूल्य ३॥)

प्राक्कथन

भूतभावन भगवान् विश्वनाथकी असीम अनुकम्पासे धर्मकल्पद्रुमके अष्टम खण्डका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। वस्तुतः आठ भागोंमें सम्पूर्ण यह ग्रन्थ सनातनधर्मका अद्वितीय विश्वकोष ही है। जैसा कि इसके स्वनामधन्य प्रगाढ़ पण्डित यशस्वी लेखक श्रीभारतधर्म महामण्डलके प्रतिष्ठाता भगवत् पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके सुयोग्य शिष्य श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थके उपसंहारमें लिखा है कि—"विद्यातीर्थ परमाराध्य गुरुदेव तथा करुणा-वरुणालय श्रीविश्वनाथकी अपार कृपासे श्रीधर्मकल्पद्रुम नामक यह विशाल ग्रन्थ समाप्त हुआ। आजसे द्वादश वर्ष पूर्व इस ज्ञानयज्ञका प्रारम्भ पूज्यपदारविन्द गुरुगोविन्दकी आज्ञासे गोविन्दलीलानिकेतन श्रीवृन्दावन धाममें हुआ था, जिसकी पूर्णाहुति तथा निर्विघ्न समाप्ति द्वादशवर्षीय युगान्तर दृष्टिगोचर हो गया।" इससे यह सहज ही विदित होता है कि, इस विशाल ग्रन्थके प्रणयनमें पूरे बारह वर्ष लगे थे। पुनः जिस प्रकार भगवान् गणपति लेखक नहीं बनते तो महाभारत जैसे बृहत् ग्रन्थकी रचना भगवान् व्यास नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार पूज्यपाद स्वामी दयानन्दजी महाराज जैसे सुयोग शिष्य न होते तो यह धर्मकल्पद्रुम जैसा धर्मका अद्वितीय विश्वकोष मानवजातिको उपलब्ध नहीं होता। भगवत्पूज्यपाद महर्षि स्वामीजी महाराजका उपदेश बहुत संक्षिप्त होता था, उनको प्राञ्जलभाषामें भाष्यरूपमें विस्तारित लिखनेकी पूज्यपाद स्वामी दयानन्दजी महाराजमें अलौकिक शक्ति थी। ऐसे सुयोग्य शिष्यकी सहायतासे पूज्यपाद महर्षिने अँगरेजी, हिन्दी, बंगला, संस्कृत आदि अनेक भाषाओंमें प्रायः दो सौ ग्रन्थोंका निर्माण किया। वर्तमान समयमें किसी संस्थाद्वारा धार्मिक जगत्में इतना ठोस कार्य नहीं हुआ है।

धर्मकल्पद्रुमका आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया था, इसका दूसरा संस्करण श्रीभारतधर्ममहामण्डल-शास्त्र प्रकाशविभागद्वारा प्रकाशित हुआ है। धर्मकल्पद्रुम नामक यह ग्रन्थ ऐसा अलौकिक अद्वितीय ग्रन्थ है, जो प्रत्येक गृहस्थको अपने घरमें अवश्य रखना चाहिये और इसका आद्योपान्त अध्ययन करना चाहिये।

निवेदक—

देवीनारायण
(विद्यासागर, एडवोकेट)
जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म महामण्डल

काशी धाम
मकर संक्रान्ति सम्वत् २०१३

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

अष्टम खण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन।

श्रीश्रीविश्वनाथकी अपार कृपासे श्रीधर्मकल्पद्रुमका यह अन्तिम खण्ड प्रकाशित हो गया। सप्तम खण्डमें प्रकाशित विज्ञापनके अनुसार इस खण्डमें वर्त्तमान देशकालोपयोगी प्रकीर्ण विषय ही रखे गये हैं। इस कारण विषयोंके उपयोगी होनेपर-भी उनमें परस्परका धारावाहिक सम्बन्ध नहीं है।

कलियुगके तमोमय होनेके कारण इसमें उत्पन्न जीवोंके समष्टि कर्मानुसार सात्त्विक वस्तुओंका क्रमशः ह्रास तथा नाश ही हो रहा है। गौ, गङ्गा, गायत्री, तीर्थ, व्रत आदि सात्त्विक तथा सत्त्वभाववर्द्धक वस्तुओंके ह्रास, नाश या महिमा-विलोपनका यही प्राकृतिक हेतु जान पड़ता है। तथापि दीर्घकालव्यापी कलियुगके आरम्भमात्रकालमें ही सब कुछ विलुप्त नहीं होना चाहिये; इसीकारण सात्त्विक वस्तुओंकी कमसे कम जिससे वीजरक्षा हो, इसी विचारसे इस खण्डमें गोमहिमा; तीर्थमहिमाआदि प्रकीर्ण विषयोंपर प्रचुर विवेचन किया गया है। प्रसङ्गोपात्त भगवद्भावोद्वोधिनी भुवनमोहिनी सङ्गीतकलाके विषयमें भी बहुत कुछ लिखा गया है।

भारतकी वर्त्तमान राजनैतिक स्थिति जिस प्रकार डामाडोल है, शिक्षा-समस्या-भी उससे कम चिन्ताका विषय नहीं हो रहा है। इसी कारण विदेशीय राज्यानुशासनके भीतर रह कर भी किस प्रकारसे स्वजातीय शिक्षादर्श अक्षुण्ण रखा जा सकता है, इसी विषयका प्रचुर वर्णन शिक्षासमालोचनामें किया गया है। 'राजनैतिक जगत्' में आर्यजातीय सच्चे स्वराज्यका तथ्य निर्णय तथा वर्त्तमान राजनैतिक क्षेत्रमें हिन्दुजातिके कर्त्तव्यका दिग्दर्शन कराया गया है। अन्तके दो प्रबन्धोंमें समग्र धर्मकल्पद्रुममें वर्णित विषयोंका यथासम्भव सार तथ्य बता देनेका प्रयत्न किया गया है। इस प्रकारसे अष्टम काण्डके प्रकीर्ण विषय समाविष्ट हुए हैं।

विषयोंके अतिरिक्त एक 'उपसंहार' भी लिखा गया है, जिसमें धर्मकल्पद्रुमकी उदार नीति तथा लोकप्रियताके कारण दिखाये गये हैं। पञ्चमखण्डके विज्ञापनमें

धर्मकल्पद्रुमके साथ एक 'आध्यात्मिक कोष' देनेकी सूचना कर दी गई थी। किन्तु इसकेलिये एक स्वतन्त्र बृहत्कोषग्रन्थ प्रस्तुत करनेका ही विचार हो रहा है, अतः धर्मकल्पद्रुममें आध्यात्मिक कोष सन्निवेशित करनेका विचार छोड़ दिया गया।

जगद्यन्त्रके जीवनस्वरूप, निखिल-कल्याणनिलय, विश्वनियन्ता श्रीविश्वनाथके राजीवचरणोंमें वार वार विनीत प्रणाम है, कि उनकी परमकृपासे इतने वर्षोंके बाद यह विशाल ग्रन्थ उत्तरोत्तर सफलताके साथ समाप्त हुआ। ओं शान्तिः।

श्रीकाशीधाम
माघी पूर्णिमा
सं० १९८५ वि०

(स्वामी) दयानन्द

विषय-सूची ।

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

—:•:—

ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

अष्टम खण्ड ।

अष्टम काण्ड ।

गो-महिमा ।

—:०※०:—

गमनार्थक गम् धातुसे योगरूढ़ शब्द 'गो' बनता है। इसके द्वारा कर्तृ-वाच्यमें 'जो जाता है वह गऊ' यह अर्थ और करणवाच्यमें जिसके द्वारा अर्थात जिसको वाहन बनाकर मनुष्य तथा देवतागण जाते हैं तथा जिसको दान करके पुण्यफलसे स्वर्गमें जीव जा सकता है, यही अर्थ निकलता है। इस अपूर्व जातिकी उत्पत्ति कहाँसे हुई इस विषयमें पुरुषसूक्तमें लिखा है—"गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाताः अजावयः' ब्रह्ममययज्ञसे प्रथम गऊ प्रकट हुई और तदनन्तर बकरे और भेड़ उत्पन्न हुए। सुरभि, नन्दिनी इस जातिकी आदिमाता कही जाती है। यथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-प्रकृतिखण्डमें—

> गवामधिष्ठात्री देवी गवामाद्या गवां प्रसुः ।
> गवां प्रधाना सुरभिर्गोलोके सा समुद्भवा ॥

गउओंकी अधिष्ठात्री देवी, आदिजननी, सर्वप्रधाना सुरभि है, उनका उत्पत्ति-स्थान गोलोक है। समुद्रमन्थनके समय लक्ष्मीके साथ सुरभि भी प्रकट हुई थी, ऐसा प्रमाण भी शास्त्रोंमें मिलता है।

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः ।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ॥

यह गोग्रासका मन्त्र है, इसमें भी सुरभिको गोजातिकी आदिजननी कहा गया है। इस प्रकारसे दैवजगत्‌के साथ गोजातिकी उत्पत्तिका सम्बन्ध आर्यशास्त्रमें बताया गया है।

आर्यशास्त्रमें गोजातिका स्थान बहुत ऊँचा है। आर्यशब्दकी उत्पत्ति ही 'ऋ' धातुसे हुई है, जिससे कर्षण या कृषिकार्यके साथ आर्यजातिका सम्बन्धसिद्ध होता है। कृषिकार्य गोजातिके बिना चल नहीं सकता। अतः आर्यजातिके साथ गोजाति-का नित्य सम्बन्ध है। 'दोहन' से ही 'दुहिता' शब्द बना है। आर्यबालिकाएँ गोदोहन करतीं थीं। अतिप्राचीन ऋग्वेदमें लिखा है—

'गोर्मे माता ऋषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा ।

गाय मेरी माता और ऋषभ पिता हैं, वे इहलोक परलोकमें सुख, मङ्गल तथा प्रतिष्ठा प्रदान करें।

वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः ।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या, स मां रक्षतु सर्वदा ॥

वृष ही भगवान् चतुष्पाद-पूर्ण धर्म है। उन्हें वरण करता हूँ। वे सर्वदा मेरी रक्षा करें। इस मन्त्रद्वारा श्राद्धमें वृषकी स्तुति की जाती है।

या लक्ष्मीः सर्वभूतानां या च देवेष्ववस्थिता ।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु ॥
विष्णोर्वक्षसि या लक्ष्मीर्या लक्ष्मीर्धनदस्य च ।
या लक्ष्मीर्लोकपालानां सा धेनुर्वरदास्तु मे ॥
देहस्था या च रुद्राणी शंकरस्य च या प्रिया ।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु ॥
चतुर्मुखस्य या लक्ष्मीः स्वाहा या च विभावसोः ।
चन्द्रार्कऋक्षशक्तिर्या सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे ॥
सर्वदेवमयीं दोग्ध्रीं सर्ववेदमयीं तथा ।
सर्वलोकनिमित्ताय सर्वलोकमपि स्थिरम् ॥

प्रयच्छामि महाभागामक्षयाय शुभाय ताम् ।

जो देवी सकल भूतोंमें लक्ष्मीरूप है तथा सकल देवताओंमें अवस्थित है, वह धेनुरूपमें मुझे शान्ति देवे। जो देवी लक्ष्मीरूपसे विष्णुहृदयमें, कुवेर तथा लोकपालोंमें विराजमान है वह धेनुरूपमें मुझे वरदान करे। जो देवी देहमें रुद्राणी तथा शंकरप्रिया है वह धेनुरूपमें मुझे शान्तिप्रदान करे। जो ब्रह्माकी लक्ष्मी, अग्निकी स्वाहा और चन्द्र, सूर्य ताराओंमें शक्ति है वही देवी धेनुरूपमें मेरी वरदात्री हो। सर्वदेवमयी, सर्ववेदमयी, दुग्धदात्री देवीको समस्त लोकोंकी अक्षयकल्याणकामनासे दान करता हूँ। इस स्तुतिके अक्षर अक्षरमें गोमाताकी अलौकिक महिमा दर्शायी गई है। और भी—अग्निपुराण २९२ अ० :—

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति ॥
यत्र वेदध्वनिध्वान्तं यत्र गोभिरलंकृतम् ।
यत्र वालैः परिवृतं श्मशानमेव तत् गृहम् ॥

ब्राह्मण और गऊ एक ही कुलके ये दो हैं, एकमें वेदमन्त्र और दूसरेमें यज्ञीय हविका स्थान है। जो मकान वेदके शब्दसे गूँजता नहीं, गऊओंसे सुशोभित होता नहीं और बालगोपालोंसे भरा रहता नहीं, वह श्मशान है। अग्निपुराणके २९२ अध्यायमें गऊके विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा गया है यथा—

शकृन्मूत्रं परं तासामलक्ष्मीनाशनं परम् ।
गवां कण्डूयनं वारि शृङ्गस्याघौघमर्दनम् ॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिश्च रोचना ।
षडङ्गं परमं पाने दुःस्वप्नादिनिवारणम् ॥
गवां श्वासात् पवित्रा भूः स्पर्शनात् किल्विषक्षयः ।
गोमूत्रं गोमयं सर्पिः क्षीरं दधि कुशोदकम् ॥
एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ।
त्र्यहमुष्णं पिवेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं घृतं पिवेत् ॥
त्र्यमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम् ।
तप्तकृच्छ्रव्रतं सर्वपापघ्नं ब्रह्मलोकदम् ॥

शीते तु शीतकृच्छ्रं स्याद् ब्रह्मोक्तं ब्रह्मलोकदम् ।
गोमूत्रेणाचरेत् स्नानं वृत्तिं कुर्याच्च गोरसैः ॥
गोभिर्व्रजेच्च भुक्तासु भुञ्जीताथ च गोव्रती ।
मासेनैकेन निष्पापो गोलोकी सगणो भवेत् ॥
विद्यां च गोमतीं जप्त्वा गोलोकं परमं व्रजेत् ।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं परम् ॥
अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम् ।
पावनं सर्वभूतानां क्षरन्ति च वहन्ति च ॥
हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान् दिवि ।
ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमेषु योजिताः ॥
सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम् ।
गावः पवित्रं परमं गावो मांगल्यमुत्तमम् ॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ॥

गोमय, गोमूत्रसे अलक्ष्मी नाश और कण्डूयन तथा सींगके जलसे पापनाश होता है। गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और गोरोचन—यह षड्ङ्ग पान उत्तम तथा कुस्वप्न नाशक है। गायके श्वाससे भूमि पवित्र और स्पर्शसे पापक्षय होता है। एक रात उपवास करके गोमूत्र, गोमय, दूध, दही, घृत और कुशोदक पीनेसे चण्डाल भी पवित्र हो जाता है। तीन दिनों तक गर्म गोमूत्र, तीन दिन गर्म घी, तीन दिन गर्म दूध और तीन दिन वायुभक्षण कर तप्तकृच्छ्र व्रताचरण करनेसे पापनाश तथा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। ये ही सब शीतल सेवन करनेसे शीतकृच्छ्र व्रत होता है, जिसका फल भगवान् ब्रह्माने ब्रह्मलोकवास बताया है। गोमूत्रसे स्नान, गोरससे जीवन धारण, गौओंके साथ गमन तथा उनके भोजनके बाद भोजन करनेसे गोव्रत होता है। एक मास गोव्रत करनेसे सकुटुम्ब गोलोकवास होता है। गोमती विद्याके जपसे भी गोलोक वास होता है। सकल जीवकी प्रतिष्ठा गऊमें ही है, परममङ्गलका निदान गऊमें ही है, श्रेष्ठ अन्न गऊमें ही है। देवताओंका भी सुखाद्य गऊमें ही है। त्रिलोकपवित्रकर अन्नको गऊ ही बहाती है और स्वर्ग में भी देवताओंको तृप्त करती है। ऋषियोंके अग्नि-

होत्र तथा हवनमें गायही सेवा करती है, गाय ही सकल भूतोंकी शरण है। गाय परम पवित्र, परम मंगलमयी, स्वर्गकी सोपान और चिरन्तनी धन्य माता है। श्रीभगवान् मनुने गोदानका फल लिखा है यथा—

'अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्' (अ० ४,श्लो० २३१)

बैलका देनेवाला प्रचुर सम्पत्ति और गायका देने वाला सूर्यलोक प्राप्त करता है। पराशरसंहितामें लिखा है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यन्तु पवित्रं पापनाशनम् ॥
गोमूत्रं कृष्णवर्णायाः श्वेताया गोमयं हरेत् ।
पयश्च ताम्रवर्णाया रक्ताया दधि चोच्यते ॥
कपिलाया घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेव वा ॥ (अ. ११श्लो. २७-२९)

गोमूत्र, गोमय, दूध, दही, घृत और कुशाका जल—यह पञ्चगव्य पवित्र तथा पापनाशक है। काली गायका गोमूत्र, श्वेत गायका गोमय, तामेके रङ्गकी गायका दूध, लाल गायकी दही, और कपिला गायका घृत लेना चाहिये। पाँच रङ्गकी गाय न मिले तो केवल कपिला गायसे ही सब लिया जा सकता है। विष्णुसंहितामें लिखा है—

गावो वितन्वते यज्ञं गावः सर्वाघसूदनाः ।
शृङ्गोदकं गवां पुण्यं सर्वाघविनिसूदनम् ॥
गवां कण्डूयनं चैव सर्वकल्मषनाशनम् ।
गवां ग्रासप्रदानेन स्वर्गलोके महीयते ॥
गवां हि तीर्थे वसतीह गङ्गा,
पुष्टिस्तथासां रजसि प्रवृत्ता ।
लक्ष्मीः करीषे प्रणतौ च धर्म-
स्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात् ॥ (अ० २३ श्लो० ५८-६१)

यज्ञविस्तार तथा पापनाश गायके द्वारा होता है, गायका शृङ्गजल पुण्यप्रद और पापनाशक है। गायका कण्डूयन सकलपापनाशक है। गोग्रासदान करनेपर स्वर्गलोकमें पूजित होता है। गो-निवास-स्थानमें गङ्गा बसती हैं, उन-

की धूलिमें पुष्टि विद्यमान है, उनके शुष्क गोमयमें लक्ष्मी तथा प्रणाममें धर्म विराजमान है, अतः गोमाता सदा प्रणाम करने योग्य है। वृहद्धर्मपुराण; उत्तरखण्डमें लिखा है—

यावद् गोब्राह्मणाः सन्ति तावत् पृथ्वी च सुस्थिरा ।
तस्मात् पृथ्वीरक्षणार्थं पूजयेद् द्विजगोसतीः ॥
स्त्रियो गावो ब्राह्मणाश्च पृथिव्यां मंगलत्रयम् ।
एतेषां द्वेषकृद् यस्तु स मङ्गलपरिच्युतः ॥

जब तक पृथिवीपर गौ और ब्राह्मण है, तभी तक पृथिवी सुरक्षित है, इसलिये पृथिवी रक्षाके अर्थ ब्राह्मण, गौ और सती स्त्रीकी पूजा करनी चाहिये। पृथिवीमें सती स्त्री, गौ और ब्राह्मण ये तीन मङ्गलरूप हैं, इनके प्रति जो द्वेष करता है उसका मङ्गल नष्ट होता है। देवीपुराणके १०७ अध्यायमें लिखा है—

"ज्ञानशक्तिः क्रिया धेनुर्देव्या रूपा प्रकीर्तिता ।"

ज्ञानशक्ति, क्रिया और गाय ये तीन देवी दुर्गाके रूप हैं। भविष्यपुराणमें लिखा है—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः ।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः ॥
नागाः पुच्छे खुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः ।
मूत्रे गङ्गादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ ॥
एते यस्यास्तनौ देवाः सा धेनुर्वरदास्तु मे ॥

गोमाताके पृष्ठ देशमें ब्रह्माका स्थान, गल देशमें विष्णुका स्थान और मुखमें रुद्रका स्थान है। बीचके अवयवों समस्त देवता और रोमकूपमें महर्षिगण बसते हैं। पुच्छमें अनन्तनाग, खुराओंमें कुलपर्वत, मूत्रमें गङ्गादि नदियाँ और नेत्रोंमें चन्द्र, सूर्य हैं। ऐसी अनन्त देवमयी माता वरदा बने। देवीपुराणके ११० अध्यायमें लिखा है—

'गोस्पर्शनमायुर्वर्द्धनानाम्'

आयु बढ़ानेवाले कार्योंमेंसे गायका स्पर्श एक उत्तम कार्य है, जिससे आयु बढ़ती है। विष्णुपुराण पञ्चम अंश पञ्चम अध्यायमें लिखा है—

आदाय कृष्णं सन्त्रस्ता यशोदाऽपि द्विजोत्तम।
गोपुच्छं भ्राम्यन् हस्तेन बालदोषमपाकरोत् ॥
गोः करीषमुपादाय नन्दगोपोऽपि मस्तके।
कृष्णस्य प्रददौ रक्षां कुर्वंश्चेतदुदीरयन् ॥

पुतनाबधके अनन्तर त्रस्त यशोदाने श्रीकृष्णको गोदमें लेकर उनकी चारों ओर गोपुच्छ घुमाया और बालदोष दूर किया। नन्दगोपने भी शुष्क गोमय उनके मस्तक पर रक्खा और रक्षामन्त्रका पाठ किया। और भी लिखा है—

करीषभस्मदिग्धाङ्गौ भ्रममाणावितस्ततः।
न निवारयितुं शेके यशोदा न च रोहिणी ॥

[विष्णुपु० ६ अं० ६ अ०]

श्रीकृष्ण और बलराम अपने शरीरमें गोमय तथा उसका भस्म लगा कर घूमते थे, यशोदा या रोहिणी मना नहीं कर सकतीं थीं। बृहद्धर्मपुराण १५ अध्यायमें लिखा है—

विप्राणां चरणौ तीर्थौ गवां पृष्ठं तथा मतम्।
एते यत्र हि तिष्ठन्ति तच्च तीर्थमुदाहृतम् ॥

ब्राह्मणोंके चरणमें तीर्थ और गौओंके पीठमें तीर्थ हैं। वे जहाँ ठहरें वह भी तीर्थ माना जाता है। और भी—

गङ्गातटे गवां चैव दर्शने स्यान्महाफलम्।

[बृह० मध्यखण्ड १८ अ०]

यात्राकाले सवत्सां च धेनुं दृष्ट्वा सुखं व्रजेत्।

[बृह० उत्तर ख० ६ अ०]

पुरा स्वयम्भुर्भगवान् सृजन् लोकान् स्वशक्तितः।
प्रीत्यर्थं सर्वभूतानां गावः सृष्टा द्विजोत्तम ॥

[बृह० पु०]

ब्राह्मणं च स्त्रियो गाश्च पुष्पेनापि न ताडयेत्।

[बृह० उ० २ अ०]

गवां सेवा तु कर्त्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्द्धतेऽचिरात् ॥

ताडनं म्रियतां वाक्यं स्पर्शनं तालपत्रतः ।
पदाघातं भक्ष्यरोधं वर्जयेद् गोषु मानवः ।
[वृह० उ० ६ अ०]

आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं रजसा गवाम् ।
[सौर० पु० १८ अ०]

धावन्तीं गां परक्षेत्रे न चाचक्षीत कस्यचित् ।
[सौर० पु० १८ अ०]

गवां ग्रासप्रदानेन मुच्यते सर्वपातकैः ।
[सौर० पु० १० अ०]

मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम् ।
[महाभारत अनुशासन पर्व ८२—१]

गङ्गातटपर गायके दर्शनसे महाफल लाभ होता है। यात्राके समय सवत्सा गायको देखनेसे यात्रा अच्छी होती है। पुराकालमें लोकसृष्टिके बाद स्वयम्भु भगवान्ने सबकी तृप्तिके लिये गायकी सृष्टि की। ब्राह्मण, स्त्री और गायको पुष्प से भी ताड़ना नहीं चाहिये। पुण्य चाहनेवाले गृहस्थको गोसेवा अवश्य करनी चाहिये। इससे शीघ्रही श्रीकी प्राप्ति होती है। ताड़न, 'मर जा' यह कहना ताड़के पत्तेसे छूना, पांवसे मारना' भूखा रखना यह सब गौके लिये वर्जनीय है। भस्म लगानेपर आग्नेय स्नान और गोधूलि लगानेपर वायव्य स्नान होता है। दूसरेके खेतमें चरती हुई गायको मना नहीं करना चाहिये। गोग्रास देनेसे सकल पापसे छुटकारा होता है। गोमयमें समस्त लक्ष्मी विद्यमान हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वमें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्की भी उक्ति है :—

गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावना जगदुत्तमाः ।
ऋते दधिघृताभ्यां च नेह यज्ञः प्रवर्त्तते ॥
पयसा हविषा दध्ना शकृताऽप्यथ चर्मणा ।
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति वालैः शृङ्गैश्च भारत ॥
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाऽच्युत ॥
कीर्त्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।

गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं परम् ॥
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम् ।
विराजयते तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥

गौवें सर्वश्रेष्ठ, स्वयं पवित्र तथा पवित्र करनेवाली और संसारभरमें सबसे उत्तम हैं, क्योंकि गायके दही तथा घृतके बिना यज्ञकार्य नहीं होता है। हे अर्जुन! गौवें दूधसे, घृतसे, दहीसे, गोबर तथा चमड़ेसे, हड्डियों, बालों और सींगोंसे हमारा उपकार करती हैं। गोधनके तुल्य और कोई भी धन नहीं है। गौओंका महिमाकीर्त्तन, महिमाश्रवण, गोदान, गोदर्शन, सकल पापोंको दूर करता है। गौवें लक्ष्मीरूपिणी हैं, उनमें कोई भी पाप नहीं है, वे सकल जीवोंकी माता तथा सकलसुखदायिनी हैं। जिस भूमिपर स्थित हो गऊ भय छोड़कर श्वास लेती है, उसकी शोभा बढ़ती है और वहाँसे पाप हट जाता है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक कथा आती है कि समस्त देवताओंके अंशको लेकर भगवान् ब्रह्माने गौमाताकी सृष्टि की। गङ्गादेवीको शिव-जटासे आनेमें और लक्ष्मी देवीको नारायण छोड़ आनेमें थोड़ी देर लगी। तबतक गौमाताका समस्त शरीर देवताओंसे भर गया था, खाली जगह कोई भी न मिली। इन दोनों देवियोंने भगवती गोमाताके शरीरमें स्थानलाभार्थ मातासे बहुत ही प्रार्थना की। माताने कहा और तो कोई स्थान खाली नहीं है, केवल मूत्र और पुरीष बाकी है, इच्छा हो तो उसमें स्थान ले सकती हैं। 'तथास्तु' कहकर अतिप्रसन्नताके साथ गङ्गा-देवीने गोमूत्रमें और लक्ष्मीदेवीने गोमयमें स्थान ले लिया। दूसरी कथा उसी पर्वमें यह है—एकबार महाराजा नहुष भृगुवंशीय महर्षि च्यवनका मूल्य निर्धारण करने लगे, और उन्हें उनके मूल्यरूपमें धीरे धीरे हजार, लाख तथा करोड़ रुपये तक देने लगे। किन्तु जब महर्षिने कहा कि यह भी उनके योग्य मूल्य नहीं है तो महाराजा आधा राज्य और अन्तमें समूचा राज्य देनेको तैयार हो गये। उसपर भी महर्षिने कहा कि यह भी उनका उपयुक्त मूल्य नहीं हुआ। अन्तमें महाराजाने जब महर्षिका मूल्य एक गाय निर्धारित किया तब प्रसन्नताके साथ उन्होंने स्वीकार किया। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें गोजातिको उच्चस्थान दिया गया है।

इसका कारण क्या है? इसका एक ही कारण है कि जिसप्रकार 'अश्वत्थः सर्व-वृक्षाणां' बीस लक्ष वृक्षयोनिमें अश्वत्थ वृक्षयोनि ही अन्तिम और इस हेतु सर्वश्रेष्ठ

है, उसी प्रकार 'चतुरशीतिलक्षान्ते गोजन्मा तत्परं नरः' ऐसा कहकर तत्त्वदर्शी महर्षियोंने पशुयोनिमें गोजन्मको ही अन्तिम जन्म बताया है। प्रकृतिके त्रिगुणमय तीन प्रवाहके अनुसार जरायुज पशुओंमें तमोगुणकी अन्तिम योनि वानरकी, रजोगुणकी अन्तिमयोनि सिंहकी और सत्त्वगुणकी अन्तिम योनि गायकी होती है, अतः गोजातिमें सत्त्वगुण और सात्त्विकशक्तिकी अधिकता होनेसे सत्वगुणप्रिय धर्मप्राण आर्यजातिने गोमाताकी देवीवत् पूजा की है, सर्वश्रेष्ठ स्थान उन्हें दिया है। अब विचार करनेकी बात यह है कि लौकिक जगत्में इस सात्विकता तथा शक्तिमत्तासे क्या क्या लाभ हमें प्राप्त होता है। नीचे क्रमशः इसीका तत्त्वनिरूपण किया जायगा। मनुसंहितामें लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है, उससे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। आहुति गव्य घृतकी हुआ करती है, भैंसी आदिके घृतसे हवन करना शास्त्रविरुद्ध है। अतः गोमाताकी रक्षाके बिना यज्ञकार्य निष्फल होगा, जिससे अन्नका अभाव होकर देशमें दुर्भिक्ष फैल जायगा और प्रजाकी उत्पत्ति भी रुक जायगी यह निश्चय है। द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धिके बिना यज्ञकर्ममें सफलता नहीं होती है। बल्कि कहीं कहीं विपरीत फल भी हो जाता है 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा" इत्यादि महाभाष्यवचन प्रसिद्ध ही है। द्रव्यशुद्धिमें घृतआदि यज्ञीय द्रव्यका ग्रहण होता है। क्रियाशुद्धिमें वेदानुकूल क्रियाका ग्रहण होता है और मन्त्रशुद्धिमें वैदिक मन्त्रोंके शुद्ध उच्चारणका ग्रहण होता है। अतः अन्न तथा प्रजाकी रक्षाके लिये गोजातिकी परम आवश्यकता होनेके कारण आर्यशास्त्रमें गोमहिमा विशेषरूपसे बताई गई है। जैसा कि पहिले कहा गया है—

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति॥

ब्राह्मण और गौ गुणविचारसे एक ही कुलके ये दोनों होते हैं, क्योंकि वेदमन्त्रके लिये ब्राह्मण और यज्ञीय हविकेलिये गायकी उत्पत्ति होती है। अतः संसारकी रक्षा, प्रजाकी उन्नति, अन्नकी वृद्धि सभीके लिये गौ और ब्राह्मणकी विशेष आवश्यकता है।

संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके सभी अङ्गसे कुछ न कुछ उपकार प्राप्त होता है। केवल गौ ही ऐसा जीव है, जिसके सभी अङ्ग किसी न किसी अच्छे काममें

आते हैं। भैंसीमें दूध देनेकी शक्ति गायकी अपेक्षा अधिक अवश्य है, किन्तु भैंस तमोगुणी होनेसे मृत्युका वाहन और गौ सत्त्वगुणी होनेसे शङ्कर भगवान्का वाहन है। इसकारण भैंसीके दूधमें तमोगुणका प्रभाव है, इसके पीने से ब्रह्मचर्यकी रक्षा नहीं होती है। कामादि पशुभावकी वृद्धि होती है। मनबुद्धि सभी मोटी हो जाती है। शरीर जड़ताग्रस्त हो जाता है। किन्तु गव्यामृत अमृत ही कहलाता है। इसमें ब्रह्मचर्यरक्षा, मनः संयम, बुद्धिकी स्फूर्त्ति, शारीरिक नीरोगता, आत्माकी उन्नति आदि सभी कुछ सात्त्विकभाव प्रदानकी शक्ति विद्यमान है। दही, तक्र, मक्खनमें जो धातुपुष्टकारी अजीर्ण-नाशकारी मस्तिष्कके बल वृद्धिकारी अपूर्व गुणावली है, उसको तो आज कलके डाक्टरी सायन्सने भी प्रमाणित कर दिया है। गव्यघृत वेदमें "आयुर्वैघृतम्" अर्थात् प्राणियोंके प्राणरूप करके वर्णन किया गया है। "हैयङ्गवीन" अर्थात् ताजे बनाये हुये घृतकी भूरि-भूरि प्रशंसा आयुर्वेदमें देखने में आती है। इस प्रकारसे गोदुग्ध तथा उससे उत्पन्न घृतादिकी महिमा शास्त्रमें बताई गई है।

सभी जीवोंके विष्टा मूत्रको अपवित्र समझ कर लोग उससे घबड़ाते हैं और दूर रहते हैं। केवल गौके विष्टा मूत्रमें ही ऐसी शक्ति है कि समस्त अपवित्रता उसके द्वारा दूर हो जाती है, महाभारत अनु० ८२-१ में लिखा है—

"मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम्"

अर्थात् गोमयमें समस्त लक्ष्मी विद्यमान है यही शास्त्रका सिद्धान्त है।

महापातक, उपपातक, अनुपातक सभी पापोंके प्रायश्चित्तके समय पञ्चगव्य पानका प्रथम विधान है, जिसके बिना प्रायश्चित्त ही वृथा हो जाता है। इससे अधिक पवित्रकारिणी शक्ति और क्या बताई जा सकती है। अस्पृश्य स्पर्श आदि दोषोंसे शालिग्राम शिला आदिके अपवित्र हो जानेपर भी पञ्चगव्यके द्वारा ही उनकी शुद्धि की जाती है। अतः देवताओंकी भी पवित्रतादायिनी गाय ही है। बिना गोग्रास दिये कोई भी प्रायश्चित्त सफल नहीं होता है। बिना गोदान किये कोई भी सकाम कर्म सिद्ध नहीं होता है। "वायव्यं गोरजः स्नानम्" गौमाताकी चरण धूलिमें भी स्नानकी पवित्रता देनेकी शक्ति है। मृत्युके बाद भी गायकी ही पूँछ पकड़कर वैतरणी पार हो परलोकगत जीव सुखमयलोकमें पहुँच सकता है। अतः इहलोक परलोक सर्वत्र ही गौमाता मनुष्योंके उन्नतिपथकी साथी है।

आयुर्वेद-शास्त्रमें गोमूत्र और गोमयकी शतमुखसे प्रशंसा लिखी गई है। गोमय-में बिजलीके रोक देनेकी अद्भुत शक्ति है, इसकारण पर्वतीयलोग वर्षात्-से पहिले

अपने मकानको गोबरसे लीपकर दरवाजे पर गोमयके यन्त्र बनाये रखते हैं। ऐसा वङ्गादि देशके लोग भी करते हैं। पश्चिमी सायन्सवालोंने यह बात निश्चय करके जान ली है कि बीमारियोंके कीट उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति (antiseptic) जितनी गोबरमें है इतनी और किसी वस्तु में नहीं है। इसलिये घरको गोबरसे लीपना और सब उपायों-से अच्छा समझा गया है। पेटके समस्त रोग, सकल प्रकारके धातुरोग, नेत्ररोग तथा हृदयरोग आराम करनेकी अद्भुत शक्ति गोमूत्रमें विद्यमान है। नियमित गोमूत्रपानसे दमेकी बीमारी बिल्कुल अच्छी हो जाती है, और नेत्रमें ज्योति बहुत ही बढ़ जाया करती है। नन्दिनीके मूत्रको आँखमें लगाकर रघुराज दिव्यनेत्र हो गये थे और इन्द्रके रथको तथा इन्द्र और अश्वको देख लिया था यह बात शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। धातु-दौर्बल्य, शुक्रतारल्य, प्रमेह, मधुमेह आदि समस्त रोग गोमूत्रपानसे अच्छे होते हैं। अजीर्ण, तिल्ली तथा यकृत्की खराबी, उदरामय, आँव आदि सभी उदरके रोग गोमूत्र-पानसे दूर हो जाते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे आयुर्वेदमें गोमूत्र द्वारा शोधन करके कितनी ही औषधियोंके बनानेकी विधि बताई गई है। महाभारतके अनुशासनपर्वकी कथा पहिले ही कही गई है कि, अतिप्रसन्नताके साथ गङ्गादेवीने गोमूत्रमें और लक्ष्मी-देवीने गोमयमें स्थान लिया है। इस कथाके द्वारा गोमहिमाकी पराकाष्ठा तथा गोमूत्र और गोमयकी परमोपकारिता बताई गई है। वास्तवमें गोमूत्रमें वे सब गुण हैं जो कि, गङ्गाजलमें पाये जाते हैं। गङ्गाजलकी कीटनाशिनी शक्ति, गङ्गाजलकी उदररोगादि नाशशक्ति, गङ्गाजलकी पवित्रतादायिनी शक्ति, गङ्गाजलकी मलिनतानाशशक्ति, गङ्गा-जलकी दिव्य तेजदायिनीशक्ति ये सभी शक्ति गोमूत्रमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। प्रसूता-स्नात स्त्रीको जो गोमूत्रपान करनेकी आज्ञा धर्मशास्त्रमें दी गयी है, इसमें यही कारण है कि, प्रसूता स्त्रीके उदरमें जमे हुए समस्त मलको गोमूत्र साफकर निकाल देता है और गर्भाशयको बिलकुल शुद्ध बना देता है। अन्यथा प्रसूताको विषमज्वर, अम्लपित्त कुक्षिगलन आदि कठिन कठिन रोग उत्पन्न हो सकते हैं। गोमयको 'श्रिया जुष्टम्' कहकर लक्ष्मीका स्थान तो पहिले ही कह दिया गया है और उसमें लक्ष्मी बुलानेकी अद्भुत-शक्ति तथा नैरोग्यप्रदायिनी समस्त शक्ति पहिले ही प्रतिपादित की गई है। अतः महाभारतकी यह आख्यायिका अक्षरशः सत्य प्रमाणित होती है।

गोमातामें खास दो शक्तियाँ होती हैं, एकचेचक रोगनाश और दूसरा अपुत्रको पुत्र देनेकी शक्ति। भारतके किसी प्रान्तमें भीषण महामारीरूपसे चेचक फैल जानेके समय एक अङ्गरेजने अपनी आँखों जाँच करके देखा था कि जिन जिन ग्रामोंमें अहिरलोग बसते थे और गौके थनोंमें हाथ लगाकर अपने हाथ दूध दुहा करते थे, उन

ग्रामोंमें चेचक नहीं फैला। इसी अपूर्व तत्त्वके जान लेनेके बाद ही गोबीजसे (Vaccination) टीका देकर चेचक रोगसे बचनेकी प्रथा चली। यह गोमातामें अपूर्वशक्ति है। उनमें दूसरी अपूर्वशक्ति सन्तान प्रदान करनेकी है। तन, मन, धनसे गोसेवा करनेपर वन्ध्या भी पुत्रवती होती है, अपुत्रक भी पुत्ररत्न लाभ किया करता है। गोमाता स्वभावत: ही सबकी जननी है और जननीसे भी बढ़कर है। क्योंकि अपनी माताके बीमार होनेपर या अन्त:सत्ता अथवा प्रसव होनेपर पहिली सन्तानके लिये उनका दूध पीने-योग्य नहीं रहता है। उस समय गोमाता ही सच्ची माता बनकर दूधपोष्य शिशुका पालन करती है। उत्तमोत्तम अन्न भोजन करनेवाली मातासे जो पालन कार्य नहीं होता है, तृणभोजी गोमाता वह भी काम सानन्द सम्पादन करती है। अपने बच्चेको बुभुक्षु रखकर भी मनुष्य-सन्तानोंको बिना संकोच दूध देकर प्रतिपालन करती है और यही पालन बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त बल्कि मृत्युके बाद भी पिण्डदानके समय तक करती रहती है। इन्हीं उदार हेतुओंसे सन्तानोत्पत्तिके साथ गौमाताका स्वाभाविक सम्बन्ध है, और इन्हीं कारणोंसे गोसेवाद्वारा सुपुत्र लाभ हुआ करता है। महाराजा दिलीपको इसीलिये वशिष्ठ महर्षिने नन्दिनीकी सेवा द्वारा ही पुत्ररत्नलाभकी आज्ञा की थी, और इसी नन्दिनीकी कृपासे ही महर्षि वशिष्ठने ससैन्य विश्वामित्रका प्रचुर आतिथ्य किया था और उनके साथ संग्राममें भी विजय लाभ किया। महाभारतमें लिखा है कि,—

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयते तं देशं पापं चास्यापकर्षति॥

जिस भूमिपर बैठकर गऊ भय छोड़कर श्वास लेती है, उसकी शोभा बढ़ती है और वहाँसे पाप हट जाता है। दैवी सम्पत्तिकी खान होनेसे गौओंमें पापनाशकी विशेषशक्ति विद्यमान है। गौके सभी शरीरमें दैवीशक्तिके केन्द्र विद्यमान हैं, जैसा कि भविष्यपुराणमें 'पृष्ठे ब्रह्मा' आदि श्लोकोंद्वारा कहा गया है। गौमाताके पृष्ठदेशमें ब्रह्माका केन्द्र, गलदेशमें विष्णुशक्तिका केन्द्र, मुखमें रुद्रशक्तिका केन्द्र, बीचके देहमें समस्त देवताओंके केन्द्र, रोम रोममें महर्षियोंके केन्द्र होते हैं। उनके नेत्रोंमें चन्द्र-सूर्यशक्ति, मूत्रमें भागीरथीकी शक्ति और पुच्छमें नागराजकी शक्ति होती है। इतनी दैवीशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके केन्द्र होनेसे अनेक फल गोसेवा द्वारा प्राप्त होंगे, इसमें सन्देह नहीं। यदि तैंतीस करोड़ देवताकी पूजाके बदले कोई गोमाताकी पूजा करेगा तो इष्टसिद्धि अवश्य होगी। क्योंकि गोमाताके शरीरमेंही सब देवता हैं, उन्हें दैवीशक्ति प्रचुर प्राप्त होगी

जिससे आसुरीशक्तिका अत्याचार उनपर नहीं हो सकेगा। उनका शरीर, मन, जितेन्द्रियता सब कुछ बना रहेगा, यह निश्चय है। ऋषिशक्तिका केन्द्र होनेसे गोसेवाद्वारा बुद्धिकी उन्नति और ज्ञानका लाभ अवश्यम्भावी है। गङ्गास्नानमें जितना फल है, लक्ष्मीपूजनमें जितना फल है, विष्णुपूजा शिवपूजामें जितना फल है, सभी केवल गोसेवा, गोपूजाद्वारा प्राप्त हो सकेगा। स्थूल विद्युत्शक्ति दैवीशक्तिका ही स्थूल विकाशरूप है। इसलिये विद्युत्शक्ति गोमाताके शरीरमें बहुत कुछ भरी रहती है। गौओंके शरीर, शृङ्ग, खुराके स्पर्शसे गोपूजा तथा गोचारणसे यह शक्ति प्राप्त होती है। "गावः कण्डूयनप्रियाः" इसलिये गौयें कण्डूयन पसन्द करती हैं। उनके शरीरमें कोई हाथ फेरे या खुजलावें तो उन्हें अच्छा लगता है। मनुष्योंके प्रति उनकी स्वाभाविक दया ही इसमें कारण है। यही कारण है कि गोव्रतमें शृङ्ग खुरा आदिका स्पर्श करके गोपूजनकी विधि बतायी गई है। और यही कारण है कि, श्रीभगवान् नन्दनन्दनने स्वयं गोचारण करके जगत्को गोमाताकेप्रति कर्त्तव्य बता दिया था। प्राचीनकालमें गोरक्षाके ऊपर ही नन्द, सुनन्द, महानन्द आदि उपाधि मिला करती थी। अतः सिद्धान्त यह निकला कि, घरमें जितनी गौवें रक्खी जायँगी घरकी स्थूल तथा दैवीशक्ति उतनी ही बलवती होगी, सन्तानोंका स्वास्थ्य वीर्य उतना ही पुष्ट होगा, घरकी शान्ति, सम्पत्ति उतनी ही वृद्धिगत होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। गौवें विद्युत्शक्तिकी पुञ्जरूपिणी (Calvani centre) हैं, सूक्ष्म दैवीशक्तिकी, व्यापक दैवीशक्तिकी साकार मूर्त्तिरूपिणी (epitome) हैं, इसी एक ही पिण्डमें ब्रह्माण्डकी सारी शक्ति सन्निविष्ट है। अतः गोसेवा न करनेवाले तथा गौओंको दुःख देनेवाले जैसे नराधम पापी और कौन होगा।

आर्यशास्त्रमें पञ्चपिताकी तरह पांच माता भी बताई गई हैं। यथा—

जननीजन्मभूमी च जाह्नवी वेदमातरः ।
सुरभी तत्र विज्ञेया पञ्चैते मातरः स्मृताः ॥

गर्भधारिणी माता, जन्मभूमि, गङ्गा, गायत्री और गाय ये पाँच माता होती हैं। विचार करनेपर प्रमाणित होगा कि इन पाँचोंमें गौमाता ही सबसे अधिक उपकार करनेवाली हैं। अपनी माता एक या दो वर्ष दूधसे बच्चेको पालती है, किन्तु गौमाता मरणपर्यन्त और उसके बाद भी हमारी सेवा करती है। जन्मभूमि अन्न उत्पन्न करके उसके द्वारा हमें पालती है, किन्तु गौके विना न अन्नोत्पादक यज्ञ ही हो सकता है और न कृषिकार्य ही हो सकता है। अतः यह माता गौमाताकी मुखापेक्षिणी हुई। गङ्गा माताके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि भगीरथ जब गङ्गाको लेने गये तो गङ्गाने पूछा कि अबतक कौन पापनाश करता था। भगीरथने उत्तर दिया कि गौमाता ही

पापनाश करती थी। इसपर गङ्गाजीने गौसे पुछवाया कि उनका पृथिवीमें आना गौमाता-को अप्रीतिकर तो नहीं होगा। गौमाताने शर्त लगाया "इस प्रतिज्ञा पर गङ्गा आ सकती हैं कि जब तक गौ जगतमें रहे तभी तक गङ्गा भी रहें जब गौ न रहे तो गङ्गाभी न रहें।" इस आख्यायिकासे गौमाताकी प्रधानता सिद्ध होती है। गायत्रीका जप भी 'गोमुखी' में करनेसे दश गुण अधिक फल मिलता है ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है। अतः पाँच माताओंमें गौमाता ही सर्वश्रेष्ठा सिद्ध हुई। इन्हीं कारणोंसे आर्यशास्त्रमें गोमाताको इतना ऊँचा स्थान दिया गया है।

अब नवीन सायन्सके विचारानुसार गोमाताकी उपकारिताका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। मनुष्यशरीरको नीरोग, पुष्ट, बलवान् तथा दीर्घकाल स्थायी रखनेके लिये जितने रासायनिक उपादानकी आवश्यकता होती है, गायके दूधमें वे सभी विद्यमान हैं। भिन्न भिन्न परिमाणसे जल, मक्खन, केसिन, अलूबुमिन, चीनी और लवण दोदुग्धमें रहते हैं। भैंसी, बकरी, भेड़ी आदिके दूधमें भी ये सब चीजें रहती हैं, किन्तु जिस परिमाणसे इन वस्तुओंके रहनेपर दूध, शरीर, मन, आत्माके लिये उपकारी हो सकता है, वह परिमाण श्रीभगवान्‌ने गोदुग्धमें विशेष विचारसे रक्खा है। यही कारण है कि अन्यान्य दूधोंकी अपेक्षा गोदुग्धमें सकल प्रकारकी शक्ति अधिक है। कृष्णा गायका दूध वायुनाशक, पीली गायका दूध वातपित्तनाशक, श्वेत गायका दूध गुरुपाक तथा श्लेष्मावर्द्धक और लाल गायका दूध वातनाशक है। बहुमूत्र, प्रमेह, मृगी आदि कितनी ही बीमारियोंमें गोदुग्ध रसायनकी तरह उपकारी है।

लेक्‌टिक् एसिड् बैक्‌ट्रिया नामक बीजाणुके द्वारा दूध दही हो जाता है, यह बीजाणु वायुमें घूमता रहता है, इसे पकड़कर दूधमें छोड़ देनेसे या ऐसे ही दहीको दहीमें मिला देनेसे दूध दही बन जाता है। यह बीजाणु शरीरके अन्तर्गत वार्द्धक्यलानेवाले बीजाणुको नष्ट कर देता है और शरीरको नीरोग तथा पुष्ट बना देता है। इस कारण दहीकी और खासकर गव्य दहीकी विशेष प्रशंसा शास्त्रमें पाई जाती है। 'हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते' हेमन्त, शीत और वर्षातमें दधि उपकारी होता है, शरत्, ग्रीष्म और वसन्तमें नहीं। वैद्य-शास्त्रके मतानुसार दही बलकारक, रुचिप्रद, पवित्र, अग्निवर्द्धक, स्निग्ध, पुष्टिकारक तथा वायुनाशक है। दहीका पानी क्लान्तिनाशक, बलकारक, कफनाशक, वातनाशक है। चीनी मिश्रित दही तृष्णा तथा दाहनाशक है। गुड़ मिला दही वातनाशक, वीर्यवर्द्धक, पुष्टिकर, तृप्तिजनक और गुरुपाक है। रातको दही नहीं खाना चाहिये "न रात्रौ दधि भुञ्जीत" किन्तु प्रयोजन होनेपर चीनी व पानी मिलाकर खाया जा सकता है।

मलाईके साथ या बिना मलाईके पानी मिले हुए दहीको मठा कहते हैं। और मलाई उतारे दहीको जल डालकर मथ डालनेसे उसे मथित कहते हैं। चतुर्थांश जलके साथ दहीको मथनेपर उसे तक्र और अर्द्धांश जलके साथ मथनेपर उसे उदश्वित कहते हैं। बहुत जल डालकर मथे हुए दहीको छाछ कहते हैं। वैद्यशास्त्रानुसार मठा और मथित, वायु और पित्तनाशक है। चीनी मिला हुआ दही महोपकारी रसायन है। तक्र धारक, कषाय, लघु, उष्णवीर्य, अग्नि उद्दीपक, शुक्रवर्द्धक, कफ और वायुनाशक है। ग्रहणी रोगीके लिये बहुत हितकर है। उदश्वित कफवर्द्धक, बलकारक और श्रान्तिनाशक है। छाछ शीतवीर्य, लघु, कफकारक, वायु-पित्त-श्रमनाशक है। नमक मिलानेसे अग्निवर्द्धक होता है। मठासेवकको रोग नहीं स्पर्श करता है। घी निकाला हुआ बड़ा ही लघु तथा हितकर है। वायुशान्तिके लिये सोंठ और सेंधा नमक मिला तक्र अच्छा है। पित्तनाशके लिये चीनी मिला हुआ मठा पीना चाहिये। हींग, जीरा और नमक मिला हुआ मठा वायुनाशक, रुचिकर, बलप्रद, अर्श अतिसार नाशक है। शीतकालमें, मन्दाग्निमें, वायुरोगमें और अरुचिमें मठा अमृत जैसा काम करता है। विषमज्वर, ग्रहणी, अर्श, मूत्राघात, भगन्दर, प्रमेह, अतिसार, गुल्म, शूल, कृमि इत्यादि रोगोंमें मठा बहुत ही उपकारी है।

दूधको उबालनेसे उसके ऊपर जो चिकना, गाढ़ा पदार्थ जम जाता है उसे मलाई कहते हैं। कच्चे दूधको शीतल स्थानमें रख देनेपर भी उसपर मलाई जम जाती है। किन्तु कच्चे दूधकी अपेक्षा उबाले दूधमें अधिक मलाई जमती है। दहीके ऊपर भी मलाई जमती है, जिसे दहीकी मलाई कहते हैं। वैद्यमतानुसार मलाई मधुर-रस, गुरुपाक, वीर्यवर्द्धक, वायु तथा अग्निनाशक है। उबाले हुए दूधमेंसे मलाई निकालकर बचे दूधको गाढ़ा करके उसमें मलाई मिलानेसे रबड़ी कहाता है। यह बहुत ही सुस्वादु तथा पुष्टिकर वस्तु है। मलाईसे लड्डू, पूरी आदि कितनी ही उपादेय वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

दूधको उबालकर खूब हिला डुलाकर पहिले उसे ठण्डा करना होता है। तदनन्तर उसे मथनेपर मक्खन तैयार होता है। दहीके मथनेपर भी और दूध या दहीकी मलाईके मथनेपर भी मक्खन बनता है। कच्चे दूधकी अपेक्षा गर्म किये दूधमें अधिक मक्खन निकलता है। आजकल यूरोपमें मक्खन निकालनेके अनेक यन्त्र बन गये हैं, जिनके द्वारा अनायास मक्खन निकाले जा सकते हैं। वैद्यशास्त्रके मतसे मक्खन पुष्टिकारक, बलकारक, अग्निवद्र्धक और बालक, वृद्ध सभीके लिये हितकारक है। मिश्री मिला मक्खन अति उत्तम, बलकारक रसायन है। इसके सेवनसे दुर्बल तथा कृश मनुष्य भी कुछ दिनोंमें बलवान् और स्थूलकाय बन सकता है। मक्खनको सिरपर मलनेसे

मस्तिष्क बलवान् और शरीरपर मलनेसे सुन्दरता व सुकान्ति उत्पन्न हो जाती है।

मक्खनको तपाकर घी बनाया जाता है। पश्चिम देशमें घीका प्रचलन नहीं है। किन्तु अतिप्राचीन कालसे इस देशमें अतिपवित्र वस्तु घी मानी जाती है और समस्त दैवकार्यमें इसका प्रयोग होता है। घी आयु, वीर्य तथा क्रान्तिका बढ़ानेवाला, जीवोंका प्राणस्वरूप है। इसके संयोगसे कितने ही देवभोग्य, उपादेय, पुष्टिकर पदार्थ तैयार किये जाते हैं। वैद्यशास्त्रमें घीकी सहायतासे अमृत, च्यवनप्राश, अशोक घृत, पुष्टिघृत आदि अनेक औषधियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, जिनसे प्राचीन दुरारोग्य रोग दूर किये जाते हैं। पुराने घीका मालिश करनेपर खाँसी, निमोनिया आदि कठिन रोगोंमें भी बड़ा उपकार होता है।

अच्छे दूध, क्रीम या मक्खन निकाले दूधसे एक चीज बनती है, जिसको छाना कहते हैं। गर्म दूधमें छानाका पानी, दहीका पानी या मट्ठा छिड़का देनेसे छाना बन जाता है। अति उत्तम सेरभर दूधसे एक पाव विशुद्ध छाना तैयार होता है। छानाके द्वारा बङ्गाल तथा अन्याय प्रान्तोंमें अनेक प्रकारकी मिठाई बनायी जाती है, जो सुस्वादु और पुष्टिकर होती है। कई एक प्रकारकी तरकारी भी काश्मीर आदि देशोंमें छानाके द्वारा बनायी जाती है। चीनी मिला हुआ छाना धारक, पोषक तथा आमनाशक होता है। छाना निकाल लेनेपर जो पानी बचता है, उसे लघुपथ्यके रूपमें बच्चोंको दिया जाता है और फेफड़ेकी कमजोरी तथा पेटके अनेक रोगोंमें वह पथ्य है। इस पानीके मथनेपर भी मक्खन निकलता है।

एकमात्र दूधसे ही जब शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्माके पोषणकारी इतने पदार्थ बन सकते हैं, तो गव्यामृतको अमृत क्यों नहीं कहा जायगा और गोमाताकी देवीवत् पूजा क्यों नहीं होगी? अब गोशरीरके अन्तर्गत अन्यान्य वस्तुओंकी उपकारिता आधुनिक विज्ञानसिद्ध मतानुसार नीचे बतायी जाती है।

गौके गोबरके विषयमें पहिले ही कुछ लिखा जा चुका है। गोबरमें फासफोरिक एसिड्, चूना, मैग्नेशिया और सेलिका रहती हैं। इसमें नाईट्रोजन भी है। सांड़के गोबरमें यह सब अधिक परिमाणसे रहता है। यथा बछड़ेके गोबरमें ३० भाग, गायके गोबरमें ७५ भाग और साँड़के गोबरमें ६५ भाग नाईट्रोजन है। गोबरका गुण खाये जानेवाले पदार्थ तथा गौकी अवस्था पर निर्भर करता है। गोबरमें फिनाईलकी तरह दुर्गन्धनाशक शक्ति तथा उर्वरता बढ़ानेकी खास शक्ति है। उत्तम गोबरके खादसे खेतोंमें आलू, सलगम, गोभी, कपास, ईख आदि सब कुछ विशेषरूपसे उत्पन्न किये जा सकते

हैं। किन्तु गोबरके बाहर फेंक रखनेसे उत्तम खाद नहीं बन सकता है। उसे गढ़ा बना कर उसमें जमा करना चाहिये और उपरसे मिट्टी ढाक कर खाद बनाना चाहिये।

आयुर्वेदमें गोबरको शीतनाशक कहा गया है, इसलिये साधुलोग उसके भस्मको बदनमें मलकर बिना वस्त्र शीतनिवारण करते हैं। गोबरकेद्वारा कागज जोड़नेका उत्तम मसाला बनाया जाता है, गोबर और कागजको मिलाकर कई प्रकारके खिलौने तथा मूर्त्तियाँ बनायी जाती हैं। गोबरके भस्मसे उत्तम दन्तमञ्जन बनता है, उसमें तिल्ली नाशक शक्ति होनेसे आयुर्वेदमें उसका व्यवहार भी लिखा है। गोबरका धूँआँ चोटपर लगानेसे आराम आजाता है। सूखे गोबरको उपल कहते है। उसकी आगसे भात बनानेपर वह बहुत ही लघुपाक तथा उदरामयमें उपकारक हो जाता है। उसका सेक देनेपर वात व्याधिके रोगोंमें आरोग्य लाभ होता है। उसकी आगसे वैद्य-लोग स्वर्ण, रौप्य आदिका भस्म भी बनाते हैं। कटे घावपर ताजे गोबरका लेप देनेपर खून निकलना बन्द हो जाता है और घाव जुड़ जाता है। इत्यादि इत्यादि गोबरके अनेक गुण हैं।

गोमयकी तरह गोमूत्र भी परमोपकारी रसायन है। सायन्सके विचारसे उसमें फस्फेट, पोटास, लवण और नाईट्रोजन है। नाईट्रोजनमें यूरिया और यूरिकएसिड है। आयुर्वेदमतसे गोमूत्र खारा, कड़ुवा, कषैला, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दीप्तिकारक, मेधाजनक और पित्तकर है। यह कफ, वायु, शूल, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास रोग, सूजन, कब्ज, पाण्डुरोग, नेत्ररोग, मुखरोग, खुजली, आमवात, बस्तिरोग, कुष्ठरोग इत्यादिका नाशक है। इसकी बून्दे कानमें डालनेसे कानका दर्द दूर होता है।

गोमूत्रका खाद गोबरसे भी उत्तम होता है। गोशालामें जहाँ गायें रातको सोती हैं वहाँ बालू डालकर या किसी खड्डेमें गोमूत्र संग्रह करके उसमें गोबर डालकर खाद बनाया जा सकता है। गोमूत्रसे नित्य नेत्र धोनेपर नेत्रकी ज्योति बुढ़ापे तक अच्छी रहती है। इसके पानसे सब प्रकार कुष्ठरोग तथा तिल्लीरोग दूर हो जाते हैं। इससे कपड़ा साफ भी खूब होता है। गोमूत्रमें हर्रे भिगोकर किसी लोहेके बर्त्तनमें पीस शरीरपर मालिश करनेसे धवल रोग आराम हो जाता है। ऐसाही भिगोकर अमृत-हरीतकी बनती है जो उदरामय, अरुचि, अजीर्ण आदि रोगोंमें विशेष उपकारी है। गोमूत्रमें धानोंको भिगोकर, उन्हें भूँसीकी आगमें भून जो चावल निकलते हैं; उसका भात खानेसे कठिन कुष्ठ भी आराम हो जाता है। निर्गुण्डीके पत्तोंके फङ्का बनाकर उसके साथ गोमूत्रका व्यवहार करनेपर भी कुष्ठरोग आराम हो जाता है। केवल गोमूत्र-पानसे ही कितने कुष्ठरोगी इस कठिन व्याधिके प्रकोपसे निस्तार पाचुके हैं।

उत्तम गायके फेफड़ेके पास पीतवर्ण जो शुष्क पित्त होता है उसे गोरोचन कहते हैं। आयुर्वेदके मतानुसार गोरोचन स्वयं महौषधि है तथा अनेक महौषधिके बनानेमें और तान्त्रिक यन्त्रादि बनानेमें विशेष उपचार है। यह शीतल, तिक्त, कान्ति-वर्द्धक, मङ्गल तथा वशीकरण जनक है। ग्रहदोष, उन्माद, गर्भपात, भूतबाधा, कृमि, कुष्ठ आदिमें महौषधिरूपसे गोरोचनका प्रयोग होता है।

गायके सींगके गोल चिन्ह द्वारा उसकी उमरका निर्णय किया जाता है। इसका चूरा खादके भी काममें आता है। अङ्गुरके वेलमें यह खाद दिया जाता है। इसमें नाईट्रोजन और एमोनियाका अंश बहुत कुछ होता है। अच्छे सींगके द्वारा घड़ी और छड़ियोंकी मूठें तथा बटन बनाये जाते हैं। इसके खराब अंशको गलाकर सरेश बनाया जाता है।

गोरक्त परिवर्त्तित होकर तरल नाईट्रोजन बन जाता है। उसमें नाईट्रोजन, नमक और पोटास होता है। पश्चिम देशमें खादके बदले कहीं कहीं इसीका व्यवहार किया जाता है। इससे शराब और चीनी साफ की जाती है और प्रसियन्ब्लू नामक स्याही भी बनायी जाती है।

गायकी हड्डियोंका चूर्ण भी अति उत्तम खाद है। उसमें चूना, नमक, केलसिकम, फासूफेट, कार्बोनेट और क्लोराईड् नामक पदार्थ होते हैं। हड्डियोंसे चर्बी निकाल दूसरे ही काममें उसका उपयोग किया जाता है। इसकी किसी प्रक्रियासे चीनी साफका भी काम लिया जाता है। चर्बीसे मोमबत्ती, ग्लिसेरिन, साबुन आदि बनते हैं।

गोचर्मसे जूता, जीन, बाजे, बैग, सन्दूक आदि बनाये जाते हैं। इसलिए भारतसे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयेका चमड़ा विलायतमें जाता है और वहाँ से कई चीजें बनकर महँगी बिकती हैं। चमड़ेको खेतमें गाड़ देनेसे खादका काम भी निकलता है।

इस प्रकारसे प्राच्य-प्रतीच्य दोनों विचारोंके अनुसार गोजातिकी परम महिमा बतायी गयी है।

गोजातिकी इतनी महिमा होनेपर भी भारतके दुर्भाग्यसे अब दिनोदिन गोवंशका नाश हो रहा है। बहुत वर्षकी बात नहीं, आइने-अकबरीके देखनेसे पता लगता है कि, अकबरके समयमें एक आना सेर घी और दस आने मन दूध बिकता था। अब अढ़ाई रुपयेमें भी १ सेर शुद्ध घी तथा एक रुपयेमें भी तीन चार सेर शुद्ध दूध नही मिलता है। ४२ वर्ष पहले भी दो पैसे सेर अच्छा दूध मिलता था। अब भारतमें वह घी, दूध नहीं है। अब आस्ट्रेलियासे जमा हुआ दूध, मक्खन भारतमें आता है, उसीसे हमारे बच्चे जीवन धारण करते हैं। शुद्ध घीके अभावसे अब यज्ञके फल नहीं मिलते, समयानुसार वृष्टि नहीं

होती, दुर्भिक्षका कराल कोप भारतमें व्याप्त है। घीकी जगह अब महुएका तेल, सांपकी चर्बी और वनस्पतिके रससे बना हुआ अप्राकृतिक घी मिलने लगा है, जिसे खाकर लोग बीमार हो रहे हैं। अब भारत गोहीन, गव्यहीन हो गया है। भारतसे गायके चमड़ा भेजनेका व्यवसाय अब दिनोंदिन उन्नति पर है। १८९१ ई० से १९०० तक प्रतिवर्ष दो करोड़ रुपयेका गोचर्म विदेश भेजा गया है। १९०१ में ५ करोड़ तीस लाखका गोचर्म बाहर भेजा गया था। १८९९-१९०० और १९००-१९०१ इन दो वर्षोंमें तीन करोड़ बीस लाखके गोचर्म विदेश भेजे गये हैं। Imperial gazetteer of India Vol.III. P. 189. में ये सब वृत्तान्त लिखे हुए हैं। यदि यही हाल रहा, तो आगामी ५० वर्षके भीतर तसवीरमें ही गौमाताके दर्शन हुआ करेंगे और मूछोंमें लगाने के लिये भी दूध घीका मिलना असम्भव हो जायगा।

गोजातिके इस प्रकार रोमाञ्चकारी सत्तानाशका हेतु क्या है? इस विषयपर अनुसन्धान करनेसे निम्नलिखित प्रधान प्रधान कारण प्रतीत होते हैं—

१—गोभक्षकोंकी निष्ठुर उदरपूर्त्तिके लिए भीषण गोहत्या।

२—देशमें गोग्रास तथा गोखाद्यका अभाव।

३—गोचर भूमिका अभाव तथा प्राचीन गोचर भूमियोंका कृषिभूमिमें परिणत कर देना।

४—गोवंश-वृद्धिके लिये उत्तम साँड़का अभाव।

५—इस देशके कसाई नियत समयपर चमड़ा देनेके लिये चमड़ेके व्यापारियोंसे पेशगी रुपया ले लेते हैं। वे लोग घासके साथ विष मिलाकर या मयदे और घीमें विष मिलाकर गायोंको खिला देते हैं, अथवा जहाँ गायें चरती हैं, वहाँ डाल देते हैं। कभी कभी गायके शरीरमें फोड़ा देखकर वहीं विष लगा देते हैं। कभी कभी छूरेमें विष लगाकर गायके शरीरके खूनमें विष प्रवेश करा देते हैं। कभी गोशालासे गायें चुरा ले जाते हैं और जीते ही जी मुख बाँधकर उनके चमड़े उतार लेते हैं। जब किसी गाँवकी गायोंमें संक्रामक रोग फैलता है, तो उसी रोगसे मरे हुए पशुकी अँतड़ी, मांस इत्यादि दूसरे गाँवके उस स्थानमें डाल आते हैं, जहाँ गायें चरती हैं। इस तरह वहाँ भी संक्रामक रोग उत्पन्न होकर गोवंशका नाश होता है।

६—भारतमें गोपालन तथा गोचिकित्सा सिखानेके लिये विद्यालयोंका अभाव।

७—गोचिकित्सालय तथा औषधालयोंका अभाव और गोचिकित्सकोंका भी अभाव।

८—भारतमें गोपालन, उनकी बीमारी तथा चिकित्साविषयक पुस्तकोंका अभाव।

६—दूधके व्यापारी कृत्रिम उपायोंसे गायको दूह कर बच्चोंको अधिक दाम पर कसाईके हाथ बेच देते हैं, जिस कारण गोजाति क्षीण तथा निर्मूल हो रही है ।

१०—दूधके व्यापारी अधिक लाभकी आशासे गायको खूब दूह लेते हैं इससे बच्चोंको कम भोजन मिलता है । और वे क्रमशः रोगी तथा जीर्ण होकर मर जाते हैं ।

११—कहीं कहीं अहीर लोग अधिक दूधके लोभसे फूका देकर गाय दूहते हैं, जिससे उनकी गर्भधारण शक्ति नष्ट हो जाती है और अन्तमें वे भी कसाइयोंके हाथ बेच दी जाती हैं ।

१२—गौशालाओंमें गौओंकी रक्षा ठीक ठीक न होनेके कारण उन्हें शीत, ताप आदि कष्ट सहन करना पड़ता है और इसीसे ज्वर, चेचक, आँव, उदररोग आदि होकर वे मर जाती हैं ।

१३—गायोंमें संक्रामक रोग फैलने पर उसका प्रतिकार नहीं किया जाता है, गायोंको हटाया या अलग अलग नहीं रखा जाता है इससे भी उनमें मृत्यु फैल जाती है ।

१४—सड़ी हुई नालियोंका जल तथा वर्षाके बँधे जलमें उत्पन्न खराब तृणादिको खाकर गायें बीमार हो जाती हैं और कितनी मर ही जाती हैं ।

१५—हमारे देशके धनी लोग कुत्ते तथा चिड़िये बहुत शौकसे पालते हैं, किन्तु गाय पालनेकी इच्छा उनमें बहुत ही कम पायी जाती है । अपने सामने गो-वध होते देखकर भी उपेक्षा करते हैं इससे भी गोजातिका नाश हो रहा है ।

येही सब गोवंशनाशके मुख्य कारण हैं । अतः इनके हटाये बिना यथोचित गोरक्षा होना असम्भव है ।

अष्टम काण्डकी प्रथम शाखा समाप्त हुई ।

व्रतोत्सव-महिमा।

पुण्यजनक उपवासादि नियमोंका नाम व्रत है। अनर्गल सभी प्रवृत्तियाँ नियमोंके (Discipline) द्वारा ही क्रमशः नष्ट हो जाती हैं, इसकारण व्रतमें नियम ही मुख्य साधन है। व्रतके लक्षणके विषयमें हेमाद्रिव्रतखण्डमें लिखा है—

व्रतञ्च सम्यक्संकल्पजनितानुष्ठेयक्रियाविशेषरूपं

तच्च प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयरूपम्।

तत्र द्रव्यविशेषभोजनपूजादिकं प्रवृत्तिरूपं उपवासादिकं

च निवृत्तिरूपं, तच्च नित्यं नैमित्तिकं काम्यं च।

नित्यमेकादश्यादि व्रतं, नैमित्तिकं चान्द्रायणादिव्रतं

काम्यं तत्तत्तिथ्युपवासादिरूपम्।

किसी लक्ष्यको सामने रख कर विशेष संकल्पके साथ लक्ष्यसिद्धिके अर्थ किये जानेवाले क्रियाविशेषका नाम व्रत है। व्रत प्रवृत्ति निवृत्ति भेदसे दो प्रकारके तथा नित्य, नैमित्तिक काम्य भेदसे पुनः तीन प्रकारके होते हैं। द्रव्य विशेष भोजन तथा पूजादिके द्वारा साध्यव्रत प्रवृत्तिमूलक और केवल उपवासादि द्वारा साध्यव्रत निवृत्तिमूलक है। ये दोनों ही प्रकारके व्रत पुनः लक्ष्य भेदसे तीन प्रकारके होते हैं—यथा नित्य नैमित्तिक और काम्य। एकादशी आदि व्रत जिनके न करनेसे प्रत्यवाय होता उन्हें नित्यव्रत कहते हैं। पापक्षय आदि निमित्तको लेकर अनुष्ठित चान्द्रायण आदि व्रत नैमित्तिक है। किसी विशेष तिथिमें विशेष कामनाके साथ अनुष्ठित व्रत, जैसा कि अवैधव्यकामनासे ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशीमें अनुष्ठित सावित्रीव्रत—ऐसे व्रतोंको काम्य व्रत कहते हैं। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें व्रतके दो तथा तीन भेद कहे गये हैं। इसके सिवाय कायिक और मानसिक भेदसे भी व्रतके दो भेद होते हैं, यथा हेमाद्रिव्रतखण्डमें—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्मषम्।

एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि व्रतधारिणाम्॥

तत्सर्वं कायिकं पुंसां व्रतं भवति नान्यथा।

उपवासोऽप्यहोरात्राभोजनं, आदिशब्दादयाचितादिः॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, पापशून्यता, ये सब मानस व्रत हैं। दिवारात्रि उपवास या अशक्तपक्षमें रात्रिको भोजन, अयाचितरूपसे रहना इत्यादि व्रत कायिक है। इस प्रकारसे व्रत करनेका फल क्या है, इसका उत्तर शास्त्रमें दिया गया है।

व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनैस्तथा ।
वर्णाः सर्वेऽपि मुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः ॥

व्रत, उपवास, नियम तथा शारीरिक तपके द्वारा सभी वर्णके मनुष्य पापमुक्त होकर पुण्यप्रभावसे उत्तम गतिलाभ करते हैं। यही कारण है कि,—

'वयं सोमव्रते तव' यजु० ३।५६, 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' यजु० १।५ 'सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' १।२ 'व्रतमुपैष्यन्' शतपथ १।१।१।१

इत्यादि मन्त्रों द्वारा वेदमें भी व्रतकी आज्ञा की गई है।

मत्स्य, स्कन्द, पद्म, ब्रह्माण्ड, कूर्म, वाराह आदि प्रायः सभी पुराणोंमें अनेक व्रतोंकी विधियाँ तथा विवरण देखनेमें आते हैं। व्रतके बाद जो व्रतकथा सुननेकी विधि है, उसका भी वर्णन उन्हीं पुराणोंमें किया गया है। अब नीचे व्रताधिकार तथा व्रतविषयक कुछ साधारण चर्चा की जाती है।

व्रतमें किस किसका अधिकार है, इसपर हेमाद्रिव्रतखण्डमें लिखा है कि,—

"चतुर्णामपि वर्णानां स्त्रीपुंसाधारण्येन व्रतेष्वधिकारः"

चारों वर्णके स्त्रीपुरुषोंका व्रतमें अधिकार है। किन्तु व्रती होनेके लिये निम्नलिखित गुणोंकी सर्वदा विशेषतः व्रतकालमें नितान्त आवश्यकता बतायी गयी है। यथा—

निजवर्णाश्रमाचारनियतः शुद्धमानसः ।
व्रतेष्वधिकृतो राजन्नन्यथा विफलश्रमः ॥
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः ।
व्रतेष्वधिकृतो राजन्नन्यथा विफलश्रमः ॥
पूर्वं निश्चित्य शास्त्रार्थं यथावत् कर्मकारकः ।
अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु ॥

अपने वर्ण तथा आश्रमानुसार आचारनिष्ठ, पवित्रचित्त, निर्लोभ, सत्यवादी, सकल जीवोंके हितमें रत पुरुषका ही व्रतमें अधिकार है। जो शास्त्रका मर्म जानकर कर्म करता है और वेदनिन्दक नहीं है उसीका व्रतमें अधिकार है। स्त्रियोंके लिये लिखा है—

नारी च खल्वनुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा।
विफलं तद् भवेत्तस्य यत् करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ॥

कुमारीको पिताकी आज्ञा, सधवाको पतिकी आज्ञा और विधवाको पुत्रकी सम्मति लेकर तब व्रत करना चाहिये, अन्यथा निष्फल होगा। व्रतारम्भकी तिथिके विषयमें लिखा है—

उदयस्था तिथिर्या हि न भवेद्दिनमध्यभाक्।
सा खण्डा न व्रतानां स्यादारम्भे च समापने ॥
एतद्व्यतिरिक्तायामखण्डायां प्रारम्भकालः, इति
वृद्धवशिष्ठः।

जिस तिथिमें सूर्योदय होता है, वह यदि दिनके बीच तक न रहे तो खण्डा तिथि कहलाती है, उसमें व्रतारम्भ नहीं करना चाहिये। इससे विपरीत अखण्डा तिथिमें व्रतारम्भ करना उचित है। व्रतके पूर्वदिन संयमसे रहकर व्रतारम्भके दिन संकल्पपूर्वक आरम्भ करना होता है। अशौचादिके विषयमें लिखा है—

व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ॥

व्रत, यज्ञ; विवाह, श्राद्ध, होम, पूजा और पुरश्चरण जपादिमें आरम्भसे पहिले सूतक लगता है, आरम्भ होने के बाद नहीं लगता है। रजोदर्शन आदि दोषोंमें स्त्रियाँ स्वयं उपवास कर ब्राह्मणको प्रतिनिधि बनाकर जप पूजादि करा सकती हैं। पतिके व्रतमें स्त्री और स्त्रीके व्रतमें पति प्रतिनिधि हो सकता है। अन्यथा पुत्र, भ्राता, भगिनी भी प्रतिनिधि हो सकते हैं। चान्द्रायण आदि व्रतमें केशमुण्डन अवश्य करना होता है। यदि किसी कारणसे मुण्डन असम्भव हो तो "मुण्डनाकरणे द्विगुणं प्रायश्चित्तम्" अर्थात् मुण्डनके बदले द्विगुण प्रायश्चित्त करना चाहिये। सधवा स्त्रियोंके लिये आदेश है कि—

सर्वान् केशान् समुद्धृत्य छेदयेदङ्गुलिद्वयम्।
एवमेव तु नारीणां मुण्डमुण्डनमादिशेत् ॥

समस्त केश उठाकर दो अङ्गुलि परिमाण केश काट देना चाहिये। उससे केश मुण्डन हो जाता है।

यो यदर्थं चरेद्धर्मं न समाप्य मृतो भवेत्।
स तत्पुण्यफलं प्रेत्य प्राप्नुयान्मनुरब्रवीत्॥

व्रतसमाप्तिसे पूर्व ही यदि किसी व्रतीकी मृत्यु हो जाय तो आगामी जन्ममें उसे व्रतजन्य पुण्यफल प्राप्त होता है ऐसा मनुजीने कहा है। कर्मफल कदापि नष्ट नहीं होता है।

अब नित्यनैमित्तिकादि भेदसे कुछ व्रतोंके संक्षेप वर्णन किये जाते हैं।

एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि नित्यव्रत कहलाते हैं। नित्यकर्मकी तरह इनका भी यही लक्षण है कि, 'अकरणात् प्रत्यवायः' अर्थात् न करनेसे पाप है। इसका कारण नित्यकर्माध्यायमें पहिले ही बताया गया गया है कि, जीवको अपनी स्थितिमें कायम रखनेकेलिये ये सब नित्यव्रत किये जाते हैं, इनके न करनेसे जीव अपनी स्थितिसे गिर जाया करता है। इसीकारण नित्यकर्मकी तरह नित्यव्रतका ऐसा लक्षण किया गया है। एकादशीव्रतके विषयमें भविष्यपुराणमें लिखा है—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति संप्राप्ते हरिवासरे॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते हरिवासरे।
तद्दिने सर्वपापानि वसन्त्यन्नाश्रितानि च॥

ब्रह्महत्या आदि समस्तपाप एकादशीके दिन अन्नको आश्रय करके ही रहता है। इसलिये एकादशीके दिन जो भोजन करता है, वह पापभोजन करता है। ज्योतिषशास्त्रका सिद्धान्त है कि, एकादशी तिथिको चन्द्रमाकी एकादशकलाका प्रभाव जीवोंपर शुक्लपक्षमें चन्द्रमण्डलद्वारा और कृष्णपक्षमें सूर्यमण्डलद्वारा पड़ा करता है। चन्द्रमाका प्रभाव शरीर मन सभीपर रहनेसे इस तिथिमें शरीरकी अस्वस्थता और मनकी चञ्चलता सभी स्वाभाविक रूपसे बढ़ सकती है। इसीकारण उपवासद्वारा शरीरको सम्हालना और इष्टपूजनद्वारा मनको सम्हालना एकादशी व्रतविधानका मुख्य रहस्य है। जिसको भविष्यपुराणने ऊपर लिखित श्लोकोंके द्वारा विधिरूपसे बताया है। अष्टमी तिथिके बाद रसवृद्धिकर पूर्णिमा तथा अमावस्या तिथिके लिये रससंचारका विशेष प्रारम्भ एकादशी तिथिसे ही होता है, जिसका विशेष आघात शरीर मनपर होना निश्चय है, इसीकारण स्त्री पुरुष विशेषतः विधवाओंके लिये इसको अवश्य पालनीय

नित्यव्रत करके ही बताया गया है। चन्द्रमा शिवललाटमें है, इसकारण उसके प्रभावनाशकेलिये एकादशीमें विष्णुपूजनका उपदेश किया गया है। इसी कारण एकाशीको 'हरिवासर' कहते हैं। यथा—

शुक्ले वा यदि वा कृष्णे विष्णुपूजनतत्परः।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि ॥ (भविष्यपुराण)

विष्णुपूजापरायण होकर शुक्ला कृष्णा दोनों तिथियोंकी ही एकादशीमें उपवास करना चाहिये। अन्य सम्प्रदायके उपासकगण अपने अपने इष्टदेवमें विष्णुभावना करके पूजा कर सकते हैं।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च आहिताग्निस्तथैव च।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि ॥ (लिङ्गपुराण)
विधवा या भवेन्नारी भुञ्जीतैकादशीदिने।
तस्यास्तु सुकृतं नश्येद् भ्रूणहत्या दिने दिने ॥ (कात्यायनः)

गृहस्थ, ब्रह्मचारी साग्निक किसीको भी एकादशीके दिन भोजन नहीं करना चाहिये। यदि विधवा स्त्री एकादशीको भोजन कर ले, तो उसका समस्त पूर्वपुण्य नष्ट हो जाता है और भ्रूणहत्याका पाप लगता है—असमर्थ पक्षमें अपने पुत्र अथवा ब्राह्मणके द्वारा उपवास करानेकी विधि वायुपुराणमें मिलती है। बालक, वृद्ध या रोगी फलाहार करके भी एकादशी कर सकते हैं ऐसा मार्कण्डेय ऋषिका मत है। व्रतकालके विषयमें लिखा है—

दशम्येकादशी यत्र तत्र नोपवसेद् बुधः।
अपत्यानि विनश्यन्ति विष्णुलोकं न गच्छति ॥ (वशिष्ठः)
अरुणोदयवेलायां दशमी संयुता यदि।
तत्रोपोष्या द्वादशी स्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥ (कण्वः)
प्रातः स्नात्वा हरिं पूज्य उपवासं समर्पयेत्।
पारणं तु ततः कुर्याद् व्रतसिद्ध्यै हरिं स्मरन् ॥ (कात्यायनः)
पारणमन्त्र—ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥

दशमीयुक्त एकादशीमें उपवास नहीं करना चाहिये। उसमें सन्तानका नाश होता है और ऊर्द्ध्वगति रुकती है। यदि अरुणोदयके समय दशमी और एकादशीका योग हो तो द्वादशीको उपवास करके त्रयोदशीको पारणा करनी चाहिये। प्रातःकाल स्नान तथा हरिपूजनके अनन्तर हरिको उपवास समर्पण करना होता है। उसके बाद हाथमें जल लेकर पारणमन्त्र पढ़ते हुए व्रतपारणा करनी होती है। यही एकादशीका पारण कहलाता है। इस प्रकारसे एकादशीरूप नित्यव्रतका अनुष्ठान होता है। एकादशीकी तरह अमावस्या और पूर्णिमाको भी नित्यव्रत कहा जाता है। इन दोनों तिथियोंमें ही पृथिवी, चन्द्र और सूर्य समसूत्रमें होते हैं। अमावस्यामें चन्द्र, पृथिवी और सूर्यके बीचमें होता है। इसकारण चन्द्रका जो अंश पृथ्वीकी ओर होता है, उसमें सूर्यकिरणका स्पर्श न होनेसे उसदिन चन्द्र दीखता नहीं। इसके सिवाय चन्द्रमण्डल उसदिन और कहीं चला नहीं जाता। दूसरी ओर पूर्णिमा तिथिको पृथिवी, चन्द्र और सूर्यके बीचमें होती है। इसकारण सम्पूर्ण मण्डलके साथ चन्द्रमाका प्रकाश पृथिवीपर हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि, समसूत्रमें रहनेके कारण पूर्णिमा और अमावस्या दोनों तिथियों में ही चन्द्रका विशेषप्रभाव पृथिवीपर हो जाता है। जिससे पृथिवीस्थ जीवोंके शरीर, मन दोनों ही अस्वस्थ तथा चञ्चल हो सकते हैं। जब इन दोषोंके निवारणार्थ एकादशकलायुक्त एकादशीमें ही व्रत करनेकी आवश्यकता है, तो पूर्णकलायुक्त पूर्णिमा तथा अमावस्यामें भी अवश्य ही व्रत करना चाहिये यही शास्त्रका सिद्धान्त है। यही अमावस्या तथा पूर्णिमाके नित्यव्रत होनेका कारण है। जिसके अकरणमें विशेष प्रत्यवाय और वात आदि कितनी ही व्याधियोंका आक्रमण हो सकता है। इन दिनोंमें ब्रह्मचर्यरक्षा, मांसादि न खाना, गङ्गादि देवनदियोंमें स्नानकरना इत्यादि शुभकर्मके अशेष फल बताये गये हैं। यथा—

पक्षान्ते स्रोतसि स्नायात् तेन नायाति मत्पुरम्" (तिथितत्त्व)

महाज्यैष्ठ्यां तु यः पश्येत् पुरुषः पुरुषोत्तमम्।

विष्णुलोकमवाप्नोति मोक्षं गङ्गाम्बुमज्जनात्॥ (तिथितत्त्व)

अमावस्या या पूर्णिमाको गङ्गादि तीर्थमें स्नान करनेसे यमलोकको नहीं जाना पड़ता है। महाज्यैष्ठी पूर्णिमामें पुरुषोत्तमका दर्शनकरनेसे विष्णुलोकप्राप्ति और गङ्गास्नान करनेसे मोक्षलाभ होता है। ये ही सब नित्यव्रतके पापनाशक तथा निःश्रेयसप्रद दृष्टान्त हैं।

अब नैमित्तिक व्रतोंका वर्णन किया जाता है। पहिले ही कहा गया है कि,

पापक्षयके लिये प्रायश्चित्तरूपसे अनुष्ठेय व्रतोंको नैमित्तिक व्रत कहते हैं। 'प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्' जिस कार्यसे पापका शोधन या नाश हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। पाप कैसे होता है इस विषयमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

शास्त्रविहित कर्मोंका न करना, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका करना और इन्द्रियोंके असंयमसे व्यभिचारादि—इन तीनोंके द्वारा पाप और जीवका पतन होता है। विष्णु-संहितामें इस प्रकारसे उत्पन्न पाप नौ भागमें विभक्त किये गये हैं, यथा—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलावह और प्रकीर्णपातक। अतिपातक—माता, कन्या या पुत्रवधू-गमन। महापातक—ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णस्तेय, गुरु-पत्नीगमन तथा इन पापियोंके साथ संसर्ग। अनुपातक—पितृव्यपत्नी, मातामही, मातुलानी, सास, राजपत्नी, पितृमातृभगिनी, श्रोत्रियपत्नी, पुरोहित पत्नी, अध्यापकपत्नी, बन्धुपत्नी, भगिनीकी सखी, सगोत्रा स्त्री, चाण्डाली, रजस्वला या शरणागत स्त्रीगमन, उच्चजाति बतानेकेलिये मिथ्या-भाषण, गुरुजनोंके विषयमें मिथ्याभाषण। उपपातक—गोवध, अयाज्ययाजन, परस्त्री-गमन, अभोज्यभोजन, चण्डालादि अस्पृश्य जातिका अन्न भोजन, गुरुनिन्दा, वेदनिन्दा परधनहरण इत्यादि। जातिभ्रंशकर—ब्राह्मण-पीड़न, मित्रवंचना, मद्यका आघ्राण लेना, पुंमैथुन, पशुमैथुन। संकरीकरण—ग्राम्य तथा अरण्यपशु-हिंसा। अपात्रीकरण—कुत्सितवाणिज्य, शूद्र-सेवा, मिथ्याभाषण। मलावह—पक्षिहत्या, जलचरहत्या, मत्स्यादिहत्या, कृमिकीटहत्या, मद्यसंश्लिष्टद्रव्यभोजन। प्रकीर्ण—अन्यान्य सब पाप।

(वि० संहिता ३२ से ४२ अ० तक)

इन नौ प्रकारके पापोंके प्रायश्चित्तरूपसे आर्यशास्त्रमें विविध नैमित्तिक व्रत बताये गये हैं। यथा—चान्द्रायण, पराकव्रत, प्राजापत्य, तप्तकृच्छ्र इत्यादि। अब नीचे इनके कुछ वर्णन किये जाते हैं। पापी यदि लोकसमाजमें पापको बोला करे या पापकेलिये अनुताप करे तो पाप अवश्य ही हलका हो जाता है। इसकारण मनुसंहिताके ११ अध्यायमें इसका विशद वर्णन है। पापका प्रायश्चित्त करके यदि चित्तमें प्रसाद आजाय तो जानना चाहिये कि पापी पापमुक्त हो गया। अन्यथा शास्त्रमें पुनः प्रायश्चित्तकी आज्ञा है। प्रायश्चित्तमें केशवपन आवश्यक कार्य है, क्योंकि—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च।
केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात् केशं वपाम्यहम्॥

ब्रह्महत्यादि समस्त पाप केशका आश्रय करके रहता है, इसलिये प्रायश्चित्तमें केशवपन करना चाहिये। मिताक्षरामें लिखा है—

विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम्।
ऋते महापातकिनो गां हन्तुश्चावकीर्णिनः॥

विद्वान् ब्राह्मण, राजा और स्त्री इनके प्रायश्चित्तमें केशवपन नहीं है। किन्तु महापातक या गोहत्यापापमें सभीको केशवपन करना चाहिये। सधवा स्त्रीके विषयमें पहिले ही कहा गया है कि, इनका केवल दो अंगुल केश काट देना चाहिये। प्रायश्चित्तके पूर्वदिन केशनखवपन करके स्नानके अन्तमें घृतमात्र आहारकर दिन काटना चाहिये। उसदिन सन्ध्याके समय संकल्प और दूसरे दिनसे प्रायश्चित प्रारम्भ करना चाहिये। स्नानके बाद चार ब्राह्मणके समीप आर्द्रवस्त्र जाकर अपना पाप बोलना चाहिये और उससे प्रार्थना करके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था ले लेनी चाहिये। यही शास्त्रीय विधि है। अब पापानुसार प्रायश्चित्त बताया जाता है।

अतिपातकका प्रायश्चित्त नहीं है, अग्निप्रवेश आदि पूर्वक मृत्यु ही उसका प्रायश्चित्त है। किन्तु असमर्थपक्षमें द्विगुण द्वादशवार्षिक व्रत और ज्ञानतः उसका द्विगुण प्रायश्चित्त भी शास्त्रमें पाया जाता है। इसमें भी अत्यन्त होनेपर प्रचुर धेनुदानका प्रायश्चित्त लिखा गया है।

महापातकमें कहीं कहीं मरणप्रायश्चित्त, कहीं कहीं द्वादशवार्षिकव्रत और असमर्थपक्षमें धेनुदान लिखा गया है। अतिकृच्छ्र, तप्तकृच्छ्र आदि प्रायश्चित्त भी इसमें किये जाते हैं।

उपपातक, अनुपातक, आदिमें चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि व्रत बताये गये हैं। सभी प्रायश्चित्त अज्ञानतः पापमें आधा और स्त्री, बालक, रोगी वृद्धोंके लिये आधा बताया गया है। सभी प्रायश्चित्तोंमें असमर्थपक्षमें धेनुदान लिखा गया है।

और सब पाप अर्थात् अपात्रीकरण, मलावह आदि पातकोंमें सामान्य प्रायश्चित्त बताये गये हैं। इनमें विद्वान्‌गण परामर्श करके लघु चान्द्रायण, पादकृच्छ्र, उपवास, पञ्चगव्यपान, गायत्रीजप, गङ्गा-स्नान, अनुताप, शिरोमुण्डन आदि जो कुछ बतावें सो ही शास्त्रसम्मत जानना चाहिये।

अब प्रायश्चित्तरूपसे कुछ नैमित्तिक व्रतोंके विधान लिखे जाते हैं। कृच्छ्र-चान्द्रायणव्रतके विषयमें स्मृतियोंमें लिखा है—

तिथिवृद्ध्या चरेत् पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डान् कृच्छ्रचान्द्रायणं चरेत् ॥ (देवल ८१)

एकैकं वर्द्धयेन्नित्यं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् ।

अमावस्यान्न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥ (अत्रि ११२)

सब प्रकारसे संयत रहकर मयूराण्ड जैसा एक एक ग्रास शुक्लपक्षमें बढ़ाता हुआ और कृष्णपक्षमें घटाता हुआ एक मास तक व्रत करनेसे चान्द्रायण व्रत होता है। शास्त्रमें चान्द्रायणव्रत चार प्रकारके बताये गये हैं यथा—पिपीलिकामध्य चान्द्रायण, यवमध्य चान्द्रायण, यति—चान्द्रायण और शिशुचान्द्रायण। पिपीलिकामध्यका लक्षण यह है—

एकैकं ह्रासयेत् कृष्णे शुक्लपक्षे विवर्द्धयेत् ।

उपस्पृशंस्त्रिसवनमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥

कृष्ण प्रतिपदाको व्रत प्रारम्भ करके प्रतिपदाको १४ ग्रास, द्वितीयाको १३, तृतीयाको १२ इस तरह घटाता हुआ अमावस्याके दिन उपवास करना होता है। पुनः शुक्ला प्रतिपदाको एक ग्रास, द्वितीयाको २, तृतीयाको ३ इस तरह बढ़ा कर पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करना होता है। प्रतिदिन त्रिसन्ध्या स्नान करना होता है। इस प्रकार एक मासका व्रत पिपीलिकामध्य चान्द्रायण है। यवमध्यचान्द्रायण यथा—

एवमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद् यवमध्यमे ।

शुक्लकृष्णादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥

इसकी भी विधि पूर्ववत् है, केवल भेद इतना ही है कि यवमध्यचान्द्रायण शुक्ला प्रतिपदाको प्रारम्भ करना होता है। शुक्ला प्रतिपदाको एक ग्रास, द्वितीयाको दो ग्रास यों बढ़ाकर पूर्णिमाको १५, तदन्तर कृष्णासे घटा कर अमावस्याके दिन उपवास करना होता है। यवकी तरह बीचकी तिथियोंमें ग्रास अधिक होनेके कारण इसका नाम यवमध्य और पिपीलिकाकी तरह बीचकी तिथियोंमें ग्रास कम होनेके कारण पूर्व-चान्द्रायणका नाम पिपीलिका मध्य रक्खा गया है। यतिचान्द्रायणका लक्षण यथा—

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यन्दिने स्थिते ।

नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥

यतिचान्द्रायणमें सुसंयत रह कर प्रतिमध्याह्नको आठ ग्रासमात्र भोजन करना होता है। इस तरह एक मासका यह व्रत है। शिशुचान्द्रायण यथा—

चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्॥

इसमें प्रातःकाल चार ग्रास और सूर्यास्तके बाद चार ग्रासमात्र एक महीने तक भोजन करना होता है। सभी चान्द्रायणमें यथाशक्ति त्रिसन्ध्या स्नान और सकल प्रकार संयम विहित है। ये ही चान्द्रायणरूप नैमित्तिक व्रतके ४ प्रकार हैं।

अत्रिसंहितामें (११५-१२८) प्रायश्चित्तरूपसे अनेक व्रतोंके वर्णन किये गये हैं, उनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

पद्मोदुम्बरविल्वैश्च कुशोऽश्वत्थपलाशयोः।
एतेषामुदकं पीत्वा पर्णकृच्छ्रन्तदुच्यते॥ ११५॥

पद्मपत्र, उडुम्बरपत्र (गुलरका पत्ता) विल्वपत्र, कुशा, पीपलका पत्र और पलाश-(ढाक) का पत्र इन सबको उबालकर पानी पीनेसे पर्णकृच्छ्र व्रत होता है।

पञ्चगव्यं च गोक्षीरदधिमूत्रसकृद् घृतम्।
जग्ध्वा परेऽन्ह्युपवसेदेष सान्तपनो विधिः॥ ११६॥

गव्यदुग्ध, गव्यदधि, गोमूत्र, गोमय और गोघृत-इस तरह पञ्चगव्य पान करके दूसरे दिन निर्जल उपवास करनेपर सान्तपन व्रत होता है।

पृथक्सान्तपनैर्द्रव्यैः षड़हः सोपवासकः।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनं स्मृतम्॥ ११७॥

पञ्चगव्योंमेंसे एक एक दिन एक एक, छठे दिन सारे और सातवें दिन उपवास करनेपर महासान्तपनव्रत होता है।

त्र्यहं सायं त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं भुङ्क्ते त्वयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ ११८॥
सायन्तु द्वादश ग्रासाः प्रातः पञ्चदशः स्मृताः।
अयाचिते चतुर्विंशे परेऽन्ह्यनशनं स्मृतम्॥ ११९॥

तीन दिन केवल शामको, तीन दिन केवल सुबहको तथा तीन दिन अयाचित

भोजन करके और तीन दिन उपवास करनेसे प्राजापत्यव्रत होता है। इस व्रतमें शामको १२ ग्रास, सुबहको १५ ग्रास, अयाचित २४ ग्रास खानेकी विधि है।

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयादतिकृच्छ्रं तदुच्यते ॥ १२० ॥

तीन दिन रातको, तीन दिन दिनको तथा तीन दिन अयाचित रूपसे केवल एक एक ग्रास खाकर और तीन दिन उपवास करनेपर अतिकृच्छ्र व्रत होता है।

कुक्कुटाण्डप्रमाणं स्याद् यावद् यस्य मुखं विशेत् ।
एतद्ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं कायशोधनम् ॥ १२१ ॥

इन व्रतोंमें भोजनग्रासका परिमाण कुक्कुटाण्ड जैसा रक्खा गया है, अथवा अनायास जितना एक ग्रासमें मुखमें घुस सके उतना भी हो सकता है।

त्र्यहमुष्णं पिवेदापस्त्र्यहमुष्णं पिवेत् पयः ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ १२२ ॥
षट्पलानि पिवेदापस्त्रिपलन्तु पयः पिवेत् ।
पलमेकन्तु वै सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥ १२३ ॥

तीन दिन छः पल परिमित उष्णजल, तीन दिन तीन पल परिमित उष्ण दुग्ध, तीन दिन एक पल परिमित उष्ण घृतपान करके तीन दिन वायुभोजी रहनेसे तप्तकृच्छ्र व्रत होता है।

दध्ना च त्रिदिनं भुङ्क्ते त्र्यहं भुङ्क्ते च सर्पिषा ।
क्षीरेण तु त्र्यहं भुङ्क्ते वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ १२४ ॥
त्रिपलं दधिक्षीरेण पलमेकं तु सर्पिषा ।
एतदेव व्रतं पुण्यं वैदिकं कृच्छ्रमुच्यते ॥ १२५ ॥

तीन दिन तीन पल परिमित दधि, तीन दिन तीन पल परिमित क्षीर तथा तीन दिन एक पल परिमित घृत भोजन करके तीन दिन वायुभक्षी रहनेपर वैदिक कृच्छ्र व्रत होता है।

एकभुक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।
उपवासेन चैकेन पादकृच्छ्रः प्रकीर्त्तितः ॥ १२६ ॥

एकदिन एकवार भोजन, एकदिन रात्रिको अयाचित भोजन और एकदिन उपवास करनेसे पादकृच्छ्र व्रत होता है।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्।
द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्त्तितः॥ १२७॥

२१ दिन दूधमात्र पीकर रहनेसे कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत होता है, और १२ दिन उपवास करनेसे पराकव्रत होता है।

पिण्याकदधिशक्तूनां ग्रासश्च प्रतिवासरम्।
एकैकमुपवासः स्यात् सौम्यकृच्छ्रः प्रकीर्त्तितः॥ १२८॥

चार दिन तक घोल, दही और सत्तुका एक एक ग्रास खाकर एकदिन उपवास करनेसे सौम्यकृच्छ्र व्रत होता है।

इस प्रकारसे स्मृतिशास्त्रमें नैमित्तिक व्रतोंका विधान और किन किन पापोंके प्रायश्चित्तरूपसे इनका प्रयोग होता है वह भी बताया गया है, जो बाहुल्यभयसे यहाँ पर नहीं सन्निवेशित किया गया।

अब काम्यव्रतोंके विषयमें कहा जाता है। पहिले ही कहा गया है, कि किसी कामनाकी पूर्त्तिके लिये अनुष्ठित व्रतोंको काम्य व्रत कहते हैं। यथाशास्त्र अनुष्ठित होने पर काम्य व्रतसे इप्सित फलकी प्राप्ति होती है और ये ही सब व्रत यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो इनके द्वारा चित्तशुद्धि होकर परमात्माकी ओर व्रती अनायास अग्रसर हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्रतमें जब संयम तथा इष्ट पूजा है तो निष्कामरूपसे संयमद्वारा आत्मशुद्धि और इष्टपूजाद्वारा सालोक्यादि मुक्ति अवश्यम्भावी है। काम्यव्रतके साधारणतः तीन प्रकार अनुष्ठान पाये जाते हैं।

(१) कुछ काम्य व्रत ऐसे हैं जो भारतके सभी प्रदेशोंमें एकही नाम तथा एकही रूपसे अनुष्ठित होते हैं। (२) कुछ काम्यव्रत ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न नामसे अनुष्ठित होते हैं किन्तु उनकी अनुष्ठानशैली एकही प्रकारकी होती है। (३) कुछ काम्यव्रत ऐसे हैं जो देश तथा अधिकारभेदसे भिन्न-भिन्न नाम तथा भिन्न भिन्न प्रकारसे अनुष्ठित होते हैं। इन तीन प्रकारोंके सिवाय कहीं कहीं ऐसा भी देखा जाता है, कि एक प्रदेशमें जो सामान्य कृत्य है, दूसरे प्रदेशमें वही व्रत है और अन्य प्रदेशमें वही अतिप्रसिद्ध पूजा है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं, कि कार्तिक मासके शुक्लपक्षकी जिस नवमीको दाक्षिणात्यलोग स्नानदान मात्र करते हैं, पञ्जाब, काश्मीर और गुजरात प्रदेशमें उसीका नाम दुर्गा नवमी है, उसदिन उपवास करके व्रत आदि इन

देशोंमें किया जाता है । किन्तु वङ्ग देशमें यही शुक्ला नवमी जगद्धात्री पूजाका दिन है । मनुष्योंकी प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकारभेद ही इन सब भेदोंके मूलमें है । दक्षिणदेशके लोग अधिकांश वैष्णव, पञ्जाब, गुजरात प्रान्तके लोग अपेक्षाकृत शक्ति उपासक और वङ्गदेशके मनुष्य विशेष-शक्ति उपासक होते हैं, इसीकारण एक ही व्रतके ऐसे तीन प्रकार हो गये । इस प्रकारसे शारदीय नवरात्रमें भी देखा जाता है, कि वङ्गदेशीयगण जिस धूम धामके साथ दुर्गापूजा करते हैं, उत्तर पश्चिम प्रदेशमें ऐसी पूजा न होकर श्रीभगवान् रामचन्द्रकी सवारी आदि निकाली जाती है और रामलीलोत्सव मनाया जाता है । इसमें भी प्रकृति प्रवृत्ति तथा देशकाल भेद ही कारण है । अब नीचे कुछ व्रतोंका वर्णन करते हुए इन्हीं विषयोंकी पुष्टि की जाती है ।

वैशाख शुक्ला तृतीया—इस व्रतको अक्षयतृतीया भी कहते हैं । यह सर्वत्र प्रचलित है । कर्णाटकमें इस पर्वको वलराम जयन्ती कहते हैं और वहाँ के निवासी इसदिन बलरामकी पूजा करते हैं । बङ्गालमें इस दिन ब्राह्मणको केवल यव खिलानेकी और यवश्राद्ध, जलदान तथा पार्वणश्राद्ध आदि करनेकी विधि प्रचलित है । वङ्ग तथा मिथिलाके लोग इसदिन सत्ययुगकी उत्पत्ति मानते हैं । इसीदिन हिमालयपर आकाश गंगाका अवतरण और यवान्नकी सृष्टि हुई है । महाराष्ट्र, गुजरात तथा तैलंग देशियोंके मतमें इसदिन त्रेतायुगकी उत्पत्ति हुई है और इसीदिन भगवान् परशुराम प्रकट हुए हैं । वे लोग इसदिन परशुरामके उद्देश्यसे अर्घ्यदान करते हैं ।

वैशाखी पूर्णिमा—इस व्रतको चन्दनयात्रा फूलडोल कहते हैं । यह व्रत केवल वंगदेशमें ही प्रचलित है । द्राविड़ तथा तैलङ्गमें इस तिथिको व्यासपूर्णिमा होती है, व्यासदेवकी पूजा और दही अन्नका दान किया जाता है । गुजरात और महाराष्ट्रमें इस दिन कूर्मजयन्ती होती है । कूर्मावतार विष्णुकी पूजा की जाती है ।

वैशाख शुक्ला चतुर्दशी—इसको नृसिंहचतुर्दशी भी कहते हैं । नेपाल, द्रविड़ और मिथिलाको छोड़ अन्य प्रदेशोंमें यह व्रत प्रचलित है । सब कामनाएं पूर्ण होनेकी कामनासे यह व्रत किया जाता है । मध्याह्नके समय नृसिंहभगवान्‌की पूजा होती है । इसीदिन नृसिंहावतार हुआ था ।

ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी—इसको सावित्री चतुर्दशी या वटसावित्री कहते हैं । बंगाल, जम्मु और मिथिलामें एक ही दिन यह व्रत होता है । सौभाग्यवती रहनेके लिये प्रायः स्त्रियाँ इस व्रतको करती हैं । द्रविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट और गुजरात प्रदेशमें ज्येष्ठ पूर्णिमाको वटसावित्री व्रत होता है । पूजाका प्रकरण प्रायः एक ही है ।

ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी—इसको अरण्यषष्ठी भी कहते हैं। केवल बङ्गालमें यह पूजा होती है। द्रविड़ तथा तैलंग देशमें इसके पहिले दिन अरण्य गौरी नामका एक पर्व होता है। उत्कलमें उसी दिन शीतलाष्टमी होती है। इसदिन स्त्रियाँ पंखा हाथमें लिये वनमें जाकर षष्ठीदेवीकी पूजा करती हैं। बंगालमें इसदिन दामादका आदर करना प्रसिद्ध है। अरण्यषष्ठी व्रतकी कथासे स्पष्ट जाना जाता है कि मृतवत्सा स्त्रीके सन्तानजीवित होनेसे उसका बड़ा ही आदर करना होता है।

ज्येष्ठ शुक्ला दशमी—इसको दशहरा भी कहते हैं। यह सभी प्रदेशमें प्रचलित है। बंगाल और उत्कलमें गंगापूजाके साथ मनसा देवीकी भी पूजा की जाती है। इस दिन गंगास्नान करनेसे कायिक, वाचिक, मानसिक दस प्रकारके पाप नष्ट होते हैं। प्रसिद्ध है, कि इसी दिन पृथ्वीतलपर गंगावतरण हुआ है। स्थूलरूपसे गंगाजलकी वृद्धि भी उसी दिनसे होने लगती है।

आषाढ़ शुक्ला एकादशी—इसको विष्णुशयनी एकादशी कहते हैं। यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है। इसदिनसे चातुर्मास्यव्रतका आरम्भ होता है। द्रविड़, कर्णाट और तैलंगमें इस दिन गोपद्मव्रत किया जाता है, विष्णुकी पूजा होती है। महाराष्ट्र लोग इस दिन कोकिलाव्रत करते हैं। इस व्रतकी उपास्य देवता गौरीदेवी है।

श्रावण पूर्णिमा—इस व्रतका नाम उपाकर्म तथा रक्षाबन्धन भी है। बङ्गालको छोड़कर सर्वत्र प्रचलित है। नेपाल, पञ्जाब, काश्मीर और मिथिलामें इसको ऋषितर्पणी कहते हैं और इस दिन ऋषियोंका तर्पण किया जाता है। महाराष्ट्र और तैलंगमें इसको हयग्रीवजयन्ती कहते हैं और भगवान् हयग्रीवकी पूजा करते हैं। उत्कलमें बलभद्र-जयन्ती कहते हैं और बलभद्रकी पूजा करते हैं।

भाद्रकृष्णाष्टमी—इसको जन्माष्टमीव्रत कहते हैं। श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्‌के प्रकट होनेका दिन है। यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है।

भाद्रशुक्लाष्टमी—इसको दुर्वाष्टमी तथा महालक्ष्मी व्रत कहते हैं। बङ्गालमें दुर्वा-ष्टमी होती है। काश्मीरमें इस दिनसे चतुर्दशी तक किसी एक दिन महालक्ष्मी देवीकी पूजा होती है। महाराष्ट्र और गुजरातमें षष्ठीके दिन गौरीदेवीका आवाहन कर सप्तमी-को पूजन और अष्टमीको विसर्जन किया जाता है। इसके सिवाय अन्नपूर्णाकी पूजा और महालक्ष्मीकी यात्रा समारोहसे की जाती है। कर्णाट और तैलङ्गमें इस दिन ज्येष्ठा व्रत होता है। उत्कल और बंगालमें इस दिन दुर्गाष्टमी होनेके कारण दुर्गापूजन तथा राधा-जन्माष्टमी होनेके कारण राधाजीका पूजन होता है। मिथिलामें इस दिन गोष्ठाष्टमी होती है, महालक्ष्मीका व्रत किया जाता है और कथा सुनी जाती है, पुत्र पौत्रादिके लाभकी

कामनासे हविष्यभोजन कर ज्येष्ठा नक्षत्रमें तीन दिन ज्येष्ठा देवीकी पूजा करनी होती है। इनके स्तवमें लक्ष्मी, सरस्वती और उमा तीनोंके स्तव मिश्रित हैं।

देवी नवरात्र—आश्विन शुक्ला प्रतिपदासे नवमी तक नौ दिनको नवरात्र कहते हैं। बङ्गाल और मिथिला प्रदेशको छोड़कर अन्यत्र दुर्गाप्रतिमाकी स्थापना और पूजाका नियम नहीं है, किन्तु इस प्रतिपदासे लेकर नौ दिन तक प्राय: सर्वत्र ही घटस्थापन, देवीपूजन और चण्डीपाठ किया कराया जाता है। नवरात्रके समय द्राविड़में वेङ्कटेशविष्णुकी पूजा, पञ्चमीके दिन उपाङ्ग ललिताव्रत, सप्तमीके दिन पुस्तकमण्डल और सरस्वतीकी पूजा, अष्टमीके दिन दुर्गाष्टमीको दुर्गापूजा और महानवमीको देवीके अश्व-आयुधादिकी पूजा की जाती है। नेपालमें सप्तमीके दिन पत्रिका-प्रवेशन, अष्टमी नवमीके दिन महाष्टमी व नवमीके कृत्य तथा दुर्गापूजन होता है। जम्बुमें नवरात्रके अन्तर्गत सरस्वतीशयन नामक एक पर्व होता है और दुर्गाष्टमीके दिन दुर्गापूजा भी की जाती है। वहाँ महानवमीको मन्वादि मानते हैं। पञ्जाब और काश्मीरमें इस उपलक्ष्यसे सरस्वती और दुर्गाकीपूजा की जाती है। महाराष्ट्रमें इससमय सरस्वती और दुर्गाकी पूजा, सरस्वतीके निकट बलिदान और देवीका विसर्जन किया जाता है। यहाँ भी मन्वादि कहते हैं। इसके सिवाय ललितावैनायकी व्रत और मातामहश्राद्ध करनेकी भी विधि है। कर्णाटमें वेदादिपाठ, उपाङ्गललिताव्रत तथा सरस्वती, दुर्गा और अश्व आयुधादिकी पूजाका नियम है। गुजरातमें महालक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और अश्वआयुधादिकी पूजा होती है। विनायक और ललिताका व्रत तथा मातामहका श्राद्ध भी किया जाता है। तैलंगमें दुर्गा और सरस्वतीकी पूजा और उपाङ्गललिता तथा गौरीका व्रत होता है। महानवमीको मन्वादि और दुर्गाष्टमीको कालिकाष्टमी कहते हैं। उत्कलमें दुर्गापूजा होती है और महाष्टमीके दिन महाष्टमीव्रत एवं महानिशाको बलि देनेका नियम है। मिथिलामें प्रतिपदाके दिन कलशस्थापन कर द्वितीयाके दिन रेमन्तकी पूजा करते हैं। षष्ठीके दिन गजपूजा और विल्वाभिमन्त्रण, सप्तमीके दिन पत्रिकाप्रवेशन, अष्टमीके दिन महाष्टमीव्रत और महानवमीके दिन त्रिशूलिनी देवीकी पूजाका नियम है। युक्तप्रदेशमें दुर्गापूजा तथा रामलीला होती है। नवमीके बाद दशमीको विजया दशमीका कृत्य होता है, इसको दशहरा भी कहते हैं। यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है। द्राविड़में इस दिन द्विदलव्रतका आरंभ होता है। महाराष्ट्र और गुजरातमें इस दिनको बौद्धजयन्ती कहते हैं। मिथिलामें इसदिन अपराजिता देवीकी पूजा होती है।

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी—इसको भूतचतुर्दशी या नरकचतुर्दशी भी कहते हैं। बंगालमें इसदिन चतुर्दश यमपूजा, अपामार्ग भ्रामण, उल्कादान, चतुर्दश शाकभोजन,

और दीपदान आदि किया जाता है। द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्णाट, गुजरात और तैलङ्ग तथा युक्तप्रान्तमें इसको नरक चतुर्दशी कहते हैं। वहाँ इसदिन यम आदिका तर्पण किया जाता है। युक्तप्रान्तमें यमतर्पण, दीपदान, अपामार्ग भ्रामण, अभ्यंगस्नान आदि किया जाता है, उत्कलमें यमतर्पण और अपामार्ग भ्रामण होता है। युक्तप्रान्तमें इस दिन हनुमज्जयन्ती भी मनायी जाती है।

कार्तिकी पूर्णिमा—इसको रासपूर्णिमा भी कहते हैं। बङ्गाल और उत्कलमें इस दिन रासयात्रा होती है। बङ्गाल व उत्कलमें इसे व्यासपूर्णिमा कहते हैं और व्यासदेवकी पूजा करते हैं। महाराष्ट्र, कर्णाट और तैलंगमें तथा मिथिलामें इसे मन्वादि मानते हैं। मिथिलामें इसदिन सब देवता शयनसे उठते हैं ऐसा माना जाता है। उत्कलमें इसदिन रासयात्राकी समाप्ति एवं गोस्वामी मतसे धात्रीव्रत्त होता है। दाक्षिणात्यमें इसदिन त्रिपुरोत्सव नामक पर्व होता है। इसदिन महादेवका पूजन और सायंकाल दीपदान होता है। युक्तप्रान्त आदिमें इसदिन गंगास्नानका बड़ा माहात्म्य माना जाता है। रात्रिको स्त्रियाँ तुलसीपूजन भी करती हैं।

माघ शुक्ला पञ्चमी—इसको श्रीपंचमी या वसन्तोत्सव भी कहते हैं। वंगदेश तथा उत्कलमें प्रचलित है। तेलंग और द्राविड़में इसे लक्ष्मी-पञ्चमी कहते हैं। अन्यत्र युक्तप्रान्त आदिमें इसे वसन्तपञ्चमी कहते हैं और विष्णुकी पूजा व वसन्तोत्सव करते हैं।

फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी—इसको महाशिवरात्रिव्रत कहते हैं। यह व्रत सर्वत्र प्रचलित है, इसमें उपवास करके रात्रिके चार प्रहरमें चार बार शिवपूजनकी विधि है।

फाल्गुनी पूर्णिमा—इसको दोलयात्रा भी कहते हैं। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा होती है। बंगाल और उत्कलमें इस व्रतका नाम दोलयात्रा अन्यत्र इसका नाम होलिकोत्सव है। इसमें होलिकादहन नृत्य-गीतादि होते हैं। मिथिलामें इस दिनको कलियुगान्त भी कहते हैं।

चैत्र कृष्णाष्टमी—इस व्रतमें शाकद्वारा पितृगणका पार्वणश्राद्ध किया जाता है, इसलिये इसका नाम शाकाष्टका भी है। बंगाल, द्राविड़, उत्कल और मिथिलामें प्रचलित है। द्राविड़, उत्कल और तेलंगमें इसदिन सीताव्रत नामक एक व्रत भी किया जाता है। महाराष्ट्रमें इसदिन जानकीजन्म दिन मानकर उत्सव किया जाता है। जम्बूमें इसको जानक्यष्टमी कहते हैं। गुजरात और महाराष्ट्रमें कालाष्टमी भी कहते हैं और कालभैरवकी पूजा करते हैं। काश्मीरमें इसको "होरा इठं हेयत्" अर्थात् घरको साफ करनेका दिन कहते हैं। युक्तप्रान्तमें शीतलाष्टमी कहते हैं और शीतलापूजन कुमारिका भोजन आदि किया जाता है।

प्रतिमासकी पूर्णिमा—इसमें सत्यनारायणव्रत किया जाता है, सत्यनारायण विष्णुका व्रत, पूजा, कथा श्रवण,ब्राह्मण भोजन आदिकी विधि है। किसी कामनाकी पूर्तिकेलिये प्रतिपूर्णिमाको सत्यनारायण व्रत करनेका नियम है।

इन सब व्रतोंके सिवाय संक्रान्तिकृत्य और वारकृत्य नामसे कई एक व्रत किये जाते हैं। यथा—वैशाखमें महाविषुव संक्रान्ति, ज्येष्ठमें विष्णुपदी संक्रान्ति, श्रावणमें दक्षिणायन संक्रान्ति, माघमें उत्तरायण संक्रान्ति, चैत्रमें षडशीति संक्रान्ति इत्यादि। और वारकृत्यमें रविवारव्रत, सोमव्रत, मंगल चण्डीकी पूजारूपी मंगलव्रत, बुधवारका राजराजेश्वर व्रत, वृहस्पतिवारका नरसिंह त्रयोदशी व्रत इत्यादि।

इन सब व्रतोंका शास्त्रीय स्वरूप, व्रतकथा तथा व्रतविधान मूलग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है। यहाँपर बाहुल्य भयसे नहीं दिया गया।

व्रतोंका वर्णन करके अब उनकी महिमा तथा उपकारिताके विषयमें विचार किया जाता है। विधिपूर्वक व्रतानुष्ठान होनेपर शरीर, मन, बुद्धि तीनोंका या आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध कल्याण अवश्य प्राप्त होता है, यही व्रतकी परम महिमा तथा उपकारिता है। अब इनकी विस्तारित व्याख्या की जाती है।

व्रतोंसे आधिभौतिक लाभ—लोभादि वृत्ति मनुष्योंमें स्वाभाविक होनेके कारण पाचनशक्तिसे अधिक भोजन मनुष्य प्रायः कर लेता है, वही अपच अन्न उपजता हुआ अनेक प्रकारकी व्याधियोंका घर बन जाता है। व्रतके पूर्वदिन, व्रतके बीचमें या एकादशी आदि व्रतोंमें जो उपवास, फलाहार, लघु आहार या आहारसंयमकी विधियाँ हैं, उनसे अनायास ही पाकयन्त्रको विश्राम मिल जाता है और अपक्व अन्न पचकर शरीरको स्वस्थ बना देता है।

अमावस्या, पूर्णिमा, त्रयोदशी आदि जिन तिथियोंमें व्रत प्रारम्भ करनेका प्रायः विधान है, उन तिथियोंमें ग्रहोंका आकर्षण पृथिवीके जीवजन्तुओंपर अधिक रहता है। इसकारण उन तिथियोंमें उपवास या लघु आहार शारीरिक स्वास्थ्यकेलिये बहुत ही उपकारी होता है।

अनेक चिकित्साओंसे थककर अब पश्चिमियोंने शारीरिक नीरोगताके लिये उपवास-चिकित्साकी ही सबसे अधिक महिमा बताई है। इस महिमाका स्वाभाविक अनुभव पूज्यपाद त्रिकालदर्शी, तत्त्वदर्शी महर्षियोंकी कृपासे व्रतोंमें यथेष्ट हो जाता है।

सभी खाद्य वस्तुओंमें स्वाभाविक लोभ होनेपर भी प्रकृति अनुसार किसी खास वस्तुमें मनुष्यका लोभ रहता है। उसी वस्तुके नित्य उपभोगसे 'घृताहुत वह्नि'की तरह लोभ उत्तरोत्तर बढ़कर स्थूल सूक्ष्म अनेक असुविधाओंको उत्पन्न कर देता है। व्रतके

बढ़ानेसे बीच-बीचमें उस वस्तुका त्याग होने पर स्वतः ही लोभ घट जाता है, जिससे शारीरिक मानसिक दोनों ही लाभ है।

नियम ही धर्म है, अनियमित, उच्छृङ्खल स्वभावको जो शक्ति नियमित करे, उसका नाम धर्म है। मनुष्य अपने शारीरिक ऐन्द्रियिक मानसिक स्वभावोंको किसी नियम (Discipline) के भीतर डालकर ही उन्हें अपने वशमें ला सकता है। अनियमित स्वभाव उद्दाम बनकर बेलगाम घोड़ेकी तरह मनुष्यको विविधविपत्तिके खड्डेमें डाल देता है। व्रतकी विधियोंमें आहार-विहारका ऐसा सुन्दर नियम रख दिया गया है कि उससे उद्दाम प्रवृत्तियाँ खुद व खुद काबूमें आजाती हैं और मनुष्योंको क्रमशः उन्नत बनाकर आध्यात्मिक पथमें सुप्रवृत्त कर देती हैं। यही व्रतकी नियमित जीवन (Disciplined life)बनाने वाली अपूर्व शक्ति है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें उपदेश किया है—

'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः'।

आहार या आहरण न होनेसे विषयवृत्ति नष्ट होती है। अन्नके रससे इन्द्रियोंमें बलाधान होकर उनकी उत्तेजना होती है। पूर्णिमा, अमावस्या आदि खास खास तिथियोंमें चन्द्रादिग्रहों उपग्रहोंके आकर्षणसे इसका सञ्चार और भी अधिक हो जाता है जिससे ब्रह्मचर्यमें विकार या मनमें विकार होना सम्भव हो जाता है। व्रतकी उपवास-विधि या स्वल्पाहार विधि द्वारा इन्द्रियोंमें रससञ्चार कम होता है, जिसमें ब्रह्मचर्यरक्षा तथा मनःसंयममें विशेष सहायता मिलती है।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको आचार कहते हैं। आचारके शारीरिक व्यापारमें धर्म रहनेके कारण वह व्यापार नियमित रहता है, अनर्गल नहीं होने पाता है। ऐसा ही व्रतके अनुष्ठानमें भी खानपान, रहन-सहन, आहार-विहार सभी उद्योगमें नियम रहनेके कारण वह सर्वथा आचार विज्ञानके अनुकूल होता है और व्रती अनायास ही सदाचारी बनकर प्रथम धर्मके अनुष्ठानद्वारा अन्तिम धर्म तकके अधिकारको प्राप्त कर लेता है।

ऋतुके विचारसे खाद्यवस्तुओंका अदल-बदल कर देनेपर स्वास्थ्य ठीक रहता है। ऋतुके विपरीत अन्न खानेसे मनुष्य बीमार हो जाता है। इसलिये जिस ऋतुमें जो व्रत है, उसमें आहारकी विधि भी ऋतु अनुकूल ही रक्खी गई है। जैसा कि चैत्रमासमें सम्वत्सर प्रतिपदाका व्रत होता है। चैत्रमास वसन्त ऋतु है, इसमें रक्त साफ न रहनेसे चेचक आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें जो वसन्तमें मधुका सेवन लिखा है, उसका भी यही कारण है, और यही कारण है कि सम्वत्सर प्रतिपदाव्रतमें

रक्तशोधक नीम तथा मिश्रीका सेवन लिखा है। इस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमें किये जानेवाले अक्षयतृतीयाव्रतमें ठण्डा ओलेका पानी, दही आदि खाने खिलानेकी विधि है। दो महीने वर्षाके और दो महीने शरत्के स्वास्थ्यकेलिये बहुत ही हानिकर हैं। 'जीवेत् शरदः शतम्' सौ शरत्-ऋतु जीवे ऐसा कहकर वेदने भी शरत् कालमें जीनेको ही जीना कहा है, क्योंकि इसीमें मरनेकी आशंका विशेष रहती है। इसी कारण फलाहार आदि करके इन चार महीनोंमें चातुर्मास्य व्रत बताया गया है। शरत्में पित्तका प्रकोप और वर्षात्में बात, पित्त, कफ तीनोंका प्रकोप रहता है। इस लिये इन महीनोंके विषयमें लिखा है—

श्रावणे वर्जयेच्छाकं दधि भाद्रपदे तथा।
दुग्धमाश्वयुजे मासि कार्त्तिके द्विदलं त्यजेत्॥

श्रावणमें शाक, भादोंमें दही, आश्विनमें दूध और कार्त्तिकमें दाल न खानी चाहिये। जो मनुष्य इन महीनोंमें जौ और चावल मात्र खाकर रहता वह पुत्रपौत्रको प्राप्त करता है और जो शाकान्न नहीं खाता है वह विष्णुभक्त होता है। रात्रिके भोजन त्यागमें स्वर्गको जाता है, परान्न भोजन न करनेसे देवता बनता है, चान्द्रायणसे शिवलोकको पाता है और दूधमात्र पीकर रहनेसे कुलका उच्छेद नहीं होता। जो मनुष्य चातुर्मास्यमें सब प्रकारके तेल-फुलेलोंको त्यागता, नख-रोम नहीं कटाता, बेगन, कोहड़ा, गाजर, मसूर, मूली, करोंदा आदि पदार्थोंको नहीं खाता, वह स्वर्गसुख लाभ करता है। इत्यादि कितने ही प्रकारसे इन चार महीनोंमें भोजनमें संयम करना बताया गया है। इसीप्रकार मकरसंक्रान्ति व्रतके विषयमें भी लिखा है—

माघे मासि महादेव! यः कुर्याद् घृतकम्बलम्।
स भुक्त्वा सकलान् भोगानन्ते मोक्षं च विन्दति॥

पौष और माघ मासमें घृत तथा कम्बल दान करनेसे भोग मोक्षकी प्राप्ति होती है। शीतकालमें शीतनिवारणार्थ कम्बलकी आवश्यकता होती ही है और शीतकालमें परिपाक शक्ति बढ़ जानेसे घृतभोजन भी लाभदायक होता है। अतः इसका दान तथा भोजन व्रतमें बिहित हुआ है। इसके सिवाय मकरसंक्रान्तिमें गङ्गास्नान और माघमासमें गङ्गा तटपर कल्पवासकी बहुत ही महिमा बताई गई है। क्योंकि शीतकालका गङ्गाजल ही असल गङ्गाजल है। उसमें वर्षात्का खराब जल तथा ग्रीष्मका वर्फ जल मिला हुआ नहीं रहता है। इस कारण इन दिनों गङ्गास्नान, गङ्गाजलपान, गङ्गातीरवास तथा गङ्गाके वायु सेवनसे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीको विशेष लाभ पहुँचता है। इस प्रकारसे

व्रतोंके अनुष्ठान द्वारा मनुष्योंको असीम आधिभौतिक उपकार प्राप्त होता है। अतःपर व्रतोंसे आधिदैविक लाभके विषयमें विचार किया जाता है।

व्रतोंसे आधिदैविक लाभ—नित्य नैमित्तिक काम्य सभी व्रतोंमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मनका संयम तथा विविधप्रकार तपस्याओंका विधान है। यह बात पहिले ही कही गई है कि समस्त संयम या तप निष्कामभावसे अनुष्ठित होनेपर आत्मोन्नतिका कारण बनता है और सकाम भावसे अनुष्ठित होनेपर विविध विभूतिओंको प्रदान करता है। आँखोंके संयम करनेवाले दिव्यनेत्र बनते हैं, वाक्संयमी वाक्सिद्ध या सुवक्ता बनते हैं, लोभके संयमसे परलोक या परजन्ममें धनियोंके कुलमें उत्पत्ति तथा उपादेय द्रव्योंकी प्राप्ति होती है, कामेन्द्रियके संयमसे दिव्यलोकविहारिणी दिव्यस्त्रियाँ मिलती हैं और परजन्ममें भी स्त्रीभाग्य अच्छा होता है, इत्यादि इत्यादि सब व्रतोंमें विहित सकाम तपस्याओंके फल हैं।

संसारमें जितने प्रकारकी दैवी विभूतियाँ देखी जाती हैं, सभी तपस्याओंके फलसे उपलब्ध हैं, इस विषयमें आर्यशास्त्रमें भूरि भूरि प्रमाण मिलते हैं। मनुसंहितामें लिखा है—

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलाऽनिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वन्तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥
कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्॥
तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् सम्वर्द्धयन्ति च॥
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवाऽसृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥

फलमूल वायुभोजी संयतात्मा ऋषिगण तपस्याके ही बलसे त्रिभुवनका दर्शन करते हैं। अनेक प्रकारकी दिव्य औषधियाँ, चिकित्सा विद्या, दैवीविभूतियाँ—तपस्याके बलसे ही प्राप्त होती हैं। जो कुछ दुस्तर, दुष्प्राप्य, दुर्लभ या दुष्कर है, तपस्याके द्वारा ही ये सब सिद्ध होते हैं। कीट, सर्प, पतङ्ग, पशु, पक्षी, स्थावर जीवगण तपस्याके बलसे स्वर्गतक पहुँच सकते हैं। देवतागण तपः पवित्र ब्राह्मणोंका ही यज्ञभाग ग्रहण तथा उन्हें ईप्सित फलदान करते हैं। प्रजापति ब्रह्माने तपोबलसे ही सृष्टि की थी और महर्षियोंने तपोबलके द्वारा ही वेद प्राप्त किया था। और भी महाभारतमें—

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः ।
संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥
मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः ।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत्सर्वं तपसः फलम् ॥
कौशिकानि च वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च ।
वाहनासनपानानि तत्सर्वं तपसः फलम् ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेवा, साध्य, पितृ, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध, अन्यान्य देवतागण तथा स्वर्गवासिगण—इन सबको तपस्याके द्वारा ही दिव्यलोक, दिव्यविभूति तथा दिव्यसुख प्राप्त हुए हैं। इस मर्त्यलोकमें भी तपस्याके ही बलसे बड़े-बड़े राजे-महाराजे होते हैं और उच्च धनियोंके कुलमें जन्मलाभ होता है। सुन्दर वस्त्र, अलंकार, हाथी, घोड़े, उत्तम-खान पान सभी कुछ तपोबलसे ही प्राप्त होते हैं। नित्य नैमित्तिक काम्य तीनों व्रतोंमें ही दैवीविभूति प्रदान-कारी ऐसे अनेक तपोंके विधान देखनेमें आते हैं।

प्रत्येक व्रतमें कुछ न कुछ देवोपासना अवश्य विहित है। कहीं विष्णुपूजा, कहीं शिवपूजा, कहीं देवीपूजा, कहीं लक्ष्मीपूजा, कहीं गणपतिपूजा इस तरह कई एक पूजाओंका विधान व्रतमें किया गया है। देवपूजा सकाम या निष्काम हो, विधिपूर्वक होनेसे अधिदैवलाभ बहुत कुछ होता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इष्टकी प्रसन्नतासे आधिभौतिक धन-सुखादि प्राप्तिके साथ-साथ अधिदैवसिद्धियाँ भी बहुत कुछ मिलती हैं। इष्टमें तन्मयता द्वारा उनकी सर्वशक्तिमत्ताका अंश साधकको अवश्य ही

मिल जाता है। उनके दिव्य गुणोंका भी प्रभाव साधकको अति उच्चकोटिका महात्मा बना देता है। भक्त साधक इष्टदेवके शक्तिसागरमें अवगाहन स्नान करता हुआ शरीर, मन, प्राण, आत्मा, सभीको आप्यायित तथा भरपूर बना लेता है। यही सब व्रतोंसे आधिदैविक लाभ है।

व्रतोंसे आध्यात्मिक लाभ—व्रताङ्गमें जिन अनुष्ठानोंका विधान है, उनसे आत्माका प्रचुर कल्याण होता है, इसमें सन्देह ही क्या है? वहिरिन्द्रियोंका संयम, अन्तरिद्रियोंका संयम, यम-नियम-ब्रह्मचर्य-सदाचार-सात्त्विक आहार-विहार—यह सब व्रतका प्राण है, इनके पालन किये बिना व्रतमें सफलता कभी हो ही नहीं सकती। और यही सब अनुष्ठान आध्यात्मिक उन्नतिका भी मूलमन्त्र है। उपनिषद् में लिखा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा आत्मोपलब्धिका पथ निष्कण्टक हो जाता है। व्रतकालमें मिथ्या बोलना निषेध है, ब्रह्मचर्यरक्षा विहित है, उपवास, फलाहार आदि द्वारा शारीरिक तपस्या, मौन रहकर वाचनिक तपस्या, मनोवृत्तिनिरोधरूप मानसिक तपस्या इत्यादि सभी कुछ करना होता है, जिससे व्रतपूर्त्ति द्वारा व्रतीका आध्यात्मिक स्थिति बहुत ही सराहनीय हो जाती है।

उपनिषद्में लिखा है—

तपसा कल्मषं हन्ति, विद्ययामृतमश्नुते।

जिस प्रकार सोनेका मल उसे तपानेपर निकल जाता है, ऐसा ही तपस्याके द्वारा शरीर-मनको तपानेपर वे निष्पाप निर्मल बन जाते हैं। ऐसे निर्मल अन्तःकरणमें ही आत्मिक ज्ञान ठहर सकता है। नित्य नैमित्तिक काम्य तीनों व्रतोंमें ही प्रायश्चित आदि कितने ही शरीर-मन तपानेके विधान महर्षियोंने किये हैं, जिनके द्वारा अन्तःकरण निर्मल होकर आत्माभास ग्रहणके योग्य हो जाता है।

आहार निवृत्तिसे विषयनिवृत्ति होती है, भगवद्गीताका यह प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। विषय-निवृत्ति ही मुक्तिका द्वार है। 'बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः' विषयासक्त मन बन्धनका और विषयशून्य मन मोक्षका कारण है। व्रतोंमें निराहार, स्वल्पाहारका विशेष विधान है। अतः व्रतोंमें आहारनिवृत्ति द्वारा विषयनिवृत्ति करके मुक्तिपथ प्रशस्त करनेके उपाय बताये गये हैं, यही सिद्ध हुआ।

आहारनिवृत्ति एकबारगी न हो, किन्तु आहारशुद्धि हो या युक्ताहार हो, उसमें भी योगपथ प्रशस्त तथा आत्मोन्नतिका मार्ग सरल हो जाता है। युक्ताहार युक्तविहार पुरुषका योग दुःखनाशक तथा आत्मोन्नतिप्रद होता है, इसका उपदेश श्रीभगवान्ने गीतामें किया है। श्रुतिमें लिखा है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिस्ततो ग्रन्थिप्रमोक्षः"। शुद्ध आहारसे सात्त्विक शक्ति बढ़ती है और उससे आत्मस्मृति प्रबुद्ध होकर मायाकी ग्रन्थिसे जीवका छुटकारा हो जाता है। व्रतोंमें आहारशुद्धि तथा युक्ताहारका विशेष विधान रहता है। निरामिष सात्त्विक द्रव्योंका सेवन, राजसिक तामसिक वस्तुओंका वर्जन, नियमित भोजन—ये सभी शरीर, मन, बुद्धिको शुद्ध सात्त्विक तथा आत्मोपलब्धिके योग्य बना दिया करते हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

एकाग्र चित्तसे इष्टध्यान तथा इष्टजप करना प्रत्येक व्रतमें विशेषरूपसे विहित है। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' 'ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः' इष्टमें चित्तके एकतान हो जानेका नाम ध्यान है। उससे आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है। ध्यानके द्वारा ध्येयमें चित्त निविष्ट होता है। अनुराग तथा प्रेमभक्तिपूर्वक निविष्ट चित्तसे ध्येय देवका ध्यान करते करते देवताका दर्शन होता है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

> पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
> प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
> रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
> साकं वाचं स्पृहणीयां गृणन्ति॥

इष्टध्यानपरायण व्रती ध्यानके परिपाकमें इष्टदेवकी मधुर मूर्त्तिके दर्शन करते हैं और उनसे बोलते तथा वरदान माँगते हैं। और भी—

> तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
> स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः।

इष्टदेवके दर्शनसे समस्त पाप कट जाता है और अन्तःकरण निर्मल होकर स्वरूपमें स्थित हो जाता है। इस प्रकारसे व्रतविहित इष्टध्यान द्वारा इष्टदर्शन तथा आध्यात्मिक लाभ अवश्यम्भावी है। ध्यानकी तरह जपके द्वारा भी विशेष फललाभ तथा आध्यात्मिक उन्नति लाभ होता है। गीतामें 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर श्रीभगवान्ने जपकी भी विशेषमहिमा बता दी है। 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' इस सूत्रके

द्वारा महर्षि पतञ्जलिने यही कहा है कि प्रणवादि जपसे भगवद्दर्शन होते हैं। 'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः' जपसे निश्चित ही सिद्धि मिलती है यह योगशास्त्रका वचन है। मन्त्रके साथ देवताका वाच्यवाचक सम्बन्ध रहता है, मन्त्र देवताका दिव्य नाम है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रके द्वारा महर्षि पतञ्जलिने इसी विज्ञानको बताया है। जिस प्रकार नाम लेकर पुकारनेपर मनुष्य उत्तर देता है, ऐसे ही दिव्यनाम-मन्त्रका जप करनेपर इष्टदेव प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं, दर्शन देते हैं। यही नाम जप, मन्त्रजपका फल है। व्रतमें जप, पुरश्चरण आदि कितनी ही क्रियाएँ बताई गई हैं, जिनके विधिपूर्वक अनुष्ठानसे अभीष्ट फल लाभ, इष्टदर्शन और यथेष्ट आध्यात्मिक लाभ होता है।

ध्यानके अन्तमें ध्याता ध्येयकी एकता और जपके परिणाममें मन्त्रदेवताकी एकता होनेपर समाधि हो जाती है। इसके विषयमें उपनिषद्में लिखा है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिमें अन्तःकरण परमात्मामें विलीन हो जानेपर आनन्दमय आत्माको निरतिशय, असीम आनन्द मिलने लगता है। वह आनन्द शब्दसे वर्णन करने योग्य नहीं है।

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'
'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'

वह असीम आनन्द इन्द्रियोंसे अतीत, योगबुद्धिसे अनुभव करने योग्य है। इसके पानेसे सांसारिक कोई भी वस्तु इससे अधिक उत्तम नहीं मालूम पड़ती है। यही मनुष्यजन्मका अन्तिम सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है। व्रतके आध्यात्मिक लाभमें उपासना-परायण व्रतीको यही अनोखा लाभ मिलता है। इस प्रकारसे व्रतानुष्ठान द्वारा आधि-भौतिक, आधिदैविक आध्यात्मिक त्रिविध कल्याण प्राप्त होते हैं।

ऊपर वर्णित त्रिविध कल्याणके अतिरिक्त व्रतोंसे बहुत कुछ शिक्षा भी मिलती है। चैत्रमासमें अरुन्धती व्रत करनेवाली स्त्री जब स्कन्दपुराणोक्त इस व्रतकी कथा सुनने लगती है तो पार्वतीके प्रति पशुपतिनाथके निम्नलिखित उपदेशात्मक श्लोक भी उन्हें सुननेमें आते हैं, यथा—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो वा स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥

सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत्॥

निर्दोषा, कुलीन, अपनी सती स्त्रीको छोड़कर जो परस्त्रीमें रत हो जाता है या परस्त्रीको अपने घरमें डाल लेता है उसको इस पापसे परजन्ममें स्त्रीजन्म तथा बालवैधव्य मिलता है। इसीप्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर एकान्तमें परपुरुषके साथ व्यभिचार करती है, उसको भी आगे जन्ममें बालवैधव्य प्राप्त होता है। स्त्रीपुरुष दोनोंके सच्चरित्र बने रहनेके लिये इस व्रतमें कैसी उत्तम शिक्षा दी गई है सो पाठकमात्र ही समझेंगे।

ज्येष्ठमासमें अनुष्ठानयोग्य वटसावित्रीव्रतमें जहाँपर सत्यवान्को अल्पायु जानकर अश्वपति अपनी पुत्री सावित्रीसे कहते हैं कि "अन्य किसीको पतिरूपसे वरण करो" उस समय सावित्री उत्तर देती है—

नान्यमिच्छाम्यहं तात! मनसाऽपि वरं प्रभो।
यो मया च वृतो भर्त्ता स मे नान्यो भविष्यति॥
पतिं मत्वा न मे बुद्धिर्विचलेच्च कथंचन।
सगुणो निर्गुणो वापि मूर्खः पण्डित एव वा॥
दीर्घायुरथ चाल्पायुः स वै भर्त्ता मम प्रभो!
नान्यं वृणोमि भर्त्तारं यदि वा स्याच्छचीपतिः॥

पिताजी, मैं मनसे भी अन्य पुरुषको वरण नहीं कर सकती, जिनको एक बार पतिरूपसे वरण किया, वे ही सदाके लिये पति रहेंगे। सत्यवान्को अल्पायु जानकर मेरी बुद्धि विचलित नहीं होती। वे गुणवान् या गुणहीन हों मूर्ख या पण्डित हों, दीर्घायु या अल्पायु हों, मेरे पति वे हो चुके हैं, यदि साक्षात् इन्द्र भी पतिरूपसे आवें मैं उन्हें वरण नहीं करती। इन शब्दोंमें पातिव्रत्यकी कितनी महिमा और सती स्त्रीका कितना तेज तथा अमोघ सत्य संकल्प भरा हुआ है सो विचारवान् व्यक्तिमात्र ही समझ सकता है।

विपत्तिके समय पतिव्रता स्त्रीको किस तरह पतिका साथ देना चाहिये इसका ज्वलन्त दृष्टान्त सावित्री देवीने अपने चरित्र द्वारा संसारको दिखा दिया है। सत्यवान्-

की मृत्यु एक वर्षके बाद होगी ऐसा जानकर भी सावित्रीने उन्हें नहीं छोड़ा, किन्तु अपनी तपस्याके बलसे मृतपतिको भी जीवित करा लिया। केवल इतना ही नहीं, सुशीला स्त्रीका कर्त्तव्य जो श्वशुरकुल, पितृकुल दोनोंकी भलाई करनी है, सो भी सावित्री देवीने पूरा कर दिया। यमराजको सन्तुष्ट करके पहिले अपने श्वशुर द्युमत्सेनको खोया हुआ राज्य दिला दिया तदनन्तर अपने अपत्यहीन पिताको पुत्र दिला दिया और अन्तमें अपना उद्देश्य पूरा किया। यह सभी गृहस्थ नरनारियोंके लिये आदर्श शिक्षाप्रद दृष्टान्त है।

श्रावणमासमें नागपंचमीके दिन जो सर्प तककी पूजा आर्यशास्त्रमें लिखी हुई है उससे क्या यह शिक्षा नहीं मिलती है, कि आर्यजाति शत्रु-मित्रका भेद न विचार करके केवल भगवान्की विभूतिविचारसे सकल जीवोंमें भगवत्शक्तिकी उपासना करनेवाली है। सर्प मनुष्यका शत्रु है, क्षणमें ही प्राणनाश करने वाला है, किन्तु नाशकी विभूति, श्रीभगवान्की रुद्रशक्ति उसमें प्रचण्डरूपसे भरी हुई है, इसकारण रुद्रपूजाकी तरह सर्पपूजा भी साम्यबुद्धिसे अवश्य कर्त्तव्य है।

मित्रकी आदर, अभ्यर्थना संसारमें सभी करते हैं, किन्तु शत्रुमें यदि गुण हो तो उसकी भी पूजा करनी चाहिये यही महान् उपदेश नागपञ्चमी व्रतसे प्राप्त होता है।

परमात्मा घटघटमें विराजमान हैं ऐसा जानकर सभीसे प्रीति करनी चाहिये यह उपदेश आर्यशास्त्रमें कितने ही स्थानोंमें दिया गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥

सकलभूतोंमें जीवात्मारूपसे श्रीभगवान् बसे हुए हैं, इसलिये मित्रदृष्टिसे सबसे प्रेम तथा सबका मान करना चाहिये। श्रावण महीनेमें जो 'रक्षाबन्धन' त्योहार आता है उसमें इस विज्ञानकी अच्छी स्मृति दिलाई जाती है। क्योंकि विज्ञान जबतक मनुष्य जीवनमें कार्य रूपमें प्रकट नहीं होता, तबतक उसकी पूरी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि श्रावणशुक्ल पूर्णिमाके दिन भाई बहिन, मित्र मित्र, छोटे बड़े भाई परस्परके हाथमें राखी बाँधकर हार्दिक मेल तथा प्रेमका परिचय प्रदान करते हैं। और इसका फल भविष्योत्तरपुराणमें यही लिखा है कि—

'इन्द्राण्या यत् कृतं पूर्वं शक्रस्य जयवृद्धये।'

इन्द्रकी राज्यलक्ष्मी जब असुरोंके हाथमें चली गई थी तो इन्द्राणीने रक्षाबन्धन द्वारा ही उसे पुनः प्राप्त कर ली थी। वास्तवमें भाई भाई, स्वजन कुटुम्बोंकी एकता

ही राज्यलक्ष्मीको लाती है और भ्रातृविरोध ही राज्यलक्ष्मीको विदेशियोंके हाथमें डाल देता है, यही शिक्षा रक्षाबन्धन पर्वसे हमें प्राप्त होती है ।

भगवान् अपने भक्तकेलिये क्या कुछ नहीं करते इसका ज्वलन्त प्रमाण नृसिंहचतुर्दशी व्रतसे प्राप्त होता है । भगवान्ने भक्तशिरोमणि प्रह्लादके लिये षण्डामार्कका बेत खाया, प्राणनाशकारी हलाहल पान किया, अग्निप्रवेश किया, समुद्र प्रवेश किया, सर्पदंशन दुःख देखा, करिकरनिपीड़न प्राप्त किया। अन्तमें—

सत्यं विधातुं निजभक्तभाषितं, व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ॥

निराकार होने पर भी भक्त बचनको ही सत्य करनेके लिये अद्भुत नृसिंहरूप धारण कर लिया ।

मनुष्य या राजा चाहे कितना ही प्रतापी क्यों न हो, यदि वह अत्याचारी, प्रजापीड़क, भगवन्नामनाशक, पापपरायण, सज्जनोंको दुःख देनेवाला हो जाय तो उसका नाश अवश्यम्भावी है । हिरण्यकशिपु कितना बड़ा प्रतापी था, दैववरसे अजेय अमर था, किन्तु पापका गुरुभार पूर्ण हो जानेपर समस्त प्रताप मिट्टीमें मिल गया और नखसे फाड़ कर मार दिया गया । इस कारण संसारमें शक्तिका मद नाशका ही कारण होता है, यह भी शिक्षा इस व्रतसे मिलती है ।

श्रीभगवान्को धार्मिक सत्याग्रह बड़ा प्रिय है—चाहे अत्याचारी पिता क्यों न हो, मातुल क्यों न हो, भाई क्यों न हो, राजा क्यों न हो, उसके विरुद्ध कोई धार्मिक पुरुष यदि सत्याग्रह करे और दुर्बल, असहाय, निरस्त्र होनेपर भी अपने सत्यसंकल्पपर डटे रहे तो संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है, कि उस सत्यपथारूढ़ पुरुषका नाश कर सके, क्योंकि उसके सहायक भगवान् होते हैं । प्रह्लादकी भी ऐसी रक्षा श्रीभगवान्ने की, विभीषण तथा वसुदेव देवकीकी ऐसी रक्षा भी श्रीभगवान्ने की । यह अत्युत्तम शिक्षा नृसिंहचतुर्दशीव्रतमें प्राप्त होती है ।

चाहे वंशमें कितने ही पापी जीव क्यों न उत्पन्न हो जायँ, यदि एक भी भगवद्भक्त महात्मा उत्पन्न हो तो इक्कीस पीढ़ी तक सबके सब तर जाते हैं, यह भी रहस्य इस व्रतसे जाना जाता है । क्योंकि नृसिंह भगवान्ने प्रह्लादके वर माँगनेपर उनके पापी पिताके उद्धारके विषयमें यही उत्तर दिया था ।

कितने ही दृष्टान्त दिये जायँ, ऐसी अनन्त शिक्षायें व्रतोंसे प्राप्त होती हैं ।

कालके प्रतापसे हिन्दुव्रतोंके साथ कहीं कहीं अनेक प्रकारकी कुरीतियाँ मिला दी गई हैं और कहीं कहीं व्रतोंके नामसे अनेक प्रकारके कदाचार, अनाचार, अत्याचार

भी हुआ करते हैं। दृष्टान्तरूपसे दो चार त्योहारोंका वर्णन किया जाता है। होलिकोत्सवके विषयमें नारदीयपुराणमें लिखा है—

फाल्गुने पौर्णिमायान्तु होलिकापूजनं स्मृतम्।
संचयं सर्वकाष्ठानां पलालानां च कारयेत्॥

फाल्गुनमासकी पूर्णिमामें होलिकापूजन होता है, उसमें लकड़ी तथा घास फूसका एक ढेर लगा कर रक्षोघ्न वेद मन्त्रोंसे हवन करनेकी विधि है। वेदमन्त्र यथा—

ॐ रक्षोहणं बलगहनं वैष्णवीमिदमहं बलगमुत्किरामि स्वाहा। इत्यादि मन्त्रोंसे हवन करके पश्चात् होलिकापूजनकी विधि है। इसका मन्त्र यथा—

अहकूटाभयत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूति-भूति प्रदायिनीम्॥

हे होलि! अहकूटा राक्षसी के भयसे भीत बालकोंने उसके मारनेके लिये तुम्हारी प्रतिष्ठा की है, इसलिये मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। तुम्हारा भस्म मुझे ऐश्वर्यप्रदान करे। इसके सिवाय दोलोत्सवके विषयमें भी ब्रह्मपुराणमें लिखा है—

नरो दोलागतं दृष्ट्वा गोविन्दं पुरुषोत्तमम्।
फाल्गुन्यां संयतो भूत्वा गोविन्दस्य पुरं व्रजेत्॥

फाल्गुनपूर्णिमाके दिन पुरुषोत्तम गोविन्दको हिण्डोलेमें झूलते देखनेसे विष्णुलोकप्राप्ति होती है। होलीके सम्बन्धसे वङ्गदेशमें यह भी उत्सव होता है जिसको दोलोत्सव कहते हैं। भविष्यपुराणमें महाराजा युधिष्ठिरसे देवर्षि नारदनेकहा है—

अथ पंचदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप।
अभयं चैव लोकानां दीयतां परमेश्वर॥
यथा ह्यशंकिनो लोका रमन्ति च हसन्ति च।
दारुजानि च खंडानि गृहीत्वा तु समुत्सुकाः॥
योधा इव विनिर्यान्तु शिशवः संप्रहर्षिताः।
संचयं शुष्ककाष्ठानामुपलानां च संचयम्॥
तत्राग्निं विधिवत् हुत्वा महामन्त्रैश्च वित्तमैः।
ततः किलकिलाशब्दैस्तालशब्दैर्मनोहरैः॥

तेन शब्देन सा पापा होमेन च समाकृता ।
सर्वदुष्टापहो होमः सर्वरोगोपशान्तये ॥
क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ तेन सा होलिका स्मृता ॥

हे राजन् ! फाल्गुनशुक्ला पूर्णिमाको सब मनुष्योंके लिये अभयदान देना चाहिये, जिससे निःशंक हो लोग हंसें और खेलें । लकड़ीके टुकड़ोंको लेकर वीरोंकी तरह लड़के सब गाँवसे बाहर जायँ और लकड़ी-कराडे आदिका ढेर लगाकर विधिवत् हवन करें । वह पापिनी ढुराढा राक्षसी मन्त्र, हवन, किलकिला शब्द तथा ताली बजानेसे नष्ट हो जाती है । होम ही सकलप्रकारका दोष तथा रोगनाशक है । इसी कारण इसको होलिका कहते हैं । पूर्वकी ओरके कुछ लोग इसको कृष्णसम्बन्धी त्यौहार मानते हैं और होलिका पूतना राक्षसी है,—ऐसा कहते हैं । राजपुतानेके कुछ लोग हिरण्यकशिपुकी भगिनी और प्रह्लादकी घटनासे सम्बन्ध मानते हैं । प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्यकशिपुकी भगिनी उन्हें अग्निमें लेकर बैठी, किन्तु भगवद्भक्त प्रह्लादके प्रतापसे वह स्वयं जल गई, प्रह्लादको कुछ न हुआ । दक्षिणके लोग इसे कामदहनका स्मारक मानते हैं । देवादिदेव महादेवने जिस तृतीय नेत्रकी अग्निसे मदनको मार दिया था, उसी अग्निको होलिकाग्नि मानकर उत्सव करते हैं ।

इस प्रकारसे होली त्यौहारमें अग्न्युत्सव करना, हास्यगीत आदि करना रंग-गुलाल आदि सभ्यताके साथ खेलते रहना यह सब तो शास्त्र में लिखा है । किन्तु होलीके नामसे कहीं कहीं स्त्री-पुरुष निर्लज्ज होकर जो वीभत्स रसके गाने गाते रहते हैं फोस दिल्लगी करते रहते हैं, भांग, अफीम, गांजा तथा शराब पीकर उन्मत्त होते रहते हैं, साल भरके नारदानोंकी गन्दगीको लेकर मनुष्योंपर फेंकते हैं, रास्ता चलते आदमियोंका मुँह काला कर देते हैं—ये सब बहुत ही अनाचार, अत्याचार हैं, इनको त्याग देना चाहिये ।

दूसरा त्यौहार दीपावलीका है, जिसमें यह कुरीति फैली हुई है, कि छोटे-बड़े सब लोग जुएमें मत्त हो जाते हैं और इसीसे कितने ही झगड़े, भाई-भाईमें विरोध, सर्वनाश, मुकद्दमें आदि उत्पन्न होते हैं । यह भी सर्वथा त्यागने योग्य है ।

तीसरा त्यौहार गणेश चतुर्थीका है । इसको किसी किसी प्रदेशमें 'पथरा चौथ' कहते हैं और इसके नामसे रात्रिके समय एक दूसरेके मकानपर पत्थर फेंकते हैं । यह बड़ी कुप्रथा है, इसमें सिर फूट जाते हैं, बुरी तरह चोट लगता है, आपसमें कलह बढ़ता है । अतः सर्वथा त्यागने योग्य है ।

इसी प्रकार शिवरात्रि व्रतके समय प्रायः लोग भांग बहुत पीकरके नशामें उन्मत्त हो जाते हैं और कहीं कहीं इससे भी उग्र नशेकी वस्तुओंका सेवन करते हैं, यह बहुत ही खराब रीति है। देवादिदेव महादेव समुद्रोत्पन्न विषपान कर नीलकण्ठ हो गये थे, उनपर विषका असर नहीं हुआ था। मनुष्यमें वह शक्ति तो नहीं है; केवल भाँग पीकर पागलपन करनेकी और पूजा बिगाड़नेकी शक्ति यह कितनी अफसोसकी बात है। इसी तरह आश्विनमें विजयादशमीके दिन भी बङ्गालके लोग प्रायः बहुत भाँग पी जाते हैं और इससे कहीं कहीं अनर्थ उत्पन्न हो जाता है। इस निन्दनीय प्रथाको भी त्याग देना चाहिये। ये ही सब अज्ञानसे उत्पन्न व्रतसम्बन्धीय कुरीति तथा अनाचरोंके दृष्टान्त हैं।

व्रतके विषयमें वर्णन करके अब उत्सवके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। व्रत संयमप्रधान और उत्सव आनन्दप्रधान है। क्योंकि संयमका फल आनन्द है। इसी कारण प्रत्येक व्रतके अन्तमें उत्सव करनेकी विधि है।

संयम प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म और उत्सव भी प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है। शीत ऋतुमें प्रकृतिका संयम और वसन्त ऋतुमें प्रकृतिका उत्सव है। ग्रीष्म ऋतुमें प्रकृतिका संयम और वर्षाऋतुमें प्रकृति का उत्सव है। यदि शीतऋतुमें प्रकृतिके समस्त अवयवमें इतना संकोच नहीं होता, तो वसन्तमें इतना विकाश नहीं हो सकता। सर्वत्र पुष्पराशिकी लहरी-लीला, विविधराग रञ्जित-कुसुमसुषमामण्डित-नवकिशलयसुशोभित तरुवरोंकी विचित्रता, शत-दल-सहस्रदल कमलसुगन्धित स्वच्छ मनोरम सरोवरोंकी तरङ्गभङ्गमयी उन्मत्तता, मधुपानपुष्ट प्रमत्त मधुकरोंकी गुञ्जारभरी उत्फुल्लता, सुधाकर सुधाधार सिञ्चित दिव्यज्योत्स्नामयी वासन्ती रजनीकी रमणीयता नयनमन प्राणको पागल नहीं कर सकती। यदि ग्रीष्मऋतुमें प्रचण्डमार्तण्डके कर्कश किरणोंसे पृथिवी इतनी जल भुन न जाती तो वर्षा ऋतुकी घर घर धारामयी हरी भरी हरियाली कदापि नजर नहीं आती और न मधुर गंभीर नवजलधर,ध्वनिश्रवणोन्मत्त परम सुन्दर मयूरोंका सुमधुर सुदर्शन नृत्य नयनगोचर होता। इसीलिये संयमके साथ उत्सव भी सदासे ही होता आया है। यही कारण है कि प्रत्येक व्रतके अन्तमें उत्सव किया जाता है।

संसारकी सभी जातियां अपनी अपनी आध्यात्मिक स्थितिके अनुसार व्रत तथा उत्सव किया करती हैं। ईसाइयोंमें व्रतको फाष्ट् (Fast) और उत्सवको फीष्ट् (Feast) कहते हैं। इष्टर, क्रिशमस् आदि त्यौहारोंमें वे ऐसा ही करते हैं। मुसलमानोंमें रमजान आदि व्रत रखना और उसके वाद उत्सव करना प्रचलित है। किन्तु इनके प्रायः मृत्यूत्सव होते हैं, जन्मोत्सव नहीं होते हैं। वास्तवमें मृत्युमें कोई

उत्सव नहीं हो सकता है, शोकप्रकाश ही हो सकता है, उत्सव आनन्दका सूचक है, शोकका नहीं। इसीकारण आर्यशास्त्रमें जन्मोत्सव, विजयोत्सव आदि उत्सव होते हैं, मृत्यूत्सव आदि कार्य अवैज्ञानिक, अनार्य जाति सुलभ है।

व्रतके साथ उत्सवका सम्बन्ध रहनेसे जिस प्रकारका व्रत है, उत्सव भी उसी प्रकारका होता है। मानस व्रतमें मानसिक उत्सव, अन्तःकरणमें आत्मप्रसादजन्य आनन्दका विकाश है। कायिकव्रतमें दैहिक उल्लास नृत्यादि है। वाचनिक व्रतमें वाचनिक उल्लास संगीतादि है। जिस अवयवका व्रतमें संयम है, उसी अवयवका उत्सवमें उल्लास है। मनःसंयमसे, मानसिक व्रतद्वारा अन्तःकरणको अन्तर्मुखीन करनेसे आत्मसुधाकरकी आनन्दरश्मि अन्तःकरणपर प्रतिफलित होती है और संयमी व्रतीको ब्रह्मानन्दका आस्वादन मिलता है। यथा गीतामें—

> शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
> आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
> युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
> सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (६ अ०)
> बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
> स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमध्यात्ममश्नुते॥ (५ अ०)

मनको विषयसे हटाकर आत्मामें ठहरावे, और कुछ भी चिन्ता न करे। इस तरह आत्मामें मनके लवलीन होनेपर पुण्यात्मा योगीको निरतिशय ब्रह्मसुख प्राप्त होता है। जिनका मन बाहिरी इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं फँसता है उनको आत्माका ही आनन्द मिलता है, ऐसे ब्रह्ममें योगयुक्त पुरुष नित्यानन्दका उपभोग करते हैं। यही मानस व्रतका अलौकिक, अनुपम आनन्दमय उत्सव है। वाचिक कायिक व्रतोंका उत्सव यथा श्रीमद्भागवतमें—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै-
> र्हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

व्रतके उत्सवमें भगवद्भक्त व्रती भगवान्के प्रति अनुरागसे द्रवचित्त होकर लोक-लज्जा छोड़ हंसते, रोते, गाते, नाचते रहते हैं। इस प्रकार उत्सवसे लाभ क्या होता

है, इस प्रश्नका उत्तर शास्त्रमें यह दिया गया है, कि "उत्सवमें उत्सवपात्र भगवद्विभूति तथा भगवदवतारादिके अलौकिक गुणग्राम हृद्गत होकर मनुष्यहृदयको शिवभावमें अवश्य ही भावित कर देते हैं। श्रीकृष्णजन्मके महोत्सवको मनाते समय पूर्णावतार नन्द-नन्दनकी अलौकिक सर्वाङ्गसम्पूर्ण चरित्र चिन्ताके द्वारा किसका हृदयकमल शत-दल कमलकी तरह प्रस्फुटित होकर श्रीभगवान्के चरण कमलोंमें उत्सर्गीकृत न होगा? नवघनश्याम भगवान् रामचन्द्रके दशानन विजयोत्सवको मनाते समय किस आर्यसन्तानकी पवित्र धमनीमें असुर-विजयमयी रुधिरधारा प्रवाहित न होगी? इसप्रकारके उत्सवों द्वारा मनुष्यहृदय अवश्य ही वीरता, धीरता, उदारता, आस्तिकता, धर्मप्राणता, महा-प्राणता, आध्यात्मिकता आदि देवदुर्लभ गुणोंका विकाशस्थल बन सकता है।" एक आख्यायिका है, कि "प्राचीन कालमें कुलशेखर नामका एक राजा नीलाचल पर्वतपर रहता था, जो सीतारामका बड़ा भक्त था। एक समय वह राजा वाल्मीकि रामायणकी कथा सुन रहा था। जिस समय कथा व्यासने कही, कि श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें रावण आया और जगज्जननी जनकनन्दिनीको पञ्चवटीसे चुराकर ले गया, उसीसमय इस घटनाको सुनकर शोकसन्तप्त राजा कुलशेखर अपने आपको भूल गया और अतीत वृत्तान्तको वर्त्तमानमें जानकर खड्ग हाथमें ले लंकापुरीकी ओर चलने लगा तथा सेतु-बन्धके पास क्षारसिन्धुके तटपर खड़ा हो गया। वह चाहता था कि समुद्रमें कूदकर दुष्ट रावणको दण्ड दे सीता माताको छुड़ा लावे। इतनेमें श्रीरामचन्द्र भगवान् सीता-सहित नावमें दिखाई दिये और उन्होंने कहा—"राजन्! मैं सीताको ले आया हूँ, अब तुम्हारे जानेकी आवश्यकता नहीं है। यही उत्सवमें उत्सवपात्रके भावमें तन्मय होनेका दिव्य फल है।

श्रीभगवान् रामचन्द्र किसके मित्र नहीं थे? नरके मित्र थे, वानरके मित्र थे, देवताके मित्र थे, अपदेवताके मित्र थे, असुरके मित्र थे, राक्षसके मित्र थे, रीछके मित्र थे, गिल्हेरीके मित्र थे, चण्डालके मित्र थे, भीलके मित्र थे। नीचसे नीचके मित्र होनेपर भी मर्यादापुरुषोत्तम थे, उन्होंने अपनी वर्णाश्रममर्यादाको नहीं बिगाड़ा; बल्कि मर्यादा बिगाड़नेवाले शूद्र तपस्वीका भी सिर काट दिया। आज हम थोड़ी ही वैषयिक सुविधाके लिये कुटुम्बोंसे लड़ मरते हैं, भाई भाईमें तथा देशभाईयोंमें झगड़ा फैलाते हैं, वर्णाश्रम-मर्यादाको मिट्टीमे मिला देते हैं, क्या ये सब सच्चे रामोत्सवके लक्षण हैं? कदापि नहीं। नीतिशास्त्रमें लिखा है—

> बहुभिर्न विरोद्धव्यं दुर्जनैः सुजनैरपि।
> स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः॥

गृहस्थोंको अच्छे बुरे बहुतोंसे विरोध नहीं करना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार प्रबल विषधर सर्पको हजारों चीटियां मिल कर खा जाती हैं, ऐसे ही बहुतोंसे विरोध रखनेपर गृहस्थाश्रममें अनेक असुविधाएँ होती हैं, ये ही सब बातें रामोत्सवके साथ साथ रामजीवनसे अवश्य सीखने योग्य हैं । उनका पितृप्रेम, भ्रातृप्रेम, प्रजाप्रेम, पत्नीप्रेम, समस्तजीवके प्रति प्रेम संसारमें आदर्शरूप है । वे वास्तवमें ही—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' थे । कर्त्तव्यमें वज्रकठोर और स्वाभाविक बर्त्तावमें कुसुमकोमल थे । लक्ष्मण और सीताके प्रति इतना प्रेम होनेपर भी धार्मिक कर्त्तव्य पालनकेलिये उन्हें परित्याग कर दिया था । ये ही उनके उत्सवमें उनमें तन्मय होकर लाभ करने योग्य विषय हैं ।

देवादिदेव महादेवके कुबेर भण्डारी तथा अन्नपूर्णा गृहिणी रहनेपर भी भिक्षा ही मांगते रहते हैं । अन्नपूर्णाका अन्न और कुबेरका धन वे विश्वमें ही बाँट देते हैं । इसीलिये वे महान् हैं । महाशिवरात्रिव्रतका उत्सव करते समय हमारे भीतर भी यही महान् भाव आना चाहिये, कि सत्पुरुषोंकी समस्त सम्पत्ति परोपकारके लिये ही होती है । महादेव मदनदहन हैं, पार्वतीको वामांकमें रखते हुए भी जितेन्द्रियताकी मूर्त्ति हैं। विकारके हेतुके सामने रहनेपर भी जो पुरुष धीर रह सकते हैं, उनका ही तृतीय नेत्र-ज्ञाननेत्र विकसित हो सकता है और वे ही मदनको मार सकते हैं । शिवोत्सवके फलसे व्रतीको ऐसा ही संयम सीखना चाहिये, उनके कण्ठमें विष और ललाटमें सुधाकरकी सुधा है । उनके सर्वाङ्गमें विषधर भुजङ्ग और मस्तकमें अमृतमयी गङ्गा हैं । परस्पर विरोधका कैसा सामञ्जस्य है ! यही तो पूर्णपुरुषका लक्षण है । रागद्वेष, पाप पुण्य, शत्रु मित्र, विष अमृत सभी-द्वन्द्वभाव वहां लय है । शिवभावमें उत्सवके समय तन्मय होकर यदि हमें ऐसी ही समता प्राप्त हो गई तभी शिवोत्सव पूर्ण हो गया । यही उत्सवका अपूर्व, अलौकिक तत्त्व है ।

विष्णुकी उपासना तथा वैष्णवव्रतोत्सव सभी लोग करते हैं, किन्तु इसका यथार्थ फल किसने प्राप्त किया है ? उनके चार हाथकी नहीं, यदि एक ही हाथकी सच्ची उपासना की जाती तो भारतकी तथा हिन्दु जातिकी ऐसी भीषण दुर्दशा आज नहीं रहती । उनका चक्रधारी हाथ दुष्ट दमन और सज्जनोंकी रक्षाके लिये है, उनका गदाधारी हाथ शक्ति सहायतासे धनका देनेवाला है । उनका कमलधारी हाथ कमनीय शिल्पमाधुरी, शिल्पकला प्रदान करता है और उनका शंखसुशोभित हाथ आदिनाद प्रणवकी सहायतासे मुक्तिद्वार उद्घाटन करने वाला है । क्षत्रिय-शक्ति, वैश्यशक्ति, शूद्रशक्ति, ब्राह्मणशक्ति, सर्वशक्तिमान् भगवान्के चारों हाथों में भरपुर

भरी हुई है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष यथाक्रम एक एक हाथमें विराजमान हैं। यदि विष्णुव्रतका उत्सव करते हुए एक ही हाथके भावमें तन्मयता हो जाय तो हिन्दुजातिकी दुःखमयी अमानिशा सदाके लिये अस्तमित हो जाय इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

क्या शक्तिव्रतके उत्सव करने वालोंको भी यह रहस्य बताना पड़ेगा कि धर्म और राजनीतिकी पारस्परिक सहायतासे ही असुरदलन हो सकता है? रजोगुणी सिंह राजनीतिक शक्ति और देवी दुर्गा सत्त्वगुणमयी धर्मशक्ति हैं। राजनीतिक शक्ति उद्दाम, उच्छृङ्खल, स्वेच्छाचारी नहीं है, किन्तु ऊपर विराजमान धर्मशक्तिका वाहन बनकर उसीके इङ्गितसे काम करती है और उसीकी सहायक है। इन दोनों शक्तियोंकी एकता होनेसे ही धन, बल, विद्या-बुद्धि और भी चार शक्तियां-लक्ष्मी, कार्त्तिकेय, सरस्वती, गणेशरूपसे महाशक्तिकी दोनों ओर स्वयं ही प्राप्त हो गई हैं। फल-असुर-निधन, महिषासुरमर्दन है, देवताओंका जय और असुरोंका पराजय है, देवराज्योंका उद्धार है। शक्ति उत्सवका यही मूलमन्त्र है, और यही दिव्यमन्त्रसिद्धिका अलौकिक शुभ परिणाम है। आशा है, कि उत्सवका यह रहस्य हिन्दु-जाति अब क्रमशः समझती जायगी।

यही संक्षेपसे वर्णित व्रतोत्सव महिमा है।

अष्टम काण्डकी द्वितीय शाखा समाप्त हुई।

——

तीर्थ-महिमा ।

'तरति पापादिकं यस्मात्' जिन पुण्यस्थानोंमें जानेपर पापनाश तथा पुण्यसंचय होता है उन्हें तीर्थ कहते हैं। साधारण स्थानोंकी अपेक्षा तीर्थस्थानमें विशेष दैवीशक्ति है जिसके प्रभावसे पाप कटता है और पुण्य मिलता है, इसी कारण तीर्थयात्राकी इतनी महिमा आर्यशास्त्रमें वर्णित की गई है। वेदमें भी—

सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते ॥

(ऋृ० परिशिष्ट)

गङ्गा यमुनाके सङ्गमस्थान प्रयागतीर्थ स्नान करनेपर स्वर्गप्राप्ति और शरीर-त्याग करनेपर मोक्ष प्राप्ति होती है, इत्यादि तीर्थमहिमा विषयक अनेक प्रमाण मिलते हैं। महाभारतमें पितामह भीष्मदेवने तीर्थका लक्षण तथा स्वरूप निम्नलिखितरूपसे बताया है यथा—

यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।
तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः ॥
प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा ।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥
तस्माद् भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः ।
उभयेषु च यः स्नाति स याति परमां गतिम् ॥

समस्त शरीर पाञ्चभौतिक होनेपर भी सब अङ्गोंमें एक सी शक्ति नहीं है। जो विशेष शक्ति नाभि, हृदय, भ्रूमध्य या मस्तकमें है, वह करचरणादिमें नहीं है, जो पवित्रता दक्षिण कर्ण या द्विदलमें है वह वामकर्णादिमें नहीं है। इसलिये इन श्लोकोंमें कहा गया है कि जिसप्रकार शरीरमें कोई कोई स्थान पवित्र कहलाते हैं, ऐसा ही पृथिवीमें भी-कोई कोई स्थान पुण्यमय, पवित्रतामय होते हैं। भूमिके स्वाभाविक विशेष प्रभाव से, जलकी नैसर्गिक विशेष शक्तिसे या ऋषि-मुनियोंके वहाँपर निवास तपस्या आदि कार्योंसे ऐसी विशेष पवित्रता तथा विशेष दिव्य शक्ति तीर्थोंमें आती

है। इसलिये स्थूल तथा मानस तीर्थमें स्नान करनेवालेको परमगति प्राप्त होती है।

आर्यशास्त्रमें तीर्थ नामसे अनेक वस्तुओंका प्रयोग देखा जाता है। मन्त्री, पुरोहित, युवराज, द्वारपाल, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल आदि जो अठारह राष्ट्र सम्पत्तियाँ हैं, जिनमें स्नान करनेसे अर्थात् जिनका भेद जाननेसे राजा राज्यशासन ठीक ठीक कर सकता है, वे सब तीर्थ कहे जाते हैं। एक साथ एक आचार्यके पास एक प्रकारके शास्त्र पढ़नेवाले छात्र भी सतीर्थ्य कहलाते हैं। यहाँ पर शास्त्रकेलिये तीर्थशब्दका प्रयोग हुआ है और इसीसे शास्त्रजगत्में 'तीर्थ' उपाधि भी प्राप्त होती है। प्राणतोषिणीतन्त्रमें लिखा है—

त्रिवेणीसङ्गमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते॥ (अवधूत प्रकरण)

जिसने आध्यात्मिक त्रिवेणी में 'तत्त्वमसि' भावसे योगस्नान किया है अर्थात् योगद्वारा इड़ा पिङ्गला सुषुम्नाके सङ्गम स्थानमें मनोलय करके जीव ब्रह्मकी एकताका अनुभव किया है वह तीर्थनामा संन्यासी कहलाता है। यह तुरीयाश्रमका उपाधिविशेष 'तीर्थ' शब्द वाच्य है। मार्कण्डेय पुराण ३४।१०३–१०७ में लिखा है—

कुर्यात् कर्माणि तीर्थेन स्वेन स्वेन यथाविधि।
देवादीनां तथा कुर्याद् ब्राह्मेनाचमनक्रियाम्॥
अंगुष्ठोत्तरतो रेखा पाणेर्या दक्षिणस्य तु।
एतद् ब्राह्ममिति ख्यातं तीर्थमाचमनाय वै॥
तर्जन्यंगुष्ठयोरन्तः पैत्रं तीर्थमुदाहृतम्।
पितृणां तेन तोयादि दद्यान्नादीमुखादृते॥
अंगुल्यग्रे तथा दैवं तेन दिव्यक्रियाविधिः।
तीर्थं कनिष्ठिकामूले कायं तेन प्रजापतेः॥
एवमेभिः सदा तीर्थैर्देवानां पितृभिः सह।
सदा कार्याणि कुर्वीत नान्यतीर्थेन कर्हिचित्॥

हाथके खास खास स्थानोंको तीर्थ कहा गया है। यथा—दक्षिण हस्तके अंगुष्ठके उत्तरसे जो रेखा गई है उसको ब्रह्मतीर्थ कहते हैं। इसीमें जल लेकर आचमन करना

होता है। तर्जनी और अंगुष्ठका अन्त भाग पितृतीर्थ है। नान्दीमुख छोड़कर बाकी सब श्राद्धोंमें इसीसे जलादि दिया जाता है। अंगुलियोंके अग्रभागको दैवतीर्थ कहते हैं, जिससे दैवकार्य किया जाता है। कनिष्ठ अंगुलिके अधोभागका नाम कायतीर्थ या प्राजापत्यतीर्थ है, इसके द्वारा प्रजापतिका कार्य करना होता है। इसप्रकारसे निर्दिष्ट तीर्थोंके द्वारा दैवकार्य तथा पितृकार्य करना उचित है। वृहद्धर्मपुराणमें १५ अध्यायमें लिखा है—

विप्राणां चरणौ तीर्थौ गवां पृष्ठं तथा मतम्।
एते यत्र हि तिष्ठन्ति तच्च तीर्थमुदाहृतम्॥

ब्राह्मणोंके चरणोंमें तीर्थ और गौओंके पृष्ठपर तीर्थ है। वे जहाँ ठहरे वह भी तीर्थ माना जाता है। काशीखण्डमें लिखा है—

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं निर्मलं सार्वकामिकम्।
येषां वाक्योदकेनैव शुध्यन्ति मलिना जनाः॥

ब्राह्मण सकल कामना सिद्ध करनेवाले निर्मल जङ्गम तीर्थ है। इनके वाक्यरूपी जलसे मलिन मानव भी पवित्र हो जाते हैं। महर्षि पराशरने (आन्हिकाचारतत्त्व) कहा है—

प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्या सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे वसन्ति मनुरब्रवीत्॥

ब्राह्मणके दक्षिण कर्णमें प्रभास आदि तीर्थ तथा गङ्गा आदि देवनदियोंका निवासस्थान है। वह बहुत ही पवित्र है।

जङ्गम तीर्थकी तरह मानसतीर्थका भी वर्णन शास्त्रमें मिलता है। यथा महाभारत तथा काशीखण्डमें—

शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघ!
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
दानमिष्टं तपः शौचं तीर्थं सेवा श्रुतं तथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव वसते नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ज्ञानपूते ध्यानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥
एतत्ते कथितं राजन् मानसं तीर्थलक्षणम्।

भीष्म पितामहने महाराज युधिष्ठरसे मानसतीर्थका ऊपर लिखित लक्षण कहा था। सत्य, क्षमा, जितेन्द्रियता, जीवदया, सरलता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धैर्य, तप ये सब मानसतीर्थ हैं। इनमेंसे मनकी पवित्रता सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ है। लोभी, परस्पर द्रोहकारी, खल, क्रूर, दाम्भिक, विषयी-व्यक्ति सब तीर्थमें स्नान करनेपर भी मलिन ही रह जाता है। यदि भाव निर्मल न रहे तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थ वेदपाठ सभी निष्फल होता है। इन्द्रियोंका निग्रह करके मनुष्य चाहे कहीं रहे वहीं उसका कुरुक्षेत्र नैमिषारण्य, पुष्कर तीर्थ है। राग द्वेषरूपी मलनाशकारी ज्ञानसे पवित्र, ध्यान-जलमय मानसतीर्थमें जो स्नान करता है उसे परमगति प्राप्त होती है। यही सब मानस तीर्थका अपूर्व लक्षण है।

जङ्गम और मानसतीर्थका लक्षण बताकर अब स्थावरतीर्थके वर्णन किये जाते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत्।
दिवि भुव्यन्तरीक्षे च तानि ते सन्ति जाह्नवि॥

स्वर्ग मर्त्य, अन्तरिक्षमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। ये सभी तीर्थ पुनः नित्य, नैमित्तिक दो प्रकारके होते हैं। मर्मस्थान होनेके कारण जिन तीर्थोंमें नैसर्गिकरूपसे या दैवकारणसे विशेष शक्तिका विकाश है उन्हें नित्य तीर्थ कहते हैं। "केनापि न कृतं

यत्र देवखातमिति स्मृतम्" जिन तीर्थोंको किसीने बनाया नहीं वे नित्य तीर्थ या दैवतीर्थ हैं, ऐसा शास्त्रमें प्रमाण भी मिलता है। नैमित्तिक तीर्थ दूसरेके बनाये बनते हैं और बिगाड़नेसे भी बिगड़ते हैं। वे तीन तरहके होते हैं यथा-आसुर, आर्ष और मानुषी। अतः नित्य नैमित्तिक सभी तीर्थ चार प्रकारके हुए यथा ब्रह्मपुराणमें—

चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले।
दैवानि मुनिशार्दूल आसुराण्यार्षकाणि च॥
मानुषाणि च लोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः।
ब्रह्मविष्णुशिवैर्देवैर्निर्मितं दैवमुच्यते॥
एवं च वाराणसीप्रभासपुष्करादीनि दैवानि।
ब्राह्मी सरस्वती मूर्त्तिर्गङ्गा मूर्त्तिस्तु वैष्णवी॥
नर्मदा शांकरी मूर्त्तिस्तिस्रो नद्यस्त्रिदेवताः।

(रेवाखण्डे)

गोदावरी भीमरथी तुङ्गभद्रा च वेणिका।
भागीरथी नर्मदा च यमुना च सरस्वती॥
विशोका च वितस्ता च हिमवत्पर्वताश्रिताः।
एता नद्यः पुण्यतमा देवतीर्थान्युदाहृताः॥

आसुराणि, गयासुरादिनिर्मितानि गयादीनि। आर्षाणि ऋषिभिः प्रतिष्ठितानि। मानुषाणि, सोमसवितृवंशप्रसूतराजभिः प्रतिष्ठितानि।

स्वर्ग, मर्त्य, पातालमें चार प्रकारके तीर्थ होते हैं यथा,—दैव, आसुर, आर्ष और मानुषी। ब्रह्म-विष्णु-महेश प्रतिष्ठित काशी, प्रभास, पुष्कर आदि नित्यशक्तियुक्त तीर्थ नित्य या दैव तीर्थ कहाते हैं। गङ्गा, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, यमुना, विशोका, वितस्ता—ये सब देवनदियां दैव तीर्थ हैं। सरस्वती ब्राह्मी-मूर्त्ति, गङ्गा वैष्णवी मूर्त्ति और नर्मदा शैवी मूर्त्ति कहलाती हैं। गयासुर आदि असुरोंके द्वारा प्रतिष्ठित गया आदि आसुर तीर्थ हैं। ऋषियोंके द्वारा प्रतिष्ठित आर्ष तीर्थ हैं। और सूर्य-चन्द्रवंशीय नरपतियोंके द्वारा प्रतिष्ठित मानुषी तीर्थ हैं। इस तरह सब मिलाकर तीर्थके निम्नलिखित भेद हुए।
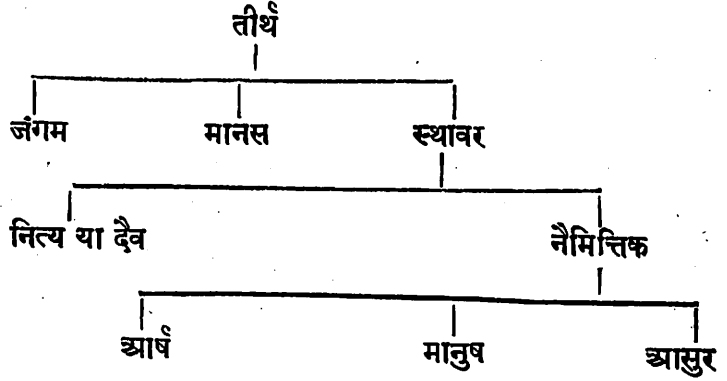
तीर्थयात्राके द्वारा असीम फल प्राप्त होता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते, सङ्गात् संजायते कामः"।

महाभारतमें भी लिखा है—

"नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्"।

विषयकी चिन्ता करते करते उसमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे ही कामादि पापवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। नारीजाति अग्निकी तरह और पुरुष घीके कुम्भकी तरह हैं, पास रहनेसे ही पिघलना स्वाभाविक है। अतः पुरुष यदि विषयसे बचकर आत्माके पथमें अग्रसर होना चाहे तो उसे चाहिये कि हर समय न हो सके कमसे कम बीच बीचमें ही वैषयिक सम्पर्कसे दूर और आध्यात्मिक सम्पर्कके समीप रहा करे। तीर्थयात्रामें अनायास ही यह मौका गृहस्थोंको मिल सकता है। तीर्थके बहानेसे विषयसे दूर रहा जाता है और वहाँपर स्थान माहात्म्य, दैवशक्तिका प्रभाव तथा तीर्थनिवासी साधुसज्जनोंके सङ्गसे उन्नतिप्रयासी गृहस्थपुरुषको बहुत कुछ लाभ होता है। और यदि एकाकी न जाकर सपरिवार ही तीर्थयात्रा करे तो भी ऊपर वर्णित कारणोंसे आध्यात्मिक, आधिदैविक लाभ ही रहता है। तीर्थमें जाकर व्रत, उपवास, संयम आदि करनेके जो नियम हैं उनसे भी विशेष आध्यात्मिक उन्नति होती है।

नित्यतीर्थमें स्वभावतः और नैमित्तिक तीर्थमें तीर्थ प्रतिष्ठाताके तपःफलसे दैवीशक्ति प्रचुर रहा करती है। अतः उस दैवशक्तिपूर्ण वायुमण्डलमें जानेपर तीर्थयात्रीको उस शक्तिसे बहुत कुछ लाभ मिलता है। चञ्चल मन बुद्धिको धैर्य्य तथा शान्ति मिलती है, विषयवासना खुद बखुद दबने लगती है, चित्तमें पवित्रता आने लगती है, श्रीभगवान्‌में रति होने लगती है, जप-पूजा पुरश्चरणसे शीघ्र ही मनोभिलाष पूर्ण हो जाता है इत्यादि।

योगदर्शनमें एक सूत्र है "वीतरागविषयं वा चित्तम्"। अर्थात् विषय रागरहित महात्माओंका चिन्तन तथा उनके शुभ भावको चित्तमें धारण करनेसे धारणकरने-वाले भी विषयरागरहित हो जाते हैं। तीर्थमें इसका स्वतः ही मौका मिल जाता है। जिस पुण्यात्मा तपस्वीके तपः प्रभावसे वह तीर्थ बना है, जिस योगीके योगबलसे उपा-सकके उपासनाबलसे तीर्थकी इतनी महिमा बढ़ी चढ़ी है, तीर्थमें पहुँचते ही उनकी चरित्र चिन्ता तथा अलौकिक विभूतिकी चिन्ता करनेसे तीर्थयात्रीका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, प्रेम भक्ति श्रद्धा सलिलसे पाप भरे हृदयका सब पाप धुल जाता है और मुमुक्षु तीर्थसेवी पवित्र चित्त होकर सहजही परमात्माके पथमें प्रस्थान कर सकते हैं।

तीर्थमें अनेक महात्माओंके आश्रम होते हैं, उनमें कितने ही महात्मा ब्रह्मलीन हो गये हैं और कितने ही अभी तक बिराजमान हैं। उनके महिमाश्रवण, चरित्र-चिन्तन तथा सत्सङ्गसे महापापी भी तर जाते हैं।

क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।

क्षणभरका भी सज्जनसङ्ग संसार समुद्र तरनेके लिये नाव बनता है। तीर्थसेवाके साथ साथ यह भी महाफल लाभ होता है।

दुर्गम तीर्थ जानेमें भगवान्के प्रति निर्भर किये विना उपायान्तर नहीं है। ऐसी निर्भरता होनेपर दैव चमत्कार दैवीविभूति बहुत कुछ अनुभवमें आने लगती है। कितने ही बार कठिन संकटमय स्थानसे केवल उन्हींकी कृपासे तीर्थसेवी बच कर निकलते हैं। कितने ही बार निराहार प्राण जानेके मौकेपर न जाने किसी दैवी विभूतिके बलसे सब कुछ इन्तजाम अलौकिक रूपसे हो जाता है। इन्हीं दैव कारणोंको तीर्थयात्री जितना ही आँखोंके सामने देखता है उतनी उनकी आस्तिकता, भगवत्प्रेम, श्रद्धा भक्ति भूरि-भूरि वृद्धिंगत होती है।

तीर्थोंकी दैवी सम्पत्ति केवल मनबुद्धिके लिये नहीं, अधिकन्तु शारीरिक नैरोग्य-के लिये भी बहुत कुछ फलदायिनी होती है। अमरनाथ तीर्थ की दैवी विभूतिको पाकर तीर्थसेवी अजर, अमर हो जाते हैं। मन्दाकिनीकी दिव्य धारामें स्नान, पवित्र जलपान करके सकल प्रकारकी कठिन व्याधियोंके हाथसे जीव निस्तार पाता है और दिव्य कलेवर बनकर शतायु सुखसे बिता सकता है। नर्मदा, शोणभद्र, सिन्धुके उत्तम पाचक जलको पीकर अतिकठिन अजीर्ण रोगग्रस्त भी वृकोदर बन सकता है। जगन्नाथ, भुवनेश्वर, हरद्वार, कुरुक्षेत्र, द्वारका, सेतुबन्धरामेश्वर, बदरिकाश्रम, गोदावरी, ज्वाला-मुखी, विन्ध्यवासिनी आदि तीर्थसेवन स्वास्थ्यलाभके लिये बहुत ही उपयोगी है। यही सब तीर्थकी दैवीसम्पत्तिसे शारीरिक लाभका दृष्टान्त है।

तीर्थोंकी प्राकृतिक शोभा कुछ विलक्षण ही है, यह शोभा तत्त्वदर्शीके लिये आत्मानन्दप्रदायिनी, योगीकेलिये सुलभ योगसिद्धिदायिनी, भावुक भक्तके लिये भावसागरमें सुशीतल अवगाहन स्नानदायिनी, संसारशोकसन्तप्तके लिये शान्ति-सुधासिञ्चनकारिणी और कविके लिये काव्यकलाविलासप्रदायिनी है। कहीं हिमगिरिकी भगवत्प्रेमाश्रुधारारूपसे जाह्नवी यमुनाकी दिव्यधाराएँ बह रही हैं, कहीं विन्ध्याचल विराट पुरुषके विराट वक्षरूपसे विराजमान है, कहीं सिन्धु पञ्चभुजा पसारकर श्रीभगवान्‌के राजीवचरणोंमें अर्घ्यदान कर रहा है, कहीं गगनचुम्बी विशाल वटतरु निस्पन्द होकर मुकुन्दपदध्यानमें निमग्न है, कहीं स्वच्छ सरोवरमें प्रफुल्ल शतदल कमल हरविलासिनीके हास्यरूपसे त्रिभुवनको मोहित कर रहा है, कहीं दिव्य कुञ्ज निकुञ्ज मधुरभ्रमर-गुञ्जारसे गुञ्जरित हो रहा है, मानों एकाधारमें योगी-भोगी-वियोगी-विरागी सभीके लिये शरीर-मन-प्राणोल्लासकारिणी सभी व्यवस्था श्रीभगवान्‌ने कर रक्खी हैं। परमात्माकी विराट मूर्त्तिकी इस प्रकार विभूतिको देखकर तीर्थयात्री बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

तीर्थ-यात्राके निमित्तको लेकर मनुष्योंको नाना देश देखनेका मौका मिलता है। अनेक देशमें अनेक प्रकार मनुष्योंसे परिचय, भिन्न-भिन्न देशकी प्रकृतिसे परिचय, आचार चरित्र आदिसे परिचय, सामाजिक धार्मिक आध्यात्मिक रीति-नीतिसे परिचय ये सभी विशेष अभिज्ञताप्रद हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुण-भावको देखकर ही पुरुषको मोक्ष होता है, साधारण पुस्तककी अपेक्षा प्रकृतिकी पुस्तक ही अधिक शिक्षाप्रद है, इसी उदार शिक्षासे शिक्षित होकर भाग्यवान् तीर्थयात्री अनायास ही लौकिक अलौकिक बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं।

इन्हीं सब कारणोंसे आर्यशास्त्रमें नित्य नैमित्तिक सभी तीर्थोंकी विशेष महिमा बताई गई है, तथा—

> अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
> पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥
> तासु वासं प्रकुर्वन्ति ये मृता वा नराः परम्।
> लभन्ते न पुनर्जन्म मातृगर्भेषु कुत्रचित्॥

(पद्मपुराण भूमिखण्ड)

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची अवन्ती और द्वारवती ये सात तीर्थ मोक्षदायक हैं। इनमें निवास करने पर अथवा इन तीर्थोंमें शरीर त्याग होने पर जीवको पुनः मातृगर्भमें आना नहीं पड़ता है।

कीर्त्तनाच्चैव तीर्थस्य स्नानाच्च पितृतर्पणात् ।
धुन्वन्ति पापं तीर्थे ये ते प्रयान्ति सुखं परम् ॥
तथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्धा च भवत्यमरलोकभाक् ॥
संवत्सरशतं साग्रं निराहारस्य यत्फलम् ।
प्रयागे माघमासेऽस्य त्र्यहस्नातस्य तत्फलम् ॥

(महाभारत)

दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्त्तनादपि ।
मृत्तिकालभनाद्वापि नरः पापात्प्रमुच्यते ॥
गङ्गागङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतैरपि ।
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम् ॥

(ब्रह्मपुराण)

कृते च पुष्करं तीर्थं त्रेतायां नैमिषन्तथा ।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गंगां समाश्रयेत् ॥

(पद्मपुराण)

वाराणस्यां महातीर्थे नरः स्नात्वा विमुच्यते ।
सप्तजन्मकृतात् पापाद् गमनादेव मुच्यते ॥
'सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ।'

(ब्रह्मपुराण)

यत्र स्नानं जपो होमः श्राद्धदानादिकं कृतम् ।
एकैकशो मुनिश्रेष्ठाः पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥

(महाभारत)

जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया व पुरुषस्य वा ।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ॥

(स्कन्द पुराण)

गङ्गा तु प्रथमा पुण्या यमुना गोमती पुनः।
सरयूः सरस्वती चैव चन्द्रभागाथ चर्मिला॥
कुरुक्षेत्रं गया चैव पुष्कराणि तथा पुनः।
नर्मदा च महापुण्या तीर्थान्येतानि चोत्तरे॥
तापी पयोष्णी पुण्ये द्वे तत्संगं तीर्थमुत्तमम्।
गोदावरी महापुण्या सर्वत्र द्विजसत्तम॥
तत्र तीर्थान्यनेकानि सर्वपापहराणि वै।
येषु स्नात्वा च पीत्वा च पापं मुञ्चति मानवः॥ (नरसिंहपुराण)
कृत्वा पापमविज्ञातं भ्रूणहत्यादि तत्पुनः।
विनश्यति महायज्ञैरथवा तीर्थचर्यया॥
सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्या नगोत्तमाः।
सर्वमायतनं पुण्यं सर्वे पुण्या वनाश्रमाः॥ (देवल)

तीर्थमहिमा कीर्त्तन, तीर्थस्नान तथा तीर्थमें पितृतर्पण द्वारा जो मनुष्य अपना पाप नष्ट करते हैं, उन्हें परम सुख प्राप्त होता है। पुण्यतीर्थ तथा काशी, केदार, महाकाल आदि पुण्यायतनके सेवन द्वारा अर्जित पुण्यप्रतापसे जीव अमरलोकका अधिकारी हो जाता है। सौ वर्ष निराहार रहनेका जो फल है, प्रयागमें माघमासमें तीन दिन स्नानका वही फल है। प्रयागतीर्थके दर्शन, नामकीर्त्तन तथा मिट्टी पाकर मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। शतयोजन दूरसे भी 'गङ्गा गङ्गा' यह नाम उच्चारण करनेसे तीन जन्मका पाप कटता है। सत्ययुगमें पुष्करतीर्थ, त्रेतामें नैमिषारण्य, द्वापरमें कुरुक्षेत्र और कलिमें गङ्गाका सेवन करना चाहिये। काशी महातीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे मुक्ति और जानेमात्रसे सात जन्मका पाप कटता है। गंगा नाममात्रसे और नर्मदा दर्शनसे पवित्र करनेवाली है। तीर्थमें जाकर स्नान, जप, हवन, श्राद्ध तथा दानादि करनेसे कुलके सात पुरुषतक पवित्र हो जाते हैं। स्त्री या पुरुषके जन्म भरके किये हुए सब पाप पुष्करमें नहाने मात्रसे नष्ट हो जाते हैं। सबसे श्रेष्ठ पुण्यदायिनी गङ्गा है, उसके बाद यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती, चन्द्रभागा, चर्मिला ये भी सब पुण्यनदियां हैं। कुरुक्षेत्र, गया, पुष्कर, नर्मदा ये सब महापुण्यमय तीर्थ हैं। तापी, पयोष्णी, गोदावरी ये भी महापुण्यमयी हैं। ऐसे ही सकलपापनाशकारी अनेक तीर्थ

हैं, जिनमें स्नान, आचमन करनेसे मनुष्य पापमुक्त हो सकता है। अज्ञात पाप या भ्रूणहत्यादि करनेपर यदि महायज्ञ करे या तीर्थसेवा करे, तो पाप नष्ट होता है। गंगा-यमुनादि समुद्रगामिनी समस्त नदियां पवित्र हैं, हिमालय आदि देवतात्मा समस्त पर्वत पवित्र हैं, काशी, केदार आदि समस्त आयतन पवित्र हैं और नैमिषारण्य आदि समस्त वनाश्रम पवित्र हैं। इसप्रकारसे तीर्थोंकी प्रचुर महिमा आर्यशास्त्रमें बताई गई है।

अब तीर्थयात्राके विषयमें कुछ नियम तथा आवश्यक विवरण बताये जाते हैं।

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत्॥
तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे न च जायते।
न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च मोक्षोपायं च विन्दति।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अदाम्भिको निरारम्भो लघ्वाहारी जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वसंगैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥ (काशीखण्ड)

प्रचुर दक्षिणा देकर अग्निष्टोम आदि यज्ञ करनेपर भी जो फल नहीं मिलता है, केवल तीर्थसेवा द्वारा वह फल प्राप्त होता है। तीर्थसेवीका तिर्यक्योनिमें जन्म नहीं होता है। कुदेशमें जन्म नहीं होता है किसी प्रकारका दुःख नहीं होता है, वह स्वर्गवासी होकर मोक्षके उपायको प्राप्त करता है। जिसका हस्तपद मन सुसंयत है और विद्या तपस्या तथा कीर्ति है उसीको तीर्थयात्राका फल मिलता है। अदाम्भिक, आरम्भरहित, मिताहारी, जितेन्द्रिय, सङ्गरहित व्यक्तिको ही तीर्थयात्राका फल मिलता है। क्रोधरहित, निर्मलचित्त, सत्यवादी, दृढव्रत, सबको निज जैसे देखनेवाले व्यक्तिको ही तीर्थयात्राका फल मिलता है। जिसके अन्तःकरणमें श्रद्धा नहीं है, जो पापी है, नास्तिक है, संशयी तथा कुतार्किक है उसे तीर्थफल नहीं मिलता है।

योे यः कश्चित्तीर्थयात्रान्तु गच्छेत्

सुसंयतः स च पूर्वं गृहे स्वे।

कृतोपवासः शुचिरप्रमत्तः

संपूजयेद् भक्तिनम्रो गणेशम् ॥

देवान् पितॄन् ब्राह्मणांश्चैव साधून्

धीमान् प्रीणयन् वित्तशक्त्या प्रयत्नात्।

प्रत्यागतश्चापि पुनस्तथैव

देवान् पितॄन् ब्राह्मणान् पूजयेच्च ॥

एवं कुर्वतस्तस्य तीर्थे यदुक्तं

फलं तत् स्यान्नात्र सन्देह एव ॥ (ब्रह्मपुराण)

तीर्थयात्रासे पहिले अपने घरमें संयमपूर्वक उपवास करके गणपति-पूजन तथा देवता, पितर, साधु, ब्राह्मणोंका पूजा सत्कार यथाशक्ति करना होता है। ऐसा ही तीर्थसे लौटकर भी करना होता है। इससे निःसन्देह फललाभ होता है।

ऐश्वर्यलाभमाहात्म्याद् गच्छेद् यानेन यो नरः।

निष्फलं तस्य तत्तीर्थं तस्माद् यानं विवर्जयेत् ॥ (मत्स्यपुराण)

सम्पत्तिके मदसे जो मनुष्य यान द्वारा तीर्थको जाता है, उसकी तीर्थयात्रा निष्फल होती है, इसलिये तीर्थमें यानको छोड़ देना चाहिये।

पुण्यार्द्धं हरते याने तदर्द्धं छत्रपादुके।

तदर्धं तैलमांसाभ्यां सर्वं हरति मैथुने ॥ (कर्मलोचन)

यानसे तीर्थ जानेपर आधा पुण्य नष्ट होता है, छत्र पादुका लेनेपर उससे आधा, तैल मांस सेवन करनेपर उससे आधा और तीर्थमें मैथुन आचरणसे समस्त पुण्य नष्ट हो जाता है।

तत्र नारायणक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे हरेः पदे।

वाराणस्यां वदर्यां च गंगासागरसंगमे ॥

एतेष्वन्येषु यो दानं प्रतिगृह्णाति कामतः।

स च तीर्थप्रतिग्राही कुम्भीपाकं प्रयाति च ॥

(ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्ड)

नारायणक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, हरिपद, काशी, बद्रीनाथ, गङ्गासागर आदि तीर्थोंमें जो इच्छापूर्वक दान ग्रहण करता है, उस तीर्थ प्रतिग्राहीको कुम्भीपाक नरकमें जाना पड़ता है। इसलिये तीर्थमें दान लेना नहीं चाहिये। कहीं कहीं ब्राह्मणकेलिये जो दान लेना लिखा है उसमें महर्षि याज्ञवल्क्यकी आज्ञा है कि—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।
गृह्णन् प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च॥

विद्या तथा तपस्यासे हीन ब्राह्मणको कदापि दान नहीं लेना चाहिये। ऐसा करनेपर दाता, ग्रहीता दोनों की अधोगति होती है।

न तीर्थे पातकं कुर्यात् त्यजेत्तीर्थोपजीवनम्।
तीर्थे प्रतिग्रहस्त्याज्यस्त्याज्यो धर्मस्य विक्रयः॥ (पद्मपुराण)
यदन्यत्र कृतं पापं तीर्थे तद् याति लाघवम्।
न तीर्थकृतमन्यत्र क्वचित् पापं व्यपोहति॥ (पद्मपुराण)

तीर्थमें जाकर पाप नहीं करना चाहिये, तीर्थके अन्नसे जीविका नहीं करनी चाहिये, तीर्थप्रतिग्रह और धर्मविक्रय दोनों ही त्याग देने योग्य हैं। अन्यत्र किया हुआ पाप तीर्थमें घट जाता है, किन्तु तीर्थमें किया हुआ पाप कहीं नहीं घटता है।

षोड़शांशं स लभते यः परार्थेन गच्छति।
अर्द्धं तीर्थफलं तस्य यः प्रसङ्गेन गच्छति॥
तीर्थं प्राप्य प्रसङ्गेन स्नानं तीर्थे समाचरेत्।
स्नानजं फलमाप्नोति तीर्थयात्राश्रितं न तु॥ (काशीखण्ड)

दूसरेके लिये तीर्थ जानेपर सोलहवाँ अंश पुण्य मिलता है और किसी अन्य प्रसङ्गसे तीर्थमें आजाने पर आधा फल मिलता है। इस तरह प्रसङ्गतः जो तीर्थ स्नान करता है उसको स्नानका फल मिलता है, तीर्थ यात्राका नहीं।

तीर्थयात्रासमारम्भे तीर्थात् प्रत्यागमेऽपि च।
वृद्धिश्राद्धं प्रकुर्वीत बहुसर्पिःसमन्वितम्॥ (कूर्मपुराण
तीर्थोपवासः कर्त्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा।
शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यतः॥ (काशीखण्ड)

तीर्थ जानेसे पहिले और तीर्थसे लौटकर विशेष घृतद्वारा वृद्धिश्राद्ध करना चाहिये। तीर्थमें जाकर उपवास तथा केशमुण्डन कराना चाहिये, क्योंकि समस्त पाप केशको ही आश्रय करके रहता है। कहीं कहीं प्रयाग आदिके सिवाय अन्यत्र मुण्डनकी अनावश्यकता भी बताई गई है।

नरयानं चाश्वतरी हयादिसहितो रथैः।

तीर्थयात्रास्वशक्तानां यानं दोषकरं न हि ॥ (कूर्मपुराण)

यानमर्द्धफलं हन्ति तदूर्धं छत्रपादुके।

वाणिज्यं त्रींस्तथा भागान् सर्वं हन्ति प्रतिग्रहः ॥

असमर्थके लिये किसी यान द्वारा तीर्थयात्रामें दोष नहीं है। वे अश्वतरी, अश्व या आवश्यकतानुसार नरयानसे जा सकते हैं। यानमें जानेपर आधा फल नष्ट होता है, छाता, जूता पहिननेमें उसका आधा, वाणिज्यके लिये जानेपर उसका तीन भाग और प्रतिग्रह करनेपर समस्त पुण्य नष्ट होता है।

तीर्थं गच्छन् त्यजेत् प्राज्ञः परान्नं परभोजनम्।

जितेन्द्रियो जितक्रोधो ब्रह्मचारी भवेच्छुचिः ॥

शुचिवस्त्रधरः स्नातो नित्यहानिं न कारयेत्।

गच्छेत्तीर्थं शनैर्विद्वान् सततं संयतेन्द्रियः ॥ (भविष्ये)

नरकं दारुणं श्रुत्वा परान्ने तु रतिं त्यजेत्।

यो यस्यान्नमिहाश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम् ॥ (पाद्मे)

तीर्थमें जाकर दूसरेके हाथका पकाया हुआ या दूसरेका दिया हुआ अन्न नहीं खाना चाहिये। सदा जितेन्द्रिय, जितक्रोध, ब्रह्मचारी और पवित्र रहना चाहिये। पवित्र वस्त्रधारी, स्नानशील तथा संयतेन्द्रिय रहकर नित्यकर्म करते रहना चाहिये। जिसका अन्न खाया जाता है, उसका पापभक्षण भी किया जाता है ऐसा जानकर तीर्थमें परान्नभोजन कदापि नहीं करना चाहिये।

मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः।

वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्करं गयाम् ॥ (देवल)

उपवास और मुण्डन सभी तीर्थोंमें करना चाहिये। कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, पुष्कर और गयामें मुण्डनकी आवश्यकता नहीं होती।

गंगां प्राप्य सरिच्छ्रेष्ठां कम्पन्ते पापसंचयाः ।
केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात्तान् परिवापयेत् ॥
यावन्ति नखलोमानि गंगातोये पतन्ति वै ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ (गरुड़पुराण)

देवनदी गङ्गाको पाकर पाप सब कांप उठते हैं और केश पकड़ कर रहते हैं, इसलिये गङ्गातीर्थमें केशमुण्डन कर देना चाहिये । गंगाजलमें जितने नख लोम गिरते हैं उतने हजार वर्ष तक तीर्थयात्रीको स्वर्गवास होता है ।

तर्पणं पितृदेवानां श्राद्धदानं सदक्षिणम् ।
तीर्थे तीर्थे च गोदानं नियतः प्राकृतो विधिः ॥ (देवल)
अकालेऽप्यथ वा काले तीर्थे श्राद्धं च तर्पणम् ।
अविलम्बेन कर्त्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत् ॥
यस्तु तीर्थे नरः स्नात्वा न कुर्यात् पितृतर्पणम् ।
पिबन्ति देहनिस्रावं पितरस्तु जलार्थिनः ॥ (स्कन्दपुराण)

प्रत्येक तीर्थमें जानेपर पितृतर्पण, देवतर्पण, श्राद्ध, दान और गोदान करना होता है यह नैसर्गिक नियम है । उत्तमकाल या अकाल सभी समय तीर्थमें श्राद्ध, तर्पण करना चाहिये, इसमें किसी प्रकार विघ्न नहीं डालना चाहिये । जो व्यक्ति तीर्थमें स्नान करके पितृतर्पण नहीं करता है, जलाकाङ्क्षी पितृगण उसके देहनिस्रावको पीते हैं, जिससे उसको बड़ा पाप लगता है । इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें तीर्थकर्त्तव्यके विषयमें बहुत कुछ बताया गया है ।

पृथिवीके साथ देवादिदेव महादेवका अधिदैव सम्बन्ध है । कपिलतन्त्रमें—

नभसोऽधिपतिर्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥

इस प्रमाणके द्वारा आकाशतत्त्वके साथ विष्णुका, अग्नितत्त्वके साथ देवीका, वायुतत्त्वके साथ सूर्यदेवका, जलतत्त्वके साथ गणपतिका और पृथिवीतत्त्वके साथ महादेवका अधिदैवसम्बन्ध बताया गया है । तदनुसार पृथिवीकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु देवतात्मा हिमालयमें शिवका निवास और हिमालयदुहिता सती पार्वतीको शिवकी शक्ति कही गई है । यही कारण है कि पृथिवीकी सर्वश्रेष्ठ दैवीभूमि भारतवर्षमें शिव तथा पार्वतीकी

साक्षात् शक्तिसे पूर्ण अनेक तीर्थ देखनेमें आते हैं जिनको आर्यशास्त्रमें ज्योतिर्लिङ्ग और पीठ कहा गया है। शिवलिङ्ग अनन्त किन्तु ज्योतिर्लिङ्ग द्वादश ही हैं। उनके विषयमें शिवपुराणमें लिखा है—

विवादशमनार्थं च प्रबोधार्थं द्वयोरपि।
ज्योतिर्लिङ्गं तदोत्पन्नमावयोर्मध्यमद्भुतम्॥
ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलचयोपमम्।
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम्॥ शिवपुराण, ज्ञान सं०।

ब्रह्मा और विष्णुके विरोध दूर करनेके लिये कालानलतुल्य ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुआ। उसकी मूर्त्ति सहस्र सहस्र अग्निज्वालासे व्याप्त थी। वह क्षय, वृद्धि, आदि, अन्त, मध्य रहित था। यही ज्योतिर्लिङ्ग भारतके द्वादश स्थानमें भिन्न भिन्न नामसे विराजमान हैं। यथा—सौराष्ट्रमें सोमनाथ, श्रीशैलमें मल्लिकार्जुन, उज्जैनमें महाकाल, नर्मदातीर अमरेश्वरमें ॐकारनाथ, हिमालयमें केदारनाथ, डाकिनीमें भीमशंकर, काशीमें विश्वेश्वर, गोमतीतीरमें त्र्यम्बक, चिताभूमिमें वैद्यनाथ, द्वारकामें नागेश, सेतुबन्धमें रामेश और शिवालयमें घृष्णेश्वर हैं, इनके दर्शन तथा पूजनसे सद्योमुक्ति लिखी है।

पीठके विषयमें देवीभागवत, कालिकापुराण, तन्त्रचूड़ामणि आदि ग्रन्थोंमें बहुत कुछ प्रमाण मिलता है। मन्त्रसिद्धिके निमित्त जपस्थान विशेषको पीठ कहते हैं। अर्थात् जिस स्थानविशेषमें मन्त्रजप, अनुष्ठान, पुरश्चरण आदिके करनेसे शीघ्र फलप्राप्ति होती है, उसे पीठ कहा जाता है। पीठ कितने प्रकारके होते हैं, इस विषयमें युक्तिकल्पतरुमें लिखा है—

धातुपाषाणकाष्ठैश्च पीठस्त्रिविध उच्यते।
धातवश्च शिलाश्चैव काष्ठानि विविधानि च॥

धातु, शिला व काष्ठ तीन प्रकारके पीठ होते हैं। धातुपीठोंमें लोहेके पीठ निन्दनीय हैं। शिला पीठोंमें शार्कर तथा कर्कशपीठ वर्जनीय हैं। काष्ठपीठोंमें सारहीन या अत्यन्त सारवान् पीठ अप्रशस्त है। भोजके मतमें गुरुपीठ गौरवजनक और लघुपीठ लघुताजनक है। शक्तिपीठोंके विषयमें देवीभागवत ७।३० में लिखा है—

अपश्यत्तां सतीं वह्नौ दह्यमानान्तु चित्कलाम्।
स्कन्धेऽप्यारोपयामास हा सतीति वदन् मुहुः॥
बभ्राम भ्रान्तचित्तः सन्नानादेशेषु शंकरः।
तदा ब्रह्मादयो देवाश्चिन्तामापुरनुत्तमाम्॥

विष्णुस्तु त्वरया तत्र धनुरुद्यम्य मार्गणैः ।
चिच्छेदावयवान् सत्यास्तत्तत् स्थानेषु तेऽपतन् ॥
तत्तत् स्थानेषु तत्रासीन्नानामूर्त्तिधरो हरः ।
उवाच च ततो देवान् स्थानेष्वेतेषु ये शिवाम् ॥
भजन्ति परया भक्त्या तेषां किञ्चिन्न दुर्लभम् ।
नित्यं सन्निहिता यत्र निजाङ्गेषु पराम्बिका ॥
स्थानेष्वेतेषु ये मर्त्याः पुरश्चरणकर्मिणः ।
तेषां मन्त्राः प्रसिध्यन्ति मायाबीजं विशेषतः ॥
इत्युक्त्वा शंकरस्तेषु स्थानेषु विरहातुरः ।
कालं निन्ये नृपश्रेष्ठ जपध्यानसमाधिभिः ॥

दक्षयज्ञमें पिता प्रजापति दक्षके मुखसे पति शिवकी निन्दा सुनकर सती पार्वतीने योगाग्निद्वारा अपने शरीरको दग्ध कर डाला। जलते हुए सती शरीरको शंकरने अपने कन्धेमें रखकर सर्वत्र घूमना शुरू किया जिससे देवताओंको बड़ी चिन्ता लगी। इतनेमें भगवान् विष्णुने बाण द्वारा सतीदेहको खण्ड-खण्ड कर दिया। उनका अङ्ग प्रत्यङ्ग भारतके अनेक स्थानोंमें जा गिरा। श्रीभगवान् शंकर उन सब स्थानोंमें स्वयं जाकर रहने लगे और देवताओंसे उन्होंने कहा कि उन स्थानोंमें भक्तिपूर्वक जो भगवती शिवाकी उपासना करेगा, उसको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा। क्योंकि उन सब अङ्गोंमें स्वयं पार्वती विराजमान हैं। उन स्थानोंमें पुरश्चरण और और खास करके मायाबीजका जप करनेपर मन्त्रसिद्धि अवश्य होगी। भगवान् शंकरने इतना कहकर स्वयं भी उन्हीं स्थानोंमें जप ध्यान समाधि द्वारा कालक्षेप करना प्रारम्भ किया। इस प्रकारसे देवीभागवतमें पीठोत्पत्तिका रहस्य बताया गया है। और १०८ देवीपीठका वर्णन किया गया है। तन्त्रचूडामणिमें ५१ पीठका वर्णन मिलता है और कहीं कहीं ७१ पीठका भी उल्लेख है। इन सब विभिन्न मतोंका सामञ्जस्य करके 'शिवचरित्र' नामक ग्रन्थमें निम्नलिखित ५१ महापीठ और २६ उपपीठोंका वर्णन है। यथा—

महापीठ ।

अङ्गका नाम	स्थान	देवी	भैरव
ब्रह्मरन्ध्र	हिङ्गला	काहरी	भीमलोचन
त्रिनेत्र	सर्कर	महिष-मर्दिनी	क्रोधीश
नेत्रांशतारा	तारा	तारिणी	उन्मत्त
वामकर्ण	करतोयातट	अपर्णा	वामेश
दक्षिण कर्ण	श्रीपर्वत	सुन्दरी	सुन्दरानन्द
नासिका	सुगन्धा	सुनन्दा	त्र्यम्बक
मनः	वक्रनाथ	पापहरा	वक्रनाथ
वामखण्ड	गोदावरी	विश्वमात्रिका	विश्वेश
दक्षिणखण्ड	गण्डकी	गण्डकीचण्डी	चक्रपाणि
ऊर्द्ध्वंदन्त	अनल	नारायणी	संकूर
अधोदन्त	पञ्चसागर	वाराही	महारुद्र
जिह्वा	ज्वालामुखी	अम्बिका	वटकेश्वर
कण्ठ	काश्मीर	महामाया	त्रिसन्ध्य
ग्रीवा	श्रीहट्ट	महालक्ष्मी	सर्वानन्द
ओष्ठ	भैरवपर्वत	अवन्ती	नम्रकर्ण
अधर	प्रभास	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
मर्म	प्रभासखण्ड	सिद्धेश्वरी	सिद्धेश्वर
चिवुक	जनस्थान	भ्रामरी	विकृताक्ष
द्विहस्ताङ्गुलि	प्रयाग	कमला	वेणीमाधव
वामहस्त	स्नानसरोवर	दाक्षायणी	हर
दक्षिण हस्तार्द्ध	चट्टग्राम	भवानी	चन्द्रशेखर
वामस्कन्ध	मिथिला	महादेवी	महोदर
दक्षिणस्कन्ध	रत्नावली	शिवा	शिव
वाममणिबन्ध	मणिबन्ध	गायत्री	शङ्कर
दक्षिणमणिबन्ध	मणिवेद	सावित्री	स्थाणु
बामहस्तकी एड़ि	उजानि	मंगलचण्डी	कपिलाम्बर
दक्षिणहस्तकी एड़ि	रणखण्ड	बहुलाक्षी	महाकाल

वामबाहु	बहुला	बहुला	भीरुक
दक्षिणबाहु	वक्रेश्वर	वक्रेश्वरी	वक्रेश्वर
वामस्तन	जालन्धर	त्रिपुरमालिनी	भीषण
दक्षिणस्तन	रामगिरि	शिवानी	चण्ड
पृष्ठ	वैवस्वत	त्रिपुटा	शमनकर्मा
हृदय	वैद्यनाथ	नवदुर्गा	वैद्यनाथ
नाभि	उत्कल	विजया	जय
जठर	हरिद्वार	भैरवी	वक्र
कुक्षि	कोंकामुख	कोंकेश्वरी	कोंकेश्वर
कुक्षिका ऊपरभाग	काञ्ची	वेदगर्भा	रुरु
वामनितम्ब	कालमाधव	काली	असितांग
दक्षिणनितम्ब	नर्मदा	सोणाक्षी	भद्रसेन
महामुद्रा	कामरूप	कामाख्या	उमानन्द
वामजानु	मालव	शुभचण्डी	ताम्र
दक्षिणजानु	त्रिस्रोता	चण्डिका	सदानन्द
वामजङ्घा	जयन्ती	जयन्ती	क्रमदीश्वर
दक्षिणजङ्घा	नेपाल	महामाया	कपाली
वामपद	तिहुंत	भ्रमरी	भ्रमर
दक्षिणपद	त्रिपुरा	त्रिपुरा	नल
दक्षिणपदांगुष्ठ	क्षीरग्राम	योगाद्या	क्षीरखण्ड
दक्षिण पदाङ्गुलि	कालीघाट	कालिका	नकुलेश
वामगुल्फ	विभास	भीमरूपा	कापाली
दक्षिणगुल्फ	कुरुक्षेत्र	सम्बरी	सम्वर्त्त
वामपदांगुलि	विन्ध्याचल	विन्ध्यवासिनी	पुण्यभाजन

उपपीठ ।

किरीट	किरीटकाणा	भुवनेशी	किरीटी
केश	केशजाल	उमा	भूतेश
कुण्डल	वाराणसी	अन्नपूर्णा	विश्वेश्वर
वामगण्डांश	उत्तरा	उत्तरिणी	उत्सादन

दक्षिणगण्डांश	नलस्थान	भ्रमरी	विरूपाक्ष
ओष्ठांश	अट्टहास	फुल्लरा	विश्वनाथ
दन्तांश	संहर	शूरेशी	शूरेश
उच्छिष्ट	नीलाचल	विमला	जगन्नाथ
कण्ठहार	अयोध्या	अन्नपूर्णा	हरिहर
हारांश	नन्दीपुर	नन्दिनी	नन्दीश्वर
ग्रीवांश	श्रीशैल	सर्वेश्वरी	सच्चिदानन्द
शिरोंऽश	कालीपीठ	चण्डेश्वरी	चण्डेश्वर
अस्त्र	चक्रद्वीप	चक्रधारिणी	शूलपाणि
पाणिपद्म	यशोर	यशोरेश्वरी	प्रचण्ड
करांश	सतीचल	सुनन्दा	सुनन्द
स्कन्धांश	वृन्दावन	कुमारी	कुमार
वसा	गौरीशेखर	युगाद्या	भीम
शिरानलि	नलहाटि	सेफालिका	योगीश
कक्षांश	सर्वशैल	विश्वमाता	दण्डपाणि
नितम्बांश	शोण	भद्रा	भद्रेश्वर
पदांश	त्रिस्रोता	पार्वती	भैरवेश्वर
नूपुर	लंका	इन्द्राक्षी	रक्षेश्वर
चर्मांश	कटक	कटकेश्वरी	वामदेव
रोम	पुण्ड्र	सर्वाक्षीणी	सर्व
रोमखण्ड	तैलङ्ग	चण्डदायिका	चण्डेश
भग्नांश	श्वेतबन्ध	जया	महाभीम

ये ही ५१ महापीठ तथा २६ उपपीठोंके नाम हैं। इनमें दान, जप होम आदि करनेसे अक्षयपुण्यलाभ होता है।

इसके सिवाय देवभूमि भारतवर्षके और भी अनेक स्थानोंमें शिवशक्तिके कई एक उपासनापीठ शास्त्रमें बताये गये हैं। यथा—कुब्जिकातन्त्र ७ प०—

स्थान	देवी	शिव
अमरेश	चण्डिका	कुशतुंगार
प्रभास	पुष्पकरेक्षणा	सोमनाथ

निमिष	शिवानी	महेश्वर
पुष्कर	पुरहूता	राजगन्धि
श्रीपर्वत	मायावी	त्रिपुरान्तक
जल्पेश्वर	त्रिशूलिनी	त्रिशूली
आम्रातकेश्वर	सूक्ष्मा	सूक्ष्म
गयाक्षेत्र	मङ्गला	प्रपिताम
कुरुक्षेत्र	स्थाणुप्रिया	स्थाणु
इष्टनाभ	स्वायम्भुवा	स्वयम्भू
कनखल	शिववल्लभा	उग्र
अट्टहास	महानन्दा	महानन्द
विमलेश्वर	विश्वप्रिया	विश्वशम्भू
महेन्द्र	महान्तका	महान्तक
भीमपीठ	भीमेश्वरी	भीमेश्वर
वस्त्रापथ	भुवनेश्वरी	भव
अद्रिकूट	रुद्राणी	महायोगी
अविमुक्त	विशालाक्षी	महादेव
महामाया	महाभागा	रुद्र
गोकर्ण	शिवभद्रा	महावल
भद्रकर्ण	कर्णिका	महादेव
सुपर्ण	उत्पला	सहस्राक्ष
स्थाणुपीठ	श्रीधरा	स्थाणु
कमलालयपीठ	कमलाक्षी	कमल
अरण्य	सन्ध्या	ऊर्द्ध्वरेता
माकोट	मुण्डकेश्वरी	महाकोट

ये सभी पीठ उपासना करनेपर परमसिद्धिप्रद हैं। पृथिवीतत्त्वके अधिदैव शिव भगवान्‌के होनेके कारण पृथिवी और विशेषकर भारतवर्ष इस प्रकारसे शिवशक्तिमण्डित है।

अब कुछ महातीर्थोंके वर्णन किये जाते हैं—भारतवर्षमें सर्वप्रधानमहा तीर्थ काशी है। वाराणसी, वराणसी, वरणसी, तीर्थराज्ञी, तपःस्थली, काशिका, अविमुक्त, आनन्दवन, आनन्दकानन, अपुनर्भवभूमि, रुद्रावास, महाश्मशान ये सब काशीके पर्यायशब्द हैं। इन नामोंमेंसे काशी, अविमुक्त और वाराणसी ये तीन नाम ही सबसे प्राचीन हैं।

कर्मणां कर्षणात्सा वै काशीति परिकथ्यते ।

शिव० पु० ज्ञानसंहिता ।

यहाँपर शुभाशुभ कर्म नष्ट होकर मोक्षलाभ होता है, इसलिये इसका नाम काशी है।

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वर ।

अतो नामापरं चास्तु काशीति प्रथितं विभो ॥ काशी० खं० २६-२७

वाक्यसे अगोचर परम ज्योति यहाँ पर प्रकाशित होती है, इसलिये इसको काशी कहते हैं ।

विमुक्तं न मया यस्मान् मोक्षते वा कदाचन ।

मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम् ॥ लिङ्ग पु० ६२-४५

इस स्थानको भगवान् शङ्कर न कदापि परित्याग करते हैं और न करेंगे इसलिये इसका नाम अविमुक्त है ।

भूर्लोके नैव संलग्नमन्तरिक्षे ममालयम् ।

अविमुक्ता न पश्यन्ति मुक्ता पश्यन्ति चेतसा ।

श्मशानमेतद् विख्यातमविमुक्तमिति स्मृतम् ॥ कूर्म० पु० ३०।२६।२७ ।

भूर्लोकके साथ असंलग्न, अन्तरिक्षमें स्थित मेरे इस निवासस्थानको अविमुक्त संसारी जीव नहीं देख सकता है, मुक्तात्मागण मानसनेत्रसे देख सकते हैं, इसकारण इस महाश्मशानको 'अविमुक्त' कहा गया है। शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मणमें काशी शब्दका उल्लेख मिलता है यथा—'अतः काशयोऽग्निना दत्तम् ।' यज्ञं काशीनां भरतः सात्वतामिव' १३-५-४१६।४२१ कौषीतकी उपनिषद् ३-१-५-१ तथा रामायण किष्किन्धा काण्ड ४०-२२ में काशीको बड़ा भारी जनपद तथा पवित्र यज्ञभूमि करके बताया गया है । रामायणके उत्तरकाण्डमें भी प्रमाण मिलता है यथा—

तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम् ।

प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥

उद्योगश्च त्वया राजन् भरतेन कृतः सह ।

तद्भवानद्य काशेयपुरीं वाराणसीं व्रज ॥

रमणीयां त्वया गुप्तां सुप्राकारां सुतोरणाम् ॥

उ० का० ४।१५-१७ ।

श्रीभगवान् रामचन्द्रने काशीराज प्रतर्दनसे कहा "आपने भरतके साथ इन्तजाम कर लिया है, इसलिये आज अपनी तोरण प्राकार मण्डित रमणीय वाराणसीपुरीमें जाइये ।"

और भी उत्तरकाण्ड—६६।१८-१६ में—

त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ॥
पुरुश्चकार तद्राज्यं धर्म्मेण महतावृतः ।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ॥

नहुषात्मज राजा ययातिके स्वर्गवासी हो जानेपर परम धार्मिक पूरु राजाने महती-पुरी काशीमें राज्य किया । इस प्रकार काशी तथा अविमुक्त दोनों नाम शास्त्रमें पाये जाते हैं । 'वाराणसी' नामके विषयमें जावालोपनिषद्में लिखा है—

अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे, येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति, तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत, अविमुक्तं न विमुञ्चेत् एवमेवैतद् 'याज्ञवल्क्य ! सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नाशीति । सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवतीति । सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नाशी भवतीति ।

यहाँपर जीवोंके मृत्यु समय रुद्रदेव कानमें 'तारकब्रह्म' मन्त्र कह देते हैं जिससे जीवको मोक्ष हो जाता है । अतः अविमुक्त वाराणसीका ही सेवन करना चाहिये, इसे छोड़ना नहीं चाहिये । यह अविमुक्त कहाँपर है ? वरणा और नाशी इन दोनों नदियोंके बीचमें है । समस्त इन्द्रियकृत दोष दूर करती है इसलिये 'वरणा' नाम है और समस्त इन्द्रियकृत पाप नष्ट करती है इसलिये 'नाशी' नाम है । और भी काशी-खण्ड ३०।६६-७० में—

असिश्च वरणा यत्र क्षेत्ररक्षाकृतौ कृते ।
वाराणसीति विख्याता तदारभ्य महामुने ।
असेश्च वरणायाश्च संगमं प्राप्य काशिका ॥

सत्ययुगमें इस काशीक्षेत्रकी रक्षाके लिये वरणा और असिकी उत्पत्ति हुई है । तभीसे असि तथा वरणाके नामसे काशी वाराणसी कहलाती है । काशीखंड ५।२४-२६ में वाराणसीका यौगिक रहस्यपूर्ण अर्थ भी बताया गया है, यथा—

क्षेत्रं पवित्रं हि यथाऽविमुक्तं—
नान्यत्तथा यच्छ्रुतिभिः प्रयुक्तम्।
न धर्मशास्त्रैर्न च तैः पुराणै—
स्तस्माच्छरण्यं हि सदा विमुक्तम्॥
सहोवाचेति जावालिरारुणेऽसिरिड़ा मता।
वरणा पिंगला नाड़ी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥
सा सुषुम्ना परा नाड़ीत्रयं वाराणसी त्वसौ।
तदत्रोत्क्रमणे सर्वजन्तूनां हि श्रुतौ हरः॥
तारकं ब्रह्म व्याचष्टे तेन ब्रह्म भवन्ति हि।
एवं श्लोको भवत्येष आहुर्वै वेदवादिनः॥
नाविमुक्तसमं क्षेत्रं नाविमुक्तसमा गतिः।
नाविमुक्तसमं लिङ्गं सत्यं-सत्यं पुनः पुनः॥

काशी जैसा पवित्रक्षेत्र और कोई भी नहीं है, इसको केवल धर्मशास्त्र तथा पुराणने ही नहीं कहा है, अधिकन्तु वेदमें भी यही कहा गया है, इसलिये अविमुक्त क्षेत्रकी ही शरण लेनी चाहिये। मुनिवर जावालिने अपने शिष्य आरुणिसे कहा है—इड़ा नाड़ी असि, पिङ्गला वरणा और इन दोनोंके मध्यमें स्थित सुषुम्ना नाड़ी अविमुक्त क्षेत्र। इस तरहसे योगनाड़ीत्रय ही वाराणसी है। वाराणसीमें प्राणत्याग होते समय भगवान् शिव दक्षिण कर्णमें 'तारकब्रह्म' नाम सुनाते हैं, जिससे जीवको ब्रह्मस्वारूप्य लाभ होता है। इस विषयमें वेदवक्ता पण्डितोंने यही श्लोक कहा है कि अविमुक्तके समान क्षेत्र नहीं है, अविमुक्तके समान गति नहीं है, अविमुक्तके समान लिङ्ग नहीं है, यही निश्चित सत्य है।

'कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी।' ३१।२५।

कलियुगमें विश्वेश्वर ही श्रेष्ठतम देवता और वाराणसी ही श्रेष्ठतम पुरी है। यही अतिप्राचीन काशी, अविमुक्त और वाराणसी नामत्रयकी सार्थकता है।

आर्यशास्त्रमें काशी महातीर्थकी सर्वोत्तम प्रशंसा की गई है। लिखा है—

धर्मस्योपनिषत् सत्यं मोक्षस्योपनिषच्छमः।
क्षेत्रतीर्थोपनिषदमविमुक्तं विदुर्बुधाः॥

शिव० पु० ज्ञानसंहिता ४९-६३।

धर्मका सर्वोत्तम रहस्य सत्य है, मोक्षका सर्वोत्तम रहस्य शम है और क्षेत्र तीर्थका सर्वोत्तम रहस्य अविमुक्त वाराणसी है। काशीखण्डके २२ वें अध्यायमें लिखा है—

अविमुक्तान्महाक्षेत्राद्विश्वेशसमधिष्ठितात् ।
न च किञ्चित् क्वचिद् रम्यमिह ब्रह्माण्डगोलके ॥
ब्रह्माण्डमध्ये न भवेत् पंचक्रोशप्रमाणतः ॥
यथा यथा हि वर्द्धेत जलमेकार्णवस्य च ।
तथा तथोन्नयेदीशस्तत्क्षेत्रं प्रलयादपि ॥
क्षेत्रमेतत् त्रिशूलाग्रे शूलिनस्तिष्ठति द्विज ।
अन्तरिक्षे न भूमिष्ठं नैक्षन्ते मूढबुद्धयः ॥

विश्वेश्वरकी निवासभूमि पञ्चक्रोशपरिमित इस अविमुक्त महाक्षेत्रकी अपेक्षा रम्यस्थान ब्रह्माण्डमें कहीं भी नहीं है। खण्डप्रलयमें जितना जितना जल बढ़ता है, महादेव उतना हीं इसको ऊँचा करके प्रलयपयोधिजलसे बचा रखते हैं। यह स्थान अन्तरिक्षमें शिवत्रिशूलके ऊपर है, पृथिवीमें स्थित नहीं है, इसको मूढ़ बुद्धिलोग जान नहीं सकते।

प्रयागे वा भवेन्मोक्ष इह वा मत्परिग्रहात् ।
प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादविमुक्तमिदं शुभम् ॥

लिङ्ग पु० ९२ अ० ।

शिवभगवान्के अधिष्ठान हेतु प्रयाग, काशी दोनों ही स्थानोंमें मोक्षलाभ होता है, किन्तु प्रयागसे भी काशी श्रेष्ठतर है।

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं पूर्वसञ्चितम् ।
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत् सर्वं व्रजति क्षयम् ॥

मत्स्य पु० ।

पूर्वसञ्चित हजार जन्मोंके पाप भी काशीप्रवेशमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।

बहुनात्र किमुक्तेन वाराणस्या गुणान् प्रति ।
नामापि गृणतां काश्याश्चतुर्वर्गो न दूरतः ॥　　नारदीय पु० ।

वाराणसीका गुण अधिक क्या कहा जाय, इसके नाम मात्रके उच्चारणसे चतुर्वर्ग फल मिलता है।

काशी काशीति काशीति रसना रससंयुता ।
यस्य कस्यापि भूयाच्चेत् स रसज्ञो न चेतरः ।। स्कन्द पु० ।

जिसकी रसनापर मधुर 'काशी' इस नामका रस है, वही रसज्ञ है ।

त्रिरात्रमपि ये काश्यां वसन्ति नियतेन्द्रियाः ।
तेषां पुनन्ति नियतं स्पृष्टाश्चरणरेणवः ।।
यावज्जीवं वसेद् यस्तु क्षेत्रमाहात्म्यविन्नरः ।
जन्ममृत्युभयं हित्वा स याति परमां गतिम् ।। (काशीखण्ड)

जितेन्द्रियताके साथ तीन रात्रि जो काशीवास करता है उसकी चरणधूलिसे संसार पवित्र होता है। काशीक्षेत्रकी महिमा जानकर जो यावज्जीवन काशीवास करता है, उसको जन्ममृत्युभयरहित परम गतिकी प्राप्ति होती है ।

काशीमें मृत्यु होनेसे मुक्ति होती है, तो क्या काशीमें आनेसे पूर्व जिसने पाप किया है या काशीमें रहकर भी जिसने पाप किया है सभीको मुक्ति मिल जायगी ? जब 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस वेदप्रमाणके अनुसार ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है, तो ज्ञान-विहीन या अज्ञानी पापी काशीवासी होनेपर भी कैसे मुक्त हो सकते हैं यह विषय अवश्य विचारने योग्य है । अब नीचे इस विषयमें कुछ विचार किया जाता है । काशीखण्डमें लिखा है—

विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः ।
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारं न विशेत् पुनः ।।
तत्रोत्क्रमणकाले तु साक्षात् विश्वेश्वरः स्वयम् ।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म येनासौ तन्मयो भवेत् ।।

विषयमें आसक्तचित्त, धर्ममें रतिहीन मनुष्य भी यदि काशीमें मरे तो उसे पुनः संसारमें आना नहीं पड़ेगा । क्योंकि यहाँपर प्राणत्यागके समय स्वयं विश्वेश्वर मुमुर्षुके कानमें 'तारकब्रह्म' नाम सुनाते हैं, जिससे तन्मयता होकर पाप कटता है और मोक्ष मिलता है । यह दोनों काशीमें मुक्तिके विषयमें साधारण श्लोक हैं । विशेष विवेचनमें पद्मपुराणका वचन है यथा—

अविमुक्ते कृतं पापं वज्रलेपी भवेद् दृढम् ।
वज्रलेपेन पापेन तेन मे जन्म राक्षसम् ।।

'अविमुक्तेऽणुमात्रं हि तत्पापं मेरुतां व्रजेत्।'
पञ्चक्रोशीं प्रविशतस्तस्य पातकसन्ततिः।
बहिरेव प्रतिष्ठेत नान्तर्निविशते क्वचित्॥

(काशी खण्ड)

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपं भविष्यति॥ (म० तन्त्र,)

काशीमें किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है, इसी कारण एक मनुष्यको राक्षस-योनिमें जाना पड़ा, ऐसा पद्मपुराणमें लिखा है। यहांके अणुमात्र पाप भी मेरुतुल्य विशाल हो जाता है। काशीखण्डमें लिखा है पञ्चक्रोशीके भीतर प्रवेश करते समय पाप बाहर ही रह जाता है, भीतर घुसने नहीं पाता। इस कारण अन्यत्रका पाप काशीक्षेत्रमें नष्ट हो जाता है, किन्तु काशीमें अनुष्ठित पाप वज्रलेप हो जाता है। इसीलिये और भी काशीखण्डमें लिखा है—

अन्यत्र यत्कृतं पापं तत् काश्यां परिणश्यति।
न कल्पकोटिभिः काश्यां कृतं कर्म प्ररुध्यते।
किन्तु रुद्रपिशाचत्वं जायते निरयत्रयम्॥

अन्यत्र किया हुआ पाप काशीमें नष्ट हो जाता है। किन्तु काशीमें किया पाप कोटिकल्पमें भी नष्ट नहीं होता है, रुद्रपिशाचकी योनि और तीन नरक प्राप्त होते हैं।

पद्मपुराणमें इसका दृष्टान्त यथा—

अथ शूद्रशरीरं तु दध्रे नाम्ना क्रमेलकः।
ततो भैरवदूतैस्तैः स नीतो भैरवाग्रतः॥
कालभैरवं दृष्टैव रुद्रपैशाच्यमाप्तवान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि क्षुत्तृष्णाभ्यां विवर्जितः॥

काशीमें पाप करनेसे अनेक योनियोंमें दुःखभोगके बाद क्रमेलकको शूद्रयोनि प्राप्त हुई। तदनन्तर भैरवदूतगण उसको कालभैरवके पास लाये। कालभैरवको देखकर उसे तीस हजार वर्ष तक रुद्रपिशाचयोनिमें रहना पड़ा। इसीकारण काशीखण्डमें उपदेशवाक्य है, यथा—

तत्र पापं न कर्त्तव्यं दारुणा रुद्रयातना ।
अहो रुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम् ॥
पापमेव हि कर्त्तव्यं मतिरस्ति यदीदृशी ।
सुखेनान्यत्र कर्त्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी ॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा ।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी नियमः क्व सः ॥
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र परिग्रहैः ।
परस्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः ॥
त्यक्त्वा वैश्वेश्वरी भक्तिं येऽन्यदेवपरायणाः ।
सर्वथा तैर्न वस्तव्या राजधानी पिनाकिनः ॥
अन्नार्थिनस्तु ये विप्रा ये च कामार्थिनो नराः ।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेत्रमिदं यतः ॥
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये ।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः ।
परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये ।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये ॥

काशीमें कदापि पाप नहीं करना चाहिये । क्योंकि रुद्रयातना बड़ी भयानक तथा नरक-यातनासे भी दारुण है । यदि पाप करनेकी इच्छा ही है तो विशाल पृथिवी पड़ी हुई है, अन्यत्र जहाँ चाहे सुखसे पाप करे, किन्तु काशीमें आकर पाप नहीं करना चाहिये । जो मनुष्य परनिन्दा तथा परनारीमें आसक्ति रखता है उसको काशीमें रहना नहीं चाहिये । क्योंकि काशीवासके नियमसे यह विरुद्ध है । जो प्रतिग्रहद्वारा धनसंग्रह अथवा कपटसे परधनहरण करना चाहता है उसको काशीमें नहीं रहना चाहिये । जो विश्वेश्वरकी भक्ति छोड़कर सामान्य देवतामें रति रखता है, उसको भी शिवपुरीमें निवास नहीं करना चाहिये, अन्नार्थी विप्र या कामार्थी मनुष्यको अविमुक्तपुरीमें नहीं रहना चाहिये, क्योंकि यह मोक्षपुरी है। जो शिवनिन्दा या वेदनिन्दा करता है और वेदमार्गसे उलटा चलता है उसको वाराणसी सेवन नहीं करना चाहिये ।

दूसरेके साथ द्रोहकरनेवाले, ईर्ष्याकरनेवाले या दूसरेको दुःखदेनेवाले मनुष्योंको काशीमें सिद्धिलाभ नहीं होता है ।

अब विचारकी बात यह है कि, 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इस आज्ञाकी सार्थकता अज्ञानी, पापी काशीवासीके लिये कैसे होगी । इस विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

यानि चेह प्रकुर्वन्ति पातकानि कृतालयाः ।
नाशयेत्तानि सर्वाणि देवः कालतनुः शिवः ॥ (कूर्म पु०)
कृत्वापि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत् ।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मुक्तिमवाप्स्यति ॥ (काशीखण्ड)
वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा ।
योनिं प्रविश्य पैशाचीं वर्षाणामयुतत्रयम् ॥
पुनरेव च तत्रैव ज्ञानमुत्पद्यते ततः ।
मोक्षं गमिष्यते सोऽपि गुह्यमेतत् खगाधिप ॥
"अधर्मिष्ठस्य तत्क्षेत्रे यातनान्ते दिशेन्मतिम् ।" (गरुड़पुराण)

काशीमें रहकर जो कुछ पाप किया जाता है, उसके दण्डदाता यमराज नहीं हैं, किन्तु स्वयं कालतनु शिव हैं । वे पापीको मरणके बाद रुद्र-पिशाच योनिमें या अत्यधिक पाप हो तो अन्यान्य अधमयोनिमें डालते हैं । इस प्रकारसे वर्षों दुःखभोग या रुद्रयातना-भोगके बाद पापीकी बुद्धि ठिकाने पर आती है, तब उसमें पुण्य तथा ज्ञानका संचार होने लगता है । वही ज्ञान बढ़ता हुआ अनुकूल कालमें उसको पुनः काशीमें जन्म दिलाता है । तब ज्ञान-परिपाकके समय 'तारक ब्रह्म' नाम विश्वेश्वर उन्हें देते हैं, जिससे मरणानन्तर मुमुक्षुको मोक्ष मिल जाता है । इस प्रकारसे 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' और 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इन दोनों वाक्योंकी एकता श्रीभगवान् भवानीपतिकी कृपासे हो जाती है ।

अब काशीमें मोक्षलाभकेलिये विश्वेश्वरके अतिरिक्त और कौन कौन दिव्य शक्तिमयी वस्तुओंसे सहायता मिलती है, उसका वर्णन किया जाता है । काशीखण्डमें लिखा है—

कामप्रदानि तीर्थानि त्रैलोक्ये यानि कानिचित् ।
तानि सर्वाणि सेवन्ते काश्यामुत्तरवाहिनीम् ॥

स्वः सिन्धुः सर्वतः पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी।
काश्यां विशेषतो विष्णो! यत्र चोत्तरवाहिनी॥
गायन्ति गाथामेतां वै देवर्षिपितरो गणाः।
अपि दृग्गोचरा नः स्यात् काश्यामुत्तरवाहिनी॥
गङ्गैव केवला मुक्त्यै निर्णीता परितो हरे!।
अविमुक्ते विशेषेण ममाधिष्ठानगौरवात्॥

बन्धनकी गति अनुलोम और मोक्षकी गति विलोम है। मोक्षमें जहाँसे आये उसी ओर जाना पड़ता है। गङ्गा उत्तरसे आयी है, इसलिये जहाँपर उत्तरवाहिनी होगी, वहीं उसकी विलोमगति कहलावेगी। यही कारण है कि, काशीकी गङ्गा मोक्षदायिनी, ज्ञानप्रवाहमयी है। त्रिलोकमें कामनानुसार फल देनेवाले जितने तीर्थ हैं वे सब काशीमें उत्तरवाहिनीकी ही सेवा करते हैं। गंगा दिव्य नदी होनेके कारण सर्वत्र ही पुण्यदायिनी तथा ब्रह्महत्यादि महापाप तककी नाशकारिणी है, किन्तु उत्तरवाहिनी होनेके कारण काशीमें उसकी विशेष महिमा है। ऋषि, देवता, पितृगण भी गङ्गाका महिमाकीर्त्तन करते हैं और उत्तरवाहिनीके दर्शन चाहते हैं। श्रीभगवान् शिवने भगवान् विष्णुसे कहा है कि, मुक्तिलाभके लिये गङ्गा ही प्रशस्त तीर्थ है और काशीक्षेत्रमें विश्वनाथका अधिष्ठान रहनेसे गङ्गाकी महिमा बहुत बढ़ गई है।

इसीतरह काशीमें मुक्तिलाभके लिये मणिकर्णिकाकी भी विशेष महिमा बताई गई है। मणिकर्णिकाकी उत्पत्तिके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

ततश्च विष्णुना दृष्ट्वा अहो किमेतदद्भुतम्।
इत्याश्चर्यं तदा दृष्ट्वा शिरसः कम्पनं कृतम्॥
ततश्च पतितः कर्णान्मणिश्च पुरतः प्रभोः।
यत्रासौ पतितश्चैव तत्रासीन्मणिकर्णिका॥

शिव० पु० ज्ञानसंहिता ४९।१०-१४।

संसारचिन्तामणिरत्र यस्मात्
तं तारकं सज्जनकर्णिकायाम्।
शिवोऽभिधत्ते सहसान्तकाले
तद्गीयतेऽसौ मणिकर्णिकेति॥

मुक्तिलक्ष्मीमहापीठमणिस्तच्चरणाब्जयोः ।
कर्णिकेयं ततः प्राहुर्यां जना मणिकर्णिकाम्
(काशीखण्ड ७।७६-८०)

त्वदीयस्यास्य तपसो महोपचयदर्शनात् ।
यन्मयान्दोलितो मौलिरहिश्रवणभूषणः ॥
तदान्दोलनतः कर्णात् पपात मणिकर्णिका ।
मणिभिः खचिता रम्या ततोऽस्तु मणिकर्णिका ॥
चक्रपुष्करिणीतीर्थं पुरा ख्यातमिदं शुभम् ।
त्वया चक्रेण खननाच्छङ्खचक्रगदाधर ॥
मम कर्णात् पपातेयं यदा च मणिकर्णिका ।
तदाप्रभृति लोकेऽत्र ख्याताऽस्तु मणिकर्णिका ॥
काशीखण्ड (२६।६२-६५)

किसी समय श्रीभगवान् विष्णुने आश्चर्य होकर जब सिर हिलाया था, तब उनके कानसे एक मणि इस स्थानपर गिर गया, तबसे इस स्थानका नाम मणिकर्णिका हुआ है। संसारके चिन्तामणि विश्वनाथ जीवोंके अन्तकालमें इस स्थानपर उनके कर्णमें तारक-ब्रह्म नाम सुनाते हैं, इस कारण इसे मणिकर्णिका कहा जाता है। यह स्थान मुक्तिलक्ष्मीके महापीठके मणिस्वरूप तथा उनके चरणकमलकी कर्णिकास्वरूप है, इसकारण इसका नाम मणिकर्णिका है। भगवान् महादेवने श्रीविष्णुसे कहा है;—"तुम्हारी विपुल तपस्याको देखकर विस्मयसे जब मैंने सिर हिलाया था, तब मेरे कानसे मणिजटित मणिकर्णिका नामक कर्णभूषण इस स्थानपर गिर पड़ा था। तुमने चक्रसे इसका खनन किया है, इसकारण पहिले इस तीर्थका नाम चक्रपुष्करणी था। जबसे मणिकर्णिका नामक आभूषण गिरा, तबसे इसका नाम मणिकर्णिका हुआ है।" इसकी महिमाके विषयमें काशीखण्डमें लिखा है :—

मुक्ताकुण्डलपातेन तवाद्रितनयाप्रिय ।
तीर्थानां परमं तीर्थं मुक्तिक्षेत्रमिहास्ति वै ॥
चक्रपुष्करणी तत्र योनिचक्रनिवारिणी ।
संसारचक्रगहने यत्र स्नातो विशेन्न वा ॥

भवानीवल्लभके मणिकुण्डल गिरनेसे यह स्थान परमतीर्थ मुक्तिक्षेत्र बन गया है। वहाँपर जो चक्रपुष्करणी है, उसमें स्नान करनेसे विविधयोनि भ्रमणरूप संसारचक्रमें जीवको पुनः आना नहीं पड़ता है। पद्मपुराणमें लिखा है :—

विश्वेशो विश्वया सार्द्धं सदोपमणिकर्णिकम्।
मध्यन्दिनं समासाद्य संस्नाति प्रतिवासरम्॥
वैकुण्ठादप्यहं नित्यं मध्यान्हे मणिकर्णिकाम्।
विगाहे पद्मया सार्द्धं मुदा परमया मुने॥
सत्यलोकात् प्रतिदिनं हंसया च पितामहः।
माध्याह्निक-विधानाय समायान्मणिकर्णिकाम्॥
इन्द्राद्या देवता सर्वा मरीच्याद्या महर्षयः।
माध्यान्हिकविधानाय समीयुर्मणिकर्णिकाम्॥

विश्वनाथ अन्नपूर्णाके साथ तथा विष्णु लक्ष्मीके साथ प्रतिदिन मध्याह्नके समय मणिकर्णिकामें नहानेको आते हैं। इस प्रकार सत्यलोकसे पितामह ब्रह्मा, स्वर्गलोकसे इन्द्रादि देवतागण, मरीचि आदि महर्षिगण भी स्नानादिके लिये प्रतिदिन मध्याह्नकालमें मणिकर्णिकामें आते हैं। इसीकारण काशीखण्डमें लिखा है :—

दशानामश्वमेधानां यज्ञानां यत्फलं स्मृतम्।
तदवाप्नोति धर्मात्मा स्नात्वा तत्र वरानने॥
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वदानेषु यत्फलम्।
मणिकर्ण्यां विधिस्नातः श्रद्धया तदवाप्नुयात्॥

दस अश्वमेध यज्ञ करनेसे जो पुण्य होता है, मणिकर्णिकास्नानसे वह पुण्य होता है। समस्त तीर्थभ्रमणसे जो पुण्य होता है और सकलप्रकार दान करनेसे जो फल मिलता है, केवल मणिकर्णिकामें श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक स्नान करनेसे उतना फल मिलता है। यही सब मोक्षलाभके विषयमें मणिकर्णिका माहात्म्य है।

काशीमें शिवगेहिनी भवानीकी बड़ी महिमा है। सनत्कुमारसंहितामें लिखा है:—

ये येऽभिवाञ्छन्ति समस्तभोगा-
निहापि भुक्तिं परतोऽप्यविघ्नम्।
तेभ्यः समस्तं ददती भवानी
वसत्यजस्रं गृहिणी मृडस्य॥

काशीनिवासिनी शिवगृहिणी भवानी जो जो कुछ चाहते हैं, इहलोकमें भुक्ति या परलोकमें मुक्ति, सभीको सब कुछ प्रदान करती हैं। और भी काशीखण्डमें :—

योगक्षेमं सदा कुर्याद् भवानी काशिवासिनाम् ।
तस्माद् भवानी संसेव्या सततं काशिवासिभिः ॥
गृहमध्येऽत्र विश्वेशो भवानी तत्कुटुम्बिनी ।
सर्वेभ्यः काशिसंस्थेभ्यो मोक्षभिक्षां प्रयच्छति ॥

अन्नपूर्णा भवानी काशीवासियोंका योगक्षेम वहन करती हैं, इसलिये काशी-वासियोंको सदा अन्नपूर्णाकी पूजा करनी चाहिये। विश्वनाथपुरीके भीतर विश्वेश्वर गृहस्वामी और भवानी उनकी घरवाली हैं, जो कि समस्त काशीनिवासियोंको मोक्षभिक्षा प्रदान करती हैं। और भी ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है :—

दीनं वदान्यं महदल्पकं वा पुण्यं महापातकसंयुतं वा ।
आराधिता सा समतां विधत्ते दयापरा भोगमोक्षैकहेतुः ॥

दीन हो या वदान्य हो, महत् हो या अल्प हो, पुण्यात्मा हो या महापापी हो, उपासना करनेपर भवानी सभीके प्रति समानभाव दिखाती हैं, आप परमदयामयी तथा भोगमोक्ष दोनोंकी ही देनेवाली हैं।

इसप्रकारसे कितने ही तीर्थ काशीपुरीमें विराजमान हैं, जिनके दर्शन-स्पर्शनसे तीर्थसेवीको अशेष कल्याणकी प्राप्ति होती है। समस्त भारतवर्षमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी केवल काशीक्षेत्रमें ही मिलते हैं, इसीकारण काशी सर्वोत्तम तीर्थराज है। सब तीर्थोंमें ज्ञानवापी, ज्ञानमण्डप, मुक्तिमण्डप, चक्रतीर्थ, पञ्चनद, बिन्दुमाधव, मंगलागौरी, गभस्तीश, दक्षेश, दशाश्वमेध, शूलटंक, कालभैरव, षट्पञ्चाशद्गणेश, ढुण्ढिराज, पञ्चकोशी, अन्तर्गृह, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, मध्यमेश्वर, वृद्धकालेश, अपमृत्युरेश्वर व्यासेश्वर, पराशरेश्वर, कपर्दीश्वर, ओंकारेश्वर, त्रिलोचन, कपिलाह्रद, शैलेश, विष्णुपादोदक, आदिकेशव, केदार, चन्द्रेश्वर, मणिकर्णीश्वर, तारकेश्वर, धर्मेश, धर्म-कूप, वीरेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर, सोमेश्वर, प्रभास, विशालाक्षी, दुर्गा, संकटमोचन सूर्यकुण्ड, लोलार्क, उत्तरार्क, साम्बादित्य, मयूखादित्य, द्वादशादित्य, चण्डिका, ॐकारेशी, भीमचंडी, शांकरी, चित्रघंटा, चतुर्दशलिङ्ग, चौसठयोगिनी, दुर्गाकुण्ड, काशीकरवट, पञ्चतीर्थ, कपालमोचन, दंण्डखात, पिशाचमोचन, तिलभाण्डेश्वर दुग्धविनायक, बटुकभैरव, दंडपाणि, साक्षिविनायक, रेणुका, राजराजेश्वरी, धूपचण्डी,

कल्याणी, सिद्धेश्वरी, वैद्यनाथ, यागेश्वर, पुष्कर, जगन्नाथ, विन्दुवासिनी, शीतला, ललिता, सिद्धविनायक, संकटादेवी, ध्रुवेश्वर, नागकूप इत्यादि तीर्थसमूह विशेष प्रसिद्ध हैं।

अब तीर्थराज प्रयागके विषयमें कुछ कहा जाता है। 'सितासिते' आदि वेदमन्त्रके द्वारा प्रयागमें स्नान तथा शरीरत्यागका उत्तमफल पहिले ही बताया गया है। मत्स्यपुराणमें लिखा है:—

देशस्थो यदि वाऽरण्ये विदेशे यदि वा गृहे।
प्रयागं स्मरमाणोऽपि यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ॥
ब्रह्मलोकमवाप्नोति वदन्ति ऋषिपुङ्गवाः ॥

स्कन्द पुराणमें भी—

बहु वाल्पतरं वापि पापं यस्य नराधिप ! ।
प्रयागं स्मरमाणस्य सर्वमायाति संक्षयम् ॥

कूर्मपुराणमें भी—

पञ्चयोजनविस्तीर्णं प्रयागस्य तु मण्डलम् ।
प्रवेशात्तस्य तद्भूमावश्वमेधः पदे पदे ॥

देशमें हो या जङ्गलमें, विदेशमें हो या अपने घरमें, प्रयागराजको स्मरण कर जो प्राणत्याग करता है, उसको ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है। किसीका पाप अधिक या कम हो, प्रयागका स्मरण करनेसे नष्ट हो जाता है। प्रयागराजका मण्डल पांचयोजन तक विस्तृत है, उसके भीतर प्रवेश करते पद-पद पर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है।

प्रयागमें गङ्गा-यमुना संगममें स्नानकरनेका महान् फल पद्मपुराणमें लिखा गया है यथा—

पश्चिमाभिमुखी गंगा कालिन्द्या सह संगता ।
हन्ति कल्पकृतं पापं सा माघे नृप ! दुर्लभा ॥
अमृतं कथ्यते राजन् ! सा वेणी भुवि कीर्त्तिता ।
तस्यां माघे मुहूर्त्तं तु देवानामपि दुर्लभम् ॥

यमुनासे मिली हुई पश्चिममुखिनी गङ्गा एक कल्पके पापको नष्ट करती है, माघ महीनेमें उसकी विशेष महिमा है। त्रिवेणी अमृतरूपिणी है, उसका माघ महीनेका मुहूर्त्त देवताओंको भी दुर्लभ है। और भी—

ब्रह्मविष्णुमहादेवा रुद्रादित्यमरुद्गणाः ।
ब्रह्माणी पार्वती लक्ष्मीः शची मेधाऽदिती रतिः ॥
स्नातुमायान्ति ते सर्वे माघे वेण्यां नराधिप ! ।
कृते युगे स्वरूपेण कलौ प्रच्छन्नरूपिणः ॥
सितासिते तु यो मज्जेदपि पापशतावृतः ।
मकरस्थे रवौ माघे न स गर्भेषु मज्जति ॥
दुर्गमा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा ।
प्रयागे दह्यते सा तु माघे मासि नराधिप ! ॥
वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणै-
स्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसंचितैः ।
योगैश्च संयान्ति नराश्च यां गतिं
स्नाता हि ये माकरभास्करोदये । (पद्मपुराण)
सितासिते तु यत् स्नानं माघमासे युधिष्ठिर ! ।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ (महाभारत)
सर्वेषामपि वर्णानां सर्वाश्रमवतामपि ।
माघस्नानं तु धर्मस्य धाराभिः खलु वर्षति ॥ (भविष्यपुराण)

ब्रह्मा विष्णु महेश प्रमुख समस्त देवतागण तथा ब्रह्माणी पार्वती लक्ष्मी प्रमुख समस्त देवियां माघ महीनेमें त्रिवेणी स्नानको आते हैं। सत्ययुगमें रूपधारण करके सब आते थे, अब कलियुगमें प्रच्छन्न रूपसे आया करते हैं। माघ महीनेमें सूर्य जब मकरराशिमें हो, उस समय महापापी भी यदि त्रिवेणीमें डूबकर स्नान करे तो उसे पुनः मातृगर्भमें डूबना नहीं पड़ता है। वैष्णवी माया दुःखसे जीती जाती है, देवतालोग भी उससे पार नहीं पाते हैं, केवल प्रयागमें माघस्नानसे वह जल जाती है। चिरकाल तक हवा जल-पत्ता खाकर शरीर सुखाकर उग्र तपके द्वारा एवं योगसाधनाके द्वारा मनुष्यको जो उत्तमा गति मिलती है, केवलमात्र मकरराशिमें त्रिवेणी स्नानसे वह गति प्राप्त होती है। महाभारतमें भी लिखा है, कि माघमें त्रिवेणी स्नान करनेसे शतकोटि कल्पमें भी जीवको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता है। भविष्य पुराणमें भी लिखा है

कि चाहे किसी वर्ण या किसी आश्रमका मनुष्य हो माघमें त्रिवेणी-स्नानसे धर्मकी धारा बरसती है। प्रयागमें त्रिवेणीस्नानसे मोक्षलाभके विषयमें 'काश्यां मरणान्-मुक्तिः' की तरह यही विज्ञान समझना चाहिये कि योगनाड़ियाँ इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाके सङ्गमरूपी आध्यात्मिक त्रिवेणीमें अलौकिक योगस्नान द्वारा ही मुक्ति होती है, जिसमें इड़ा, गङ्गा, पिङ्गला यमुना और सुषुम्ना सरस्वती है। स्थूल त्रिवेणी स्थूल वाराणसी-की तरह मोक्षपथको प्रशस्त करने वाली है। प्रयागमें मुण्डनकी बड़ी महिमा बताई गई है।

प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम्।
दानं दद्यात् कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनुं त्यजेत्॥
किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेन किम्।
किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि॥
केशानां यावती संख्या छिन्नानां जाह्नवीतले।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥
यावन्ति नखलोमानि वायुना प्रेरितानि वै।
पतन्ति जाह्नवीतोये नराणां पुण्यकर्मणाम्॥
तावदब्दसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

प्रयागमें केशमुण्डन, गयामें पिण्डदान, कुरुक्षेत्रमें दान और काशीमें शरीरत्याग करना चाहिये। यदि प्रयागमें केशमुण्डन हो जाय तो गयामें पिण्डप्रदान, काशीमें मरण और कुरुक्षेत्रमें दानका क्या प्रयोजन है? जितने संख्यक केश तथा नख गङ्गाजलमें मुण्डनसे गिरते हैं, उतने हजार वर्ष स्वर्गलोकमें निवास होता है। यही सब संक्षेपसे वर्णित प्रयागमाहात्म्य है।

अतः पर गङ्गामाहात्म्यका वर्णन किया जाता है। गङ्गाके विषयमें आधि-भौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक वर्णन इससे पहिलेके अध्यायोंमें कई बार किये जाचुके हैं, तथापि प्रसङ्गोपात्त यहाँ भी कुछ कहना उचित जान पड़ता है। ऋग्वेद १०-७५-५ में, कात्यायनश्रौतसूत्र तथा शतपथ-ब्राह्मणमें, रामायण, महाभारत और कितने ही पुराणोंमें गङ्गाकी अलौकिक महिमा बताई गई है। रामायण आदिकाण्ड ४२,४३,४४ सर्गमें लिखा है "स्वर्गसे उतरकर गङ्गा शिवजटामें अटक गई। भगीरथके पुनः तपस्या करनेपर विन्दुसरोवरमें आगिरी। विन्दुसरोवरसे गङ्गाकी सात धारा

निकली। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी नामक तीन धारा पूर्व दिशाको तथा वङ्क्षु, सीता और सिन्धु नामक तीन धारा पश्चिमदिशाको चली गईं। एक धारा भगीरथ प्रदर्शित मार्गमें चली, उसीका नाम भागीरथी है। भागीरथीने ही सागरमें जाकर सगरवंशका उद्धार किया है।

देवीभागवतमें लिखा है, कि नारायणप्रिया सरस्वती और गङ्गा परस्परके शापसे मर्त्यलोकमें आगई हैं, और कलिके पांच हजार वर्ष बीतनेपर अन्यान्य तीर्थोंके साथ विष्णुलोकको चली जायंगी। यथा देवी भा० ९-८ में—

> कलेः पञ्चसहस्रं च वर्षं स्थित्वा च भारते।
> जग्मुस्ताश्च सरिद्रूपं विहाय श्रीहरेः पदम्॥ ६-८-१०
> यानि सर्वाणि तीर्थानि काशीं वृन्दावनं विना।
> यास्यन्ति सार्द्धं ताभिश्च वैकुण्ठमाज्ञया हरेः॥ ६-८-२१

कलिके पाँच हजार वर्षतक भारतमें रहकर गङ्गा, सरस्वती और पद्मावती नदी-रूप त्याग करके विष्णुलोकको चली गईं। काशी और वृन्दावनके सिवाय और सब तीर्थ भी उनके साथ ही विष्णुकी आज्ञासे वैकुण्ठमें जायँगे। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणमें भी लिखा है—

> अद्य प्रभृति देवेशि! कलेः पञ्चसहस्रकम्।
> वर्षं स्थितिस्ते भारत्याः शापेन भारते भुवि॥

श्रीभगवान् विष्णुने गङ्गादेवीसे कहा कि सरस्वतीके शापसे कलियुगके पांच हजार वर्ष तक तुम्हें भारतमें रहना पड़ेगा। इन प्रमाणोंसे गङ्गादेवी आजकल भारतमें हैं या नहीं सो भगवान् विष्णु ही जानते हैं।

गङ्गा अतिपवित्र देवनदी हैं। महाभारतमें शिलवृत्तिका प्रश्न है—

> के देशाः के जनपदाः के ग्रामाः के च पर्वताः।
> प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम्॥

कौन कौन देश, जनपद, ग्राम तथा पर्वत उत्तम हैं और कौन कौन नदियाँ भी पुण्यमयी हैं सो बताईये। उत्तरमें सिद्धने कहा—

> ते देशास्ते जनपदास्ते ग्रामास्ते च पर्वताः।
> येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा॥

तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः।
गतिं तां लभते जन्तुर्गंगां संसेव्य यां लभेत्॥
पूर्वे वयसि पापानि कृत्वा कर्माणि ये नराः।
पश्चाद्गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम्॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥
अपहृत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः।
तथाऽपहृत्य पापानि भाति गङ्गाजलोक्षितः॥
भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहितचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां न गंगा सदृशी गतिः॥

वे ही देश, जनपद, ग्राम तथा पर्वत उत्कृष्ट हैं, जिनके मध्यमें नदी श्रेष्ठ भागीरथी बहा करती हैं। तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ और त्यागके द्वारा जो उत्तम गति मिलती है, केवल गंगासेवनसे वही मिलती है। पूर्ववयसमें पाप करने पर भी जो लोग पीछेसे गंगासेवन करते हैं, उन्हें उत्तमगति मिलती है। जबतक मनुष्यकी अस्थि गंगाजलमें रहती है, उतने हजार वर्ष तक स्वर्गलोकमें वास होता है। जिसप्रकार सूर्यदेव घोर अन्धकार नष्ट करके चमकते हैं, उसी प्रकार गंगादेवी भी समस्त पापनाश कर चमकती है। संसारतापतप्त जो लोग उत्तम गतिको ढुढते हैं, उनके लिये गंगातुल्य उत्तमगति और कोई भी नहीं है। और भी—

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात्तथा गंगेति कीर्त्तनात्।
स्मरणादेव गंगायाः सद्यः पापात् प्रमुच्यते॥ (महाभारते)
किमष्टाङ्गेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः।
वास एव हि गंगायां ब्रह्मज्ञानस्य कारणम्॥ (नारदीये)
जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्द्ध्ना बिभर्त्ति यः।
बिभर्त्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम्॥ (महाभारते)
वर्ज्यं पर्युषितं तोयं वर्ज्यं पर्युषितं दलम्।
अवर्ज्यं जाह्नवीतोयमवर्ज्यं तुलसीदलम्॥ (यमसंहितायाम्)

सन्तोषः परमैश्वर्यं तत्त्वज्ञानं सुखात्मता ।
विनयाचारसम्पत्तिर्गङ्गाभक्तस्य जायते ॥ (ब्राह्मे)
चान्द्रायणसहस्राणां यत्फलं परिकीर्त्तितम्
ततः शतगुणं पुण्यं गङ्गागण्डूषतो भवेत् ॥ (भविष्ये)
स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम् ।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ (भारते)
संक्रान्तिषु व्यतीपाते ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
पुष्ये स्नात्वा तु गंगायां कुलकोटीः समुद्धरेत् ॥ (ब्रह्माण्डे)
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव योऽवगाहेत जाह्नवीम् ।
सः स्नातः सर्वतीर्थेषु किमर्थमटते महीम् ॥ (गारुडे)
गङ्गातीरे सदा लिङ्गं विल्वपत्रैश्च ये नराः ।
पूजयिष्यन्ति सम्प्रीतास्तेऽपवर्गस्य भाजनम् ॥ (भविष्ये)
यज्ञो दानं तपो जप्यं श्राद्धं च सुरपूजनम् ।
गंगायां च कृतं सर्वं कोटिकोटिगुणं भवेत् ॥ (ब्रह्माण्डे)

गंगाके दर्शन, स्पर्शन, गुणकीर्त्तन, जलपान और केवल स्मरणमात्रसे मनुष्य सद्यः पापमुक्त होता है। अष्टाङ्ग योग, तपस्या, या यज्ञ करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि केवल गङ्गातीर निवास ही ब्रह्मज्ञानका हेतु है। गंगातीरकी मिट्टीको जिसने सिर पर धारण किया, मानो अज्ञान तमोनाशके लिये उसने सूर्यदेवको सिरपर धारण कर लिया। अन्य नदी, कूप आदिके जल तथा अन्य वृक्षके पत्ते बासी होनेपर त्याग देने योग्य होते हैं, किन्तु गंगाजल और तुलसीदल सदा रखने योग्य तथा बासी नहीं होते हैं। गङ्गाभक्तको सन्तोष, उत्तम ऐश्वर्य, तत्त्वज्ञान, विमल सुख, विनय और आचार स्वतः लाभ होता है। सहस्रवार चान्द्रायणव्रत करनेसे जो पुण्य होता है, गङ्गाजलका गण्डूष लेनेसे उसका शतगुण पुण्य होता है। इन्द्रिय तथा मनको रोककर पवित्र गंगाजलमें स्नान करनेसे सौ यज्ञसे भी अधिक फल होता है। संक्रान्ति, पुष्यनक्षत्र या चन्द्रसूर्य-ग्रहणके समय जो गंगास्नान करता है, उसके कोटिकुल उद्धारको प्राप्त होते हैं। चन्द्रसूर्यग्रहणके समय जिसने गंगास्नान किया, उसने सभी तीर्थोंमें स्नानका पुण्य ले लिया, उसको पृथिवी घूमनेकी आवश्यकता नहीं है। गंगातटपर विल्वपत्रसे

शिवपूजन जो करता है, उसको मोक्षका अधिकार मिलता है। यज्ञ, दान, तप, जप, देवपूजा तथा श्राद्धतर्पण गङ्गामें किये जानेपर कोटि-कोटि गुण फल उत्पन्न करता है। इस प्रकारसे श्रुतिस्मृति पुराणोंमें गंगाकी भूरि भूरि प्रशंसा लिखी गई है।

निम्नलिखित कर्म पवित्र गंगाजलमें करना निषिद्ध बताया गया है—

गंगां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत् ।
शौचमाचमनं चैव निर्माल्यं मलघर्षणम् ॥
गात्रसंवाहनं क्रीड़ां प्रतिग्रहमथारतिम् ।
अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम् ॥
वस्त्रात्यागमथाघातं सन्तारं च विशेतः ॥ (ब्रह्माण्डे)
नाभ्यंगितः प्रविशेच्च गंगायां न मलार्दितः ।
न जल्पन्न मृषा वीक्षन्न वदन्ननृतं नरः ॥ (स्कान्दे)

पुण्यतोया गङ्गामें तेरह काम नहीं होने चाहिये यथा—मलमूत्रादि त्याग, मुख धोना, दन्तधावन, कुल्ली आदि करना नहीं चाहिये, आचमन करना या पूजाके फूल निर्माल्य फेंकना नहीं चाहिये, मलघर्षण करना या बदनको मलना नहीं चाहिये, जलक्रीड़ा अर्थात् स्त्रीपुरुषोंकी रतिक्रीड़ा, बुढ़वामङ्गल आदि विलासिताजनक क्रीड़ा नहीं करनी चाहिये, दानग्रहण नहीं करना चाहिये, गङ्गाके प्रति अभक्ति, अन्यतीर्थभक्ति या अन्यतीर्थ प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, पहिने हुए वस्त्रको छोड़ना, जलपर आघात करना या तैरना नहीं चाहिये। स्कन्दपुराणमें लिखा है—बदनमें तेल मलकर या मयले बदन होकर गङ्गामें प्रवेश नहीं करना चाहिये, वृथा बकवाद, मिथ्या भाषण या इधर उधर ताकना तथा कुदृष्टि नहीं करनी चाहिये।

गङ्गाकी तरह गङ्गासेवित कनखल, हरिद्वार आदि तीर्थ गङ्गाद्वार गङ्गोत्री, गङ्गासागर सङ्गम, गङ्गा गोमती सङ्गम, गङ्गा सरस्वती सङ्गम, गङ्गा यमुना सङ्गम, गङ्गा कौशिकी सङ्गम, गङ्गा गण्डकी सङ्गक, गंगा सरयू संगम, आदि संगम तीर्थोंकी भी विशेष-महिमा शास्त्रमें बताई गई है।

अब पितृतीर्थ गयाके विषयमें कुछ कहा जाता है। रामायण अयोध्याकाण्ड १०७।१३ में लिखा है—

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥

पिता गुणवान् विद्वान् बहुपुत्रकी कामना इसलिये करते हैं कि उनमेंसे एक भी गयामें जाकर पिण्डदान करेंगे तो पितरोंका उद्धार हो जायगा। याज्ञवल्क्यस्मृति १।२६० में लिखा है—

'यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते'

गयाश्राद्धमें दिया हुआ सब कुछ अनन्तफल उत्पन्न करता है। इसतरहसे महाभारतके वनपर्व ८४, ८७ तथा ६५ अध्याय अनु० प० २५ अ० द्रोण० प० ६६ अ० तथा हरिवंशमें गयातीर्थके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। वनपर्व ६५ अध्यायमें लिखा है कि राजर्षि गयने ब्रह्मसरोवरके निकट प्रचुर अन्न तथा भूरिदक्षिणा देकर यज्ञ किया था, तबसे इसका नाम गयातीर्थ हुआ है। हरिवंशके मतानुसार सुद्युम्नके पुत्र गयने यहाँ अपनी राजधानी स्थापित की थी। उससे इसका नाम गया हुआ है। वायुपुराणमें लिखा है कि परमतपस्वी गय नामक असुरके नामसे ही गया तीर्थकी उत्पत्ति हुई है। उनके पवित्र शरीरपर ब्राह्मणोंने यज्ञ किया था। यमराजने उन्हें निश्चल करनेके लिये उनपर धर्मशिला रख दिया था। उनको यह वर भी मिला था कि उसी शिलाके ऊपर समस्त देवता तथा भगवान् विष्णुका चरण रहेगा। इसीसे पुण्यक्षेत्र गया नाम हुआ है। महाभारतके वन पर्वमें ६५–१२१–१२२ में लिखा है—

उवास स स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः
यत्र सन्निहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक्'

अर्थात् अन्यान्य देवता तथा भगवान् विष्णुके अतिरिक्त धर्मराज यम और पिनाकी महादेव भी सदा गयाक्षेत्रमें निवास करते हैं। महाभारतके अनुसार गयशिर अक्षयवट, महानदी, धर्मारण्य, ब्रह्मसर, धेनुक तीर्थ, गृध्रवट, उद्यन्त पर्वत, योनिद्वार, फल्गुतीर्थ, धर्मप्रस्थ, मतंगाश्रम और धर्मतीर्थ इतने तीर्थ गयाक्षेत्रमें हैं। अग्नि तथा वायु-पुराणमें मौनार्क, प्रेतशिला आदि और भी कई एक तीर्थोंका वर्णन देखनेमें आता है।

इस प्रकारसे अतिप्राचीन हिन्दुतीर्थ होनेपर भी बौद्धप्राधान्यके समय गयाक्षेत्र एक प्रधान बौद्धतीर्थ भी बन गया था। शाक्यसिंहने इसी क्षेत्रके अन्तर्गत निरञ्जना नदीके तटपर वोधिवृक्षके मूलमें ज्ञानलाभ किया था, तबसे उस स्थानको बुद्धगया कहा जाता है। उस स्थानमें भी देव-पदचिह्नपर हिन्दुगण पिण्डदान करते हैं, जिसका प्रमाण गयामाहात्म्य ७७७ में लिखा है—

सर्वत्र मुण्डपृष्ठादिः पादैरेभि सुलक्षितः।
प्रयान्ति पितरः सर्वे ब्रह्मलोकमनामयम्॥

बोधिगयामें मुगडपृष्ठ पर्वतके सर्वत्र देवपदचिह्न हैं, जहाँपर पिगडदान करनेसे पितरोंको ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है।

गयामें यात्रा तथा पितृकृत्य कई दिनोंतक करनेकी विधि है। यथा गयामाहात्म्य वायुपुराणमें—प्रथम दिन सवस्त्र फल्गुतीर्थमें और उसके बाद ब्रह्मकुगडमें स्नान तर्पण करना होता है। तदनन्तर प्रेतपर्वत, प्रेतशिला, रामतीर्थ, उत्तरमानस, मौनार्क इन सब स्थानोंमें जाकर पूजा श्राद्ध तथा पिगडदान करना होता है। दूसरे दिन प्रथमतः नागकूट, गृध्रकूट तथा उत्तरमानसके मध्यवर्त्ती फल्गुतीर्थमें पिगडदान करना होता है और उसके बाद धर्मारगय, ब्रह्मतीर्थ तथा बुद्धगयास्थित महाबोधितरुके निकट पिगडदान करना होता है। तीसरे दिन ब्रह्मसरोवरमें जाना होता है, जिसकेलिये द्रोणपर्व ६६ अ० में लिखा है—

श्राद्धाय पिण्डदानाय तर्पणायात्मशुद्धये।
स्नानं करोमि तीर्थेऽस्मिन् ऋणत्रयविमुक्तये॥

इसी मन्त्रको पढ़कर पीछेसे श्राद्ध करना होता है। तदनन्तर गोप्रचारतीर्थ तथा ब्रह्मयूप होकर यमबलि, श्वानबलि और काकबलि देनेका विधान है। चौथे दिन फल्गुतीर्थमें स्नान करके विष्णुपदपर पिगडदान करना होता है और उसके बाद ब्रह्मपद, रुद्रपद, अर्कपद आदिमें श्राद्ध तथा पिगडदान करनेकी विधि है। पांचवे दिन गदालोलतीर्थमें स्नान करके श्राद्धपिगडदान और सबसे अन्तमें अक्षयवटपर जाके पितरोंके उद्देश्यसे दान करना होता है। राजर्षि गयके यज्ञकालमें यह वटवृक्ष चिरजीवी हुआ था, इसलिये यहाँका दान अक्षयफल प्रदान करता है यही प्राचीन शास्त्रमर्यादा है।

अब गयातीर्थकी महिमाके विषयमें कुछ शास्त्रीय प्रमाण दिये जाते हैं। कूर्म-पुराणमें लिखा है—

गयातीर्थं परं गुह्यं पितॄणां चातिवल्लभम्।
कृत्वा पिण्डप्रदानं तु न भूयो जायते नरः॥
सकृद्गयाभिगमनं कृत्वा पिण्डं ददाति यः।
पितरस्तारितास्तेन यास्यन्ति परमां गतिम्॥
धन्यास्तु खलु ते मर्त्या गयायां पिण्डदायिनः।
कुलान्युभयतः सप्त समुद्धृत्याप्नुयात् परम्॥

गयातीर्थ गूढ़रहस्यपूर्ण तथा पितरोंका अतिप्रिय है। यहाँपर पिण्ड देनेसे पुनर्जन्म नहीं होता है। जो एकवार भी गया जाकर पिण्ड देता है उसके पितर उद्धार पाकर परमगतिको जाते हैं। वे लोग धन्य हैं जिनने गयामें पिण्ड दिया है, वे आगे पीछेके सात कुल तार देते हैं और स्वयं भी उन्नत गतिको पाते हैं। और भी—

दण्डं प्रदर्शयेद् भिक्षुर्गयां गत्वा न पिण्डदः।
न्यस्य विष्णुपदे दण्डं मुच्यते पितृभिः सह॥ (वायवीये)

दण्डधारी संन्यासीको गयामें पिण्ड देना नहीं पड़ता है, केवल विष्णुपदमें दण्डस्पर्श करानेसे ही पितरोंके साथ मोक्षलाभ होता है। और भी—

कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहे वनम्।
च्यवनस्याश्रमः पुण्यो नदी पुण्या पुनःपुना॥ (पाद्मे सृष्टिखण्डे)
श्वेतकल्पे तु वाराहे गयो यागमकारयत्।
गयनाम्ना गया ख्याता क्षेत्रं ब्रह्मादिकांक्षितम्॥ (वायवीये)
यथा यथा व्रजन् याति जनः स्थानाद्गयां प्रति।
तथा तथा दिवं यान्ति प्रेताः पूर्वपितामहाः।
ये द्रक्ष्यन्ति सदा भक्त्या देवमादिगदाधरम्।
ते प्राप्स्यन्ति धनं धान्यमायुरारोग्यमेव च॥ (अग्निपुराणे)
अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत्।
नासौ तत्फलमाप्नोति फल्गुतीर्थे यदाप्नुयात्॥ (वा० पु०)

कीकट प्रदेशमें गया पुण्यभूमि है, राजगृहमें बन पुण्य स्थान है, च्यवन-महर्षिका आश्रम पुण्यमय है और पुनःपुन नदी पुण्यमयी है। राजर्षि गयने श्वेतवाराह-कल्पमें यज्ञ किया था, तबसे गया नाम हुआ है, ब्रह्मादिदेवगण भी इस पुण्यक्षेत्रको चाहते हैं। इसकी इतनी महिमा है कि गयायात्री अपने घरसे जितना आगे बढ़ता है, उतना ही उसके पितर ऊर्द्ध्वलोकको पहुचते हैं। गयामें देवगदाधरका दर्शन भक्तिसे करने पर धन-धान्य आयु तथा आरोग्यलाभ होता है। सहस्र सहस्र अश्वमेध यज्ञ करनेपर भी जो पुण्य नहीं प्राप्त होता है, फल्गुतीर्थमें स्नानतर्पण करनेपर वह पुण्य प्राप्त होता है, इत्यादि इत्यादि गयाक्षेत्रकी महिमा है।

अब सप्त अमरपुरियोंमेंसे अन्यतमपुरी मथुराके विषयमें कुछ शास्त्रीय वर्णन किया जाता है। यथा आदिवराहपुराणमें—

विंशतिर्योजनानां तु माथुरं मम मण्डलम् ।
यत्र तत्र नरः स्नातो मुच्यते सर्वपातकैः ॥
सर्वधर्मविहीनानां पुरुषाणां दुरात्मनाम् ।
नरकार्त्तिहरा देवी मथुरा पापनाशिनी ॥
अनुषङ्गेण गच्छन्ति वाणिज्येनापि सेवया ।
मथुरास्नानमात्रेण पापं त्यक्त्वा दिवं व्रजेत् ॥
नामापि गृह्णतामस्याः सदैव त्वेनसः क्षयः ।
अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य नश्यति ॥
तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भवेदिति ।
मथुरायां कृतं पापं मथुरायां प्रणश्यति ॥

मथुरा मण्डल वीस योजन विस्तृत है, उसमेंसे जहाँ तहाँ स्नान करनेपर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सकता है। पापनाशिनी मथुरा देवी सकलधर्महीन दुरात्मा जनोंके भी नरक दुःखको दूर करती है। किसी अन्य सम्पर्कसे वाणिज्यके लिये अथवा केवल भ्रमणार्थ मथुरा जानेपर भी स्नानमात्रसे जीव पापमुक्त तथा उर्द्ध्वगति प्राप्त हो सकता है। मथुराका नाम लेनेपर भी पाप कटता है। अन्यत्र किया हुआ पाप तीर्थमें कटता है, तीर्थमें किया हुआ पाप बज्रलेप हो जाता है, किन्तु मथुरामें किया हुआ पाप मथुरामें ही नष्ट होता है। मथुराकी उत्पत्ति कैसे हुई इस विषयमें पद्मपुराणके पाताल-खण्डमें लिखा है—

ऋषिर्माथुरनामात्र तपः कुर्वति शाश्वते ।
ततोऽस्य माथुरं नामाभवदाद्यं श्रिया युतम् ॥
मकारे च उकारे च अकारे चान्तसंस्थिते ।
मथुराशब्दो निष्पन्न ओंकारस्य ततः समः ॥
महारुद्रो मकारः स्यादुकारो विष्णुसंज्ञकः ।
अकारस्तु ब्रह्मा स्यात्त्रिशब्दं माथुरं भवेत् ॥

या गतिर्योगयुक्तस्य ब्रह्मज्ञस्य मनीषिणः ।
सा गतिस्त्यजतः प्राणान् मथुरायां नरस्य च ॥

माथुर नामक ऋषिने यहाँपर बहुवर्ष तक तपस्या की थी, उन्हींके नामसे मथुरा नाम पड़ा है। मकार, उकार, अकार तीनोंके संयोगसे मथुराशब्द बना है, इसलिये महिमामें मथुरापुरी प्रणवसदृश है। महारुद्र मकार, विष्णु उकार और ब्रह्मा अकार है। इसी कारण योगपरायण ब्रह्मज्ञ मनीषीको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, मथुरामें शरीर-त्याग होनेपर वही उत्तम गति मिलती है।

मथुराकी तरह तदन्तर्गत तीर्थदर्शन तथा देवदर्शनकी भी बड़ी महिमा शास्त्रोंमें बताई गई है। यथा—

जन्माष्टमीदिने मासे तत्र यो मां प्रपश्यति ।
जन्मकोटिकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ (वाराहे)

इह जन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत् ।
तत्सर्वं नश्यते शीघ्रं कीर्त्तने केशवस्य च ॥ (आदि वाराहे)

विश्रान्तितीर्थं विधिवत् स्नात्वा कृत्वा तिलोदकम् ।
पितॄनुद्धृत्य नरकाद्विष्णुलोकं प्रपद्यते ॥ (स्कान्दे)

पातकी पातकान्मुक्तः पुण्याढ्यः स्यादपातकी ।
फलाभिसन्धिरहितः कालिन्द्यामेव मुच्यते ॥ (पाद्मे)

स्नात्वा मानसगंगायां दृष्ट्वा गोवर्द्धनं हरिम् ।
अन्नकूटं परिक्रम्य किं मनः परितप्यसे ॥ (आदि वाराहे)

वृन्दावनं द्वादशमं वृन्दया परिरक्षितम् ।
मम चैव प्रियं भूमे सर्वपातकनाशनम् ॥ (आदिवाराहे)

मथुरामें जन्माष्टमीके दिन श्रीकृष्णदर्शन करनेसे कोटि जन्मका पाप नष्ट होता है। केशवका गुणकीर्त्तन करनेसे इह जन्म तथा अन्य जन्मके सब पाप कटते हैं। विश्रान्ति तीर्थमें स्नान तथा पितरोंके श्राद्ध-तर्पण करनेसे उनका उद्धार अपना विष्णुलोकवास होता है। यमुनामें स्नान करनेसे पापी पापमुक्त, पापहीन व्यक्ति पुण्यधनसे धनी और कामनाहीन व्यक्ति मोक्षलाभ करता है। मानसगङ्गामें स्नान,

गोवर्द्धन तथा हरिका दर्शन और अन्नकूटकी परिक्रमा होनेसे मनको कोई भी दुःख नहीं रह जाता है। मथुरातीर्थवर्त्ती बारह बनोंमेंसे वृन्दगोपी रक्षित जो वृन्दावन है, वह सदा श्रीकृष्णकी प्रियभूमि तथा सकलपाप नाशकारी है। इसप्रकारसे मथुराभूमि अनेक तीर्थोंकी महिमा शास्त्रमें देखी जाती है। इन तीर्थोंके सिवाय चौबीस यमुनातीर्थ, अक्रूर-तीर्थ, राधाकुण्ड, श्यामकुण्ड, मधुवन-तालवन-काम्यवन-कुमुदवन-महावन-बहुलावन-बिल्ववन आदि द्वादशवन, भूतेश्वर, ध्रुवतीर्थ, ऋषितीर्थ आदि कितने ही तीर्थके वर्णन अनेक पुराणोंमें मिलते हैं, जो बाहुल्यभयसे यहाँपर नहीं बताया गया।

प्रधान प्रधान कुछ तीर्थोंका विशेष वर्णन करके अब सामान्यतः कुछ प्राचीन तीर्थोंका वर्णन किया जाता है। पुष्कर-तीर्थराज है, इसमें स्नानादि करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल तथा ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है।

अगस्त्यसरोवर—यहाँ पर तीन रात उपवास करनेसे वाजपेय यज्ञ फल मिलता है।

कोटितीर्थ—यहाँ महाकाल सदा निवास करते हैं। स्नानमें अश्वमेध फल है।

भद्रवट—नर्मदा नदी, यहाँ पर पितृतर्पण करनेसे अग्निष्टोमसदृशफल होता है।

चर्मण्वती नदी—यहाँ पर इन्द्रियनिग्रह करनेसे ज्योतिष्टोम सदृश फल होता है।

प्रभास—यहाँ हुताशन विराजते हैं, स्नानसे अग्निष्टोम तुल्य फल है।

सरस्वतीसागर सङ्गम—यहाँ पर स्नान करनेसे सहस्र गोदान तुल्य फल होता है।

समुद्रसिन्धुसंगम—यहाँ पर स्नान तथा पितृतर्पणसे वरुणलोक प्राप्ति होती है।

वसुधारातीर्थ—दर्शनसे अश्वमेध फल और स्नानतर्पणसे पितृलोक प्राप्ति होती है।

पञ्चनदतीर्थ—यहाँ पर पञ्चयज्ञ फल लाभ होता है।

कुरुक्षेत्रतीर्थ—सकल पापनाश और गोसहस्र दान फल है।

कपिलातीर्थ—स्नान, देवता और पितृपूजनसे सहस्र कपिला दानका फल होता है।

ब्रह्मावर्त्त तीर्थ—स्नानसे ब्रह्मलोक प्राप्ति होती है।

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग, सप्तावर्त्त तीर्थ—इनमें पितृ-देव तर्पण द्वारा पुण्यलोक प्राप्ति होती है।

वटेश्वरपुरतीर्थ—केशवके दर्शनपूजन द्वारा इष्टसिद्धि होती है।

कौशिकमुनिह्रद—यहाँ एक मास निवासकरनेसे अश्वमेधका फल लाभ होता है।

सूर्यटिक, रामतीर्थ, सप्तगोदावर, देवपथ, तुङ्गकारण्य, मेधाविक, कालञ्जरपर्वत, देवह्रद, त्रिकूटपर्वत, भर्त्तृस्थान, ज्येष्ठस्थान, शृङ्गवेरपुर, मुञ्जावट— इन तीर्थोंमें स्नान दान, पूजा तर्पणादि द्वारा स्वर्गलोक प्राप्ति होती है। प्रयाग, वासुकितीर्थ, अयोध्या,

मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तीपुरी और द्वारवती—ये सब तीर्थ मोक्ष-दायक हैं। पुष्कर, केदार, इक्षुमती, भद्रसर—ये सब तीर्थ पितृकार्यमें प्रशस्त है। वंशोद्भेद, ह्रदोद्भेद, गंगोद्भेद, महालय, भद्रेश्वर, विष्णुपद, नर्मदाद्वार, गया—ये सब पितृतीर्थ हैं। अमरकण्टक, कुशावर्त्त, विल्वक, नैमिषारण्य, अगस्त्याश्रम, कौशिकी, सरयू, शोण, श्रीपर्वत, विपाशा, वितस्ता, शतद्रु, चन्द्रभागा, इरावती ये सभी तीर्थ विष्णुसंहिताके मतानुसार पितृकार्यमें प्रशस्ततम हैं।

कालके प्रभावसे अधिकांश तीर्थोंकी आज कल बहुत ही दुर्दशा देखनेमें आती है। जब ऋषि, देवता, तपस्वी, महात्माओंके शुभनिवास द्वारा तीर्थोंमें दिव्य विभूति प्रकट होती है, तो स्वतः सिद्ध बात है कि, जब तक तीर्थ निवासिगण सदाचारी, आस्तिक, जपपूजापरायण रहेंगे, यात्रिगण तीर्थदर्शन-बुद्धिसे श्रद्धाभक्तिके साथ तीर्थोंमें निवास करेंगे, ज्ञानी महात्मा अधिक संख्यामें तीर्थमें निवास करेंगे, अनाचार—कदाचार—व्यभिचार आदि जन्य प्रबल पाप तीर्थोंमें एक बारगी ही न होंगे, तभी तक तीर्थोंकी महिमा अटूट अक्षुण्ण रहेगी और इस सिद्धान्तका व्यतिक्रम कुछ भी होनेपर तीर्थकी महिमा नष्ट होने लग जायगी और तीर्थमेंसे दिव्यविभूति तिरोहित हो जायगी। किन्तु अत्यन्त खेदकी बात यह है कि, प्रायः सभी तीर्थोंमें तीर्थमहिमा विध्वंसनकारी ऊपर लिखित विषय आजकल प्रचुर देखनेमें आ रहे हैं। एक तो रेल आदि द्वारा जानेकी सुविधा हो जानेसे लोग आजकल प्रायः वायुसेवन या प्रमोदबुद्धिसे तीर्थयात्रा करते हैं, पहिलेकी तरह तपस्याका मौका न रहनेसे श्रद्धा भक्ति, प्रेमका भी मौका घट गया है। द्वितीयतः निरंकुश होकर घूमनेकी या समाजबन्धन तोड़कर यथेच्छ आहार विहारकी सुविधा तीर्थमें रहनेके कारण प्रायः सभी तीर्थ दुश्चरित्र, अनाचारी लोगोंसे भर गये हैं। तृतीयतः ऐसे नरनारियोंके अनाचारका सामान तैयार रखनेके कितने ही तीर्थोंमें मांस-मदिरा भी बिकने लगे हैं, वेश्याएँ भी रहने लगी हैं, इत्यादि इत्यादि दुराचारोंकी पराकाष्ठा आजकल तीर्थोंमें ही बहुधा देखनेमें आती है। चतुर्थतः जो तीर्थगुरु कहलाते थे, त्यागी-ज्ञानी-वेदोज्ज्वला बुद्धि पण्डासे विभूषित होकर तीर्थयात्रियोंका कल्याण करना जिनकी प्राचीन मर्यादा तथा धर्म था, इनमेंसे अधिकांश ही आजकल अत्याचारी, अनाचारी, अर्थलोलुप, चरित्रहीन बनकर तीर्थयात्री तथा तीर्थ दोनोंके लिये ही महान् दुखदायी तथा सत्तानाशी बन गये हैं। उनके अत्याचारसे, उत्पीड़नसे तीर्थमें जाना भी आपत्तिजनक हो गया है, देवमन्दिरमें १० मिनट शान्तिचित्तसे बैठकर ध्यानधारणा करना भी कठिन हो गया है, प्रेमभक्तिके साथ प्रतिमादर्शन तथा तीर्थविभूतियोंका दर्शन करना भी असम्भवसा होगया है, अधिक क्या कहा जाय किसी

किसी तीर्थमेंसे तो स्त्री पुत्रादिको लेकर मर्यादासे लौट आना भी कठिन होगया है। अनेक विधर्मी म्लेच्छ भी तीर्थोंमें निवासकर नाना प्रकारके अत्याचार करने लगे हैं और कहीं कहीं पर तीर्थको ग्रास ही किये जारहे हैं। अब तीर्थमें अधिकांश स्थलपर शास्त्र-विधिसे श्रद्धा भक्तिके साथ पूजन भी नहीं होते, अधिकांश पण्डे-पुजारि पूजाके अरि ही बन गये हैं, केवल चढ़ावेके लिये ही चित्कार करते और यात्रियोंका प्राण खाते रहते हैं। कहीं कहीं पर अत्याचारी राजाओंने यात्रियों पर कर या स्नानदर्शन आदि पर टैक्स लगा दिया है, जिन कारणोंसे तीर्थोंकी महिमा नष्ट होकर केवल दुकानदारी ही चल पड़ी है। इसलिये यदि तीर्थोंकी महिमा पुनः प्रतिष्ठित करनी हो तो उनका समयानुकूल सुधार अवश्य होना चाहिये। तीर्थगुरु या तीर्थपुरोहित जिससे सच्चे गुरु पुरोहित बनकर तब दक्षिणा-पूजा ले सकें इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। तीर्थोंमें जो लाखों रुपयेकी सम्पत्ति बरबाद होती है, उसे अच्छे काममें लगाकर पुरोहितविद्यालय, आचार्यकुल आदि खोलना और उन विद्यालयोंसे उत्तीर्ण विद्वान्, सदाचारी, आस्तिक, श्रद्धाभक्ति-पूजापरायण गुरुपुरोहित ही जिससे सम्मानित होसके और अनधिकारियोंका सम्मान न हो इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। जिन राज्योंके अन्तर्गत तीर्थ हों उनमें तो नृपतिगण राजाज्ञा द्वारा ही यह काम करा सकते हैं, अन्यत्र विशेष कमेटी द्वारा तीर्थाचार्यगण स्वयं ही इस कार्यको सुगमताके साथ करा सकते हैं, या अन्य उत्तम अभिज्ञ पुरुषोंकी सहायता ले सकते हैं। तपस्वी सदाचारी ब्राह्मण तथा महात्माओंको तीर्थोंमें बसाना चाहिये, उनके ग्रासाच्छादन, भिक्षा आदिकी जिसमें असुविधा न रहे इसका उपाय सार्वजनिक-रूपसे करा देनी चाहिये। निरंकुश अनाचारी नर नारियोंका अड्डा तीर्थसमूह न बन सकें और गन्दी दुकानें या वेश्यादि तीर्थोंमें न रह सकें, इसका विशेष कर प्रयत्न करना चाहिये। देवमन्दिर या स्नानके स्थानपर चढ़ावाका बलप्रयोग नहीं होना चाहिये, यात्रि-गण श्रद्धापूर्वक जो कुछ देवें उसीमें तीर्थपुरोहितोंको सन्तोष रखना चाहिये, इत्यादि इत्यादि आवश्यक व्यवस्था होजानेपर पुनः तीर्थोंकी महिमा जाग उठेगी और पुराणादि शास्त्रोंमें तीर्थसेवनके जो उत्तमोत्तम फल बताये गये हैं, उन्हें सर्वथा प्राप्त करके आस्तिक, सदाचारपरायण, जितेन्द्रिय तीर्थसेवी कृतकृतार्थ हो सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है॥

अष्टमकाण्डकी तृतीय शाखा समाप्त हुई।

संगीत-शास्त्र

—:※:—

'गीतं वाद्यं नर्त्तनं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते'

सङ्गीतदर्पण आदि संगीतशास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रमाणानुसार गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनोंकी समष्टिका अथवा पृथक् पृथक् रूपसे इन तीनोंका नाम सङ्गीत है। इनमेंसे नृत्य वाद्यानुग और वाद्य गीतानुग है, अतः संगीतमें गीतका ही प्राधान्य है।

सङ्गीतशास्त्रकी बड़ी महिमा है, इस कारण आर्यशास्त्रमें इसे 'उपवेद' संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार वेद मुक्तिप्रद है, ऐसा ही संगीत भी मुक्तिप्रद है। यही कारण है कि संगीतशास्त्रको उपवेद कहा गया है। लिखा भी है—

वीणावादनतत्त्वज्ञो रागविद्याविशारदः।
मूर्च्छनाश्रुतिसम्पन्नो मोक्षमार्गं च गच्छति ॥ (विज्ञानेश्वर)

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिधृतपाठः ३।११५।

त्रिवर्गफलदा सर्वे दानाध्ययनजपादयः।
एकं सङ्गीतविज्ञानं चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥

हर्षादिसुखदो धर्मो धनकामौ नृपादितः।
निष्कामं तदनुष्ठानं मोक्षस्तस्मात्तदभ्यसेत् ॥ (गान्धर्ववेद)

वीणावादनके तत्त्वके जाननेवाले, रागविद्यामें निपुण, मूर्छनाके भेद-ज्ञानमें पण्डित सङ्गीत पुरुष मोक्षलाभ करते हैं। वीणावादन, श्रुतिकी जातियां तथा तालके तत्त्वज्ञको अनायास ही मोक्ष मिल जाता है। दान, अध्ययन, जप ये सभी धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्गके देनेवाले हैं, केवल सङ्गीत ही चतुर्वर्ग फलको देता है। सङ्गीतसे हर्ष आदि सुख मिलता है यह धर्मका फल है, संगीतसे नृपतिगण प्रसन्न होकर गायकको अर्थ काम देते हैं, और निष्कामरूपसे रागरागिणीकी सेवा द्वारा मोक्षलाभ होता है। इसीकारण चतुर्वर्गफलप्रद सङ्गीतका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

समस्त विश्वब्रह्माण्ड सङ्गीतमय है। आदिनाद प्रणवसे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है और समस्त शब्दसृष्टि उसी आदिनादके क्रमविकाश द्वारा ही होती है। इसका वर्णन 'मन्त्रयोग' अध्यायमें पहिले ही किया गया है। चिन्ताशील मनीषिगण जगत्के सभी कार्योंमें गान-तालमय संगीतके मधुर-भावका प्रत्यक्ष करते हैं। पूर्ण परमात्माके सभी कार्य नियमित, शृङ्खलावद्ध हैं, किसीमें अव्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि सर्वत्र गान और तालकी ही माधुरी योगिजनोंको मानस-प्रत्यक्ष होती है। मरीचिमाली परमपावन तपनदेव ताल-लयके साथ ही पूर्वदिशामें उठते हैं और दिनभर न जाने किस परमपुरुषके प्रेममें ताण्डवनृत्य करते हुए पश्चिमाचलमें विश्राम लाभ करते हैं। उनके विचित्र-दिव्य-प्रभामय सात अश्व भी तालसे ही चलते हैं और तालसे ही दौड़ते हैं। अनन्त गगनविहारी अनन्त ग्रहोपग्रहताराओंने भी विधाताके रंगमञ्चमें नृत्यगीतका ही अभ्यास किया है और इसीलिये वे सदा नाचते गाते ही अपनी अपनी कक्षाओंमें सूर्यदेवकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। रत्नाकर उत्तालतरङ्गरूपी अनन्त भुजाओंको पसार-कर रात्रिदिवं भगवत्-प्रेममें मग्न होकर नृत्य ही किया करते हैं और विरही यक्षकी तरह कभी शान्त, कभी दीर्घश्वासमाकुलित होजाते हैं। जाह्नवी-यमुना-प्रमुख तटिनियोंकी कल कल-ध्वनिमें किस रहस्यमय रागका आलापन होता है और रिङ्गत्तरङ्गमय नयना-भिराम नृत्यमें किस दिव्यभावका विलास होता है इसको योगिजन ही जानते हैं। निकुञ्ज-विहारी कोकिलकी काकली, भ्रमरका गुन् गुन् गुञ्जन, मयूरका मनोहर नृत्य, विविध-विहङ्गमोंका मधुर कलरव, विश्वव्यापिनी सङ्गीतसुधाकी ही सूचना करता है। विरहिणी-के विरहरोदनमें सङ्गीतका ही मर्मभेदी उच्छ्वास है। कोमल शिशुके क्रन्दन तथा हास्य-में सङ्गीतकी ही सुमधुर सुधाधारा क्षरित होती है। प्राणमयी, प्राणप्रदायिनी, हृदयकी भाषा जब सङ्गीतके रूपमें निकलती है, उसको साहित्यजगत्में पद्य कहा जाता है। यही कारण है कि विषधर भयंकर सर्प तथा मदोन्मत्त करीसे लेकर वनविलासिनी कुरङ्गप्रिया कुरंगिनी तक सभी संगीतकी भुवनमोहिनी शक्तिसे मुग्ध होजाते हैं। बुभुक्षु शिशु रोदन छोड़कर संगीतामृत ही पान करता है। पुत्रविहरकातर पुरुष पुत्रशोक भी विस्मृत होजाते हैं। पतिवियोग विधुरा नारी गानके तानमें मनोलय करके क्षणभरकेलिये वियोगव्यथा-को भी भूल जाती हैं। योगिगण गानके लयमें प्रणवमें ही मनोलय करके अनुपम समाधिसुख लाभ करते हैं। सुकविके चित्तसरोवरमें संगीत ही फुल्ल कमलका मनोरम मधु है। साधारण जनकी बात ही क्या है, वे तो संगीतसुधासिन्धुमें अवगाहनकर अमृत-रूप ही होजाते हैं। वास्तवमें समस्त विश्वब्रह्माण्ड सङ्गीतमय है।

यही कारण है कि आर्यशास्त्रमें सङ्गीतकी भूरि भूरि प्रशंसाके वर्णन मिलते हैं। यथा—

संसारदुःखदग्धानामुत्तमानामनुग्रहात् ।
प्रभुना शंकरेणात्र गीतवाद्यं प्रकाशितम् ॥

संसारदुःखसन्तप्त जीवोंके प्रति कृपा करके उनके दुःखशमनार्थ भगवान् शंकरने गीत और वाद्यको प्रकट किया है ।

गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)

सङ्गीतज्ञ पुरुष सङ्गीतकी साधनासे यदि मोक्षलाभ न कर सकें, तौ भी रुद्रके अनुचर बनकर उन्हींके साथ शिवलोकमें आनन्द करते रहते हैं ।

पूजाकोटिगुणं ध्यानं ध्यानात् कोटिगुणो जपः ।
जपात् कोटिगुणं गानं गानात् परतरं न हि ॥
पूर्णं चतुर्णां वेदानां सारमाकृष्य पद्मभूः ।
इदन्तु पञ्चमं वेदं संगीताख्यमकल्पयत् ॥ (संगीतसंहिता)

पूजासे कोटिगुण श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यानसे कोटिगुण श्रेष्ठ जप है, जपसे कोटिगुण श्रेष्ठ गान है, गानसे श्रेष्ठतर और कुछ नहीं है । कमलयोनि ब्रह्माने चार वेदका सार खींचकर पञ्चम वेदरूपी संगीतको प्रकट किया है ।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ! ॥ (नारदसंहिता १।७)

श्रीभगवान् विष्णुने नारदसे कहा कि वे वैकुण्ठमें या योगियोंके हृदयमें नहीं निवास करते हैं, किन्तु उनके भक्तगण जहाँ गान करते हैं, वहीं वे रहते हैं ।

काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्त्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः ॥
सर्वेषामेव पुण्यानामस्ति संख्या यशस्विनि ।
क्रमाच्च गीयते येन तस्य संख्या न विद्यते ॥

(विष्णुपुराण १।२२।८३)

समस्त आलाप तथा गीत शब्दमूर्त्तिधारी विष्णुका शरीर है । अन्य सब पुण्योंकी सीमा है, किन्तु तालजय सहित गानसे उत्पन्न पुण्यकी सीमा नहीं है ।

न घृते तादृशी प्रीतिर्न क्षीरे न च गुग्गुले।
यादृशी चैव गन्धर्वे मम प्रीतिर्वरानने॥ (शिवसंगीत)

महादेवने पार्वतीसे कहा है कि घृत, क्षीर या गुग्गुलमें उनको उतनी प्रीति नहीं है, जितना कि गानमें है।

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥
नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद् वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥ (संगीतदर्पण १।३२)

नादसमुद्रके दूसरे पारको देवी सरस्वती भी नहीं जा सकती हैं, उसमें डूब जानेके भयसे आजतक छातीमें तुम्बी लिये फिरती हैं। नादसे वर्ण प्रकट होता है, वर्णसे पद, पदसे वाक्य और वाक्यसे सारे संसारका व्यवहार चलता है, इसलिये जगत् नादके ही आधीन है।

अथ नादस्य चोत्पत्तिं वक्ष्ये शास्त्रविवेकतः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्॥
नादविद्यां परां लब्ध्वा सरस्वत्याः प्रसादतः।
कम्बलाश्वतरौ नागौ शम्भोः कुण्डलतां गतौ॥
पशुः शिशुर्मृगो वापि नादेन परितुष्यति।
अतो नादस्य माहात्म्यं व्याख्यातुं केन शक्यते॥

(संगीतदर्पण १।२८।३१)

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार वर्गका एक ही साधन नाद है। देवी सरस्वतीके प्रसादसे श्रेष्ठ नादविद्याको लाभ करके कम्बल और अश्वतर नामक दो नाग भगवान् शम्भुके कर्णभूषण बन गये हैं। पशु, शिशु, मृग सभी नादसे प्रसन्न हो जाते हैं। अतः नादकी महिमा कौन कह सकता है।

सुखिनि सुखनिधानं दुःखितानां विनोदः,
श्रवणहृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः।

अतिचतुरसुगम्यो वल्लभः कामिनीनां,
जयति जयति नादः पञ्चमश्चोपवेदः ॥ (संगीतभाष्य)
श्रुतिस्मृत्यादि-साहित्य-नानाशास्त्रविदोऽपि च ।
संगीतं ये न जानन्ति ते द्विपादाः मृगाः स्मृताः ॥
(संगीतरत्नाकर)

"संगीतसाहित्यरसानभिज्ञः
ख्यातः पशुः पुच्छविषाणहीनः ।" (संगीतमहोदधि)

सुखी जनोंका अधिक सुखवर्द्धक, दुःखी जनोंका दुःखनाशक, श्रवणमन हरण-कारी, कामदेवका अग्रदूत, अतिचतुरको भी अनायास प्रसन्न करनेवाला, कामिनियोंका वल्लभ, पञ्चम उपवेदरूपी नाद जययुक्त हो। श्रुतिस्मृति साहित्य आदि नानाशास्त्रोंमें पारंगत होनेपर भी जो संगीतको नहीं जानते वे द्विपद पशु हैं। संगीत साहित्यरससे अनभिज्ञ पुरुष श्रृंगपुच्छहीन पशुके समान है।

अतिप्राचीनकालसे ही भारतवर्षमें संगीतशास्त्रका बहुल प्रचार है। छन्द तथा मात्रासे युक्त वैदिकमन्त्रोंको मधुर कण्ठसे गाते गाते वैदिक युगमें सामगानका प्रचार हुआ था। इसके बाद आरण्यक मन्त्रोंको भी महर्षिगण सुरतालके साथ गाया करते थे, इसका प्रमाण महाभारत १२।३३६।८ तथा १२।३३६।११ में मिलता है। रामायण २।६९।४ श्लोकके 'नाट्यकान्याहुः' पदसे भी तात्कालिक संगीतचर्चाका प्रमाण मिलता है। महाभारत २।११।३६ श्लोकमें—

'नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः'

इस कथनके द्वारा उस युगमें भी नाटक, अभिनय, संगीतके बहुल प्रचारका प्रमाण मिलता है।

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्त्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥ (दानमहाक्रतु १।२१९।४)

इस श्लोकके द्वारा नृत्य, गीत, वाद्य तीनोंका ही विशेष प्रचार प्राचीनकालमें था, यह प्रमाणित होता है। इसके सिवाय महाभारतके कितने ही स्थानोंमें मागध, नान्दी वाद्य, वन्दी, गायन, वैतालिक, कथक, ग्रन्थिक, गाथी, नट, सूत आदि संगीत-व्यवसायियोंका उल्लेख मिलता है। वनपर्वके ६१ अध्यायमें लिखा है कि—

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च ।

वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि ॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ॥

पार्थ अर्जुनने विश्वावसुके पुत्रसे यथारीति गीत, नृत्य, वाद्य और सामगान सीखा था। धनुर्वेद अर्थात् अस्त्रविद्यामें पारदर्शी होनेके अनन्तर अर्जुनने इस प्रकारसे गन्धर्व वेदमें भी पारदर्शितालाभ किया था। उस समय तक नृत्यगीत समाजमें निन्दनीय नहीं था। अर्जुन वृहन्नलारूपसे विराट राजकन्या उत्तराके संगीताचार्य हुए थे। अन्तःपुरवासिनी नारियोंमें भी नृत्यगीतवाद्य उससमय निन्दनीय नहीं था, इससे यही प्रमाणित होता है। तदनन्तर यह विद्या जब नटनर्त्तकोंकी जीविका बन गई और नृत्यगीतव्यवसायिगण प्रायः अनाचारी तथा कुक्रियारत होने लगे तो राजाज्ञा द्वारा शहरसे बाहर ऐसे लोगोंको रहनेका स्थान दिये जाने लगे। यथा—

गायका नर्त्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।

कथका मोदकाश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ (महाभारत-१३।२३।१५)

बौद्धयुगमें भी संगीताभिनयका विशेष प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। जातक-निचयमें इसका आभास मिलता है, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि सुकवियोंके ग्रन्थोंसे भी संगीतशास्त्रकी विशेष चर्चा प्रमाणित होती है। प्राचीनकालमें संगीतशास्त्रके विशेष अनुशीलनके फलसे संगीताचार्यों के द्वारा अनेक ग्रन्थ प्रणयन भी हुए थे। काल-प्रभावसे उन ग्रन्थोंमें अधिकांश ही लुप्त हो गये हैं। तथापि वर्त्तमान समयमें गीतप्रकाश, रागचन्द्रोदय, रागमञ्जरी, रागमाला, रागरत्नाकर, रागविवेक, संगीतकलानिधि, संगीतचिन्तामणि, संगीतदर्पण, संगीतदामोदर, संगीतनारायण, संगीतनृत्याकर, संगीतपारिजात, संगीतपुष्पाञ्जलि संगीतमकरन्द, संगीतमुक्तावली, संगीतरत्नाकर, संगीतराघव, संगीतराज, संगीतसागर, संगीतसार, संगीतसारामृत, संगीतसिद्धान्त, संगीतसुधा, संगीतसुधाकर, संगीतसुन्दर, संगीतामृत, संगीतोपनिषत् इत्यादि अनेक ग्रन्थ प्राचीन गन्धर्ववेदकी ही महिमा प्रचार कर रहे हैं।

आर्यजातिपर जब ग्रीसदेशवासियोंका आक्रमण हुआ था, तबसे संगीतविद्या ग्रीसदेशमें भी जाने लगी और पीछेसे ग्रीससे रोममें और रोमकेद्वारा समस्त यूरोपमें संगीतविद्याकी चर्चा होने लगी। इसके अनन्तर भारतपर जब मुसलमानजातिका अधिकार जमा, तो मुसलमानोंने भी इस विद्याकी कुछ शिक्षा भारतसे प्राप्त की, जिसके फलसे अरब, पारस्य आदि देशोंतक इस विद्याका प्रचार हो गया। पठान तथा मोगल

राजाओंके राज्यकालमें नायक गोपाल, बैजुबावरा, तानसेन, बक्सर, सुलतानहुसेन आदि सुप्रसिद्ध गायक थे। खृष्टाब्द १३०० में आलाउद्दीनके राज्यकालमें नायक गोपालने सङ्गीतके प्रभावसे पाषाणको भी द्रव किया था और बैजुबावराने वनसे मृग बुला लिया था। बैजु और गोपाल नायकके दो सौ वर्षके बाद तानसेनका जन्म हुआ था। वे जातिमें ब्राह्मण थे और वृन्दावनवासी प्रसिद्ध हरिदास स्वामीके निकट इनने गानविद्या सीखी थी। सम्राट् अकबरकी 'नवरत्न' सभामें तानसेन अग्रणी गायक थे। पीछे ग्वालियरके राजा मानसिंहको संगीत सुनानेवाली एक मुसलमानीके प्रेममें फँसकर तानसेन मुसलमान हो गये थे। इन प्रसिद्ध गायकोंने कई एक नई रागिनियोंकी भी सृष्टि की थी। यथा गोपाल नायकने पुरबी, गौरी, वसन्त, तोड़ी, गुणकेली और देशकार रागिणी बनाईं थीं। तानसेनने दरबारी, कानेड़ा, लीलावती, श्याम पुरबी, मनोध्यान, जयन्ती, देशकेली, रूपश्री, परदीपकी, मायारवी आदि रागिनियाँ बनाईं थीं। गोपाल नायकने जो कुछ असम्पूर्ण रखा था, तानसेनने उसे पूरा किया, इसलिये तानसेनकी ख्याति अधिक है। प्रसिद्ध 'सहनाई' नामक वाद्ययन्त्रके सृष्टिकर्त्ता तानसेन ही थे। यही अतिप्राचीनकालसे आधुनिक समय तक संगीतशास्त्रका संक्षिप्त इतिवृत्त है।

पहिले ही कहा गया है कि, पञ्चमवेद या प्रधान उपवेद होनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनोंके साथ ही संगीतोत्पत्तिका अधिदैव सम्बन्ध आर्यशास्त्रमें पाया जाता है। उनमेंसे ब्रह्माके द्वारा संगीतका संग्रह होना और महेशके द्वारा विविधरागरूपसे गाये जाना शास्त्रसम्मत है। भगवान् विष्णुके साथ मार्ग—संगीतका सम्बन्ध शास्त्रमें विशेषरूपसे बताया गया है। संगीतरत्नाकर १।२५ में लिखा है—

'सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः'

पितामह ब्रह्माने सामवेदसे ही संगीतविद्याका संग्रह किया था। अतः सामवेद ही इस शास्त्रका मूल है। चारों वेदोंसे ही संगीतका संग्रह हुआ यह भी प्रमाण पहिले दिया जा चुका है। उपवेदका मूल वेद ही होना चाहिये, इसमें क्या सन्देह है। अतः चारों वेदोंसे और प्रधानतः सामवेदसे संगीतशास्त्रकी सृष्टि हुई है; यही सिद्धान्त निश्चित हुआ।

लोकचित्तरञ्जन ही संगीतका मुख्य उद्देश्य है। भावमें भावान्तर लाना, अभावमें भाव उत्पन्न करना, हँसाना, रोलाना, चञ्चल मनको शान्त कर देना, नादकी सहायतासे आदिनादमें पहुँचा देना, रसकी सहायतासे रसरूप परमात्माके परमपदको प्राप्त करा देना यही संगीतका लक्ष्य है। संगीतदर्पणमें लिखा है—

गीतवादित्रनृत्यानां रक्तिः साधारणो गुणः ।
अतो रक्तिविहीनं यत् तन्न संगीतमुच्यते ॥

गीत, वाद्य, नृत्य, तीनोंका ही साधारणगुण लोकरञ्जन है। अतः जिस संगीतमें आकर्षण शक्ति नहीं है, वह संगीत कहलाने योग्य ही नहीं है। लोकरञ्जनहेतु ही संगीत-ध्वनिको राग कहते हैं। संगीतदर्पणमें लिखा है यथा—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥
यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्त्तिनाम् ।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः ॥
यस्य श्रवणमात्रेण रज्यन्ते सकलाः प्रजाः ।
सर्वानुरञ्जनाद्धेतोस्तेन राग इति स्मृतः ॥ (सं० द० ८५)
शिवशक्तिसमायोगाद् रागाणां सम्भवो भवेत् ।
पञ्चास्यात् पञ्चरागाः स्युः षष्ठस्तु गिरिजामुखात् ॥
सद्यावक्त्रात्तु श्रीरागो वामदेवाद् वसन्तकः ।
अघोराद् भैरवोऽभूत् तत्पुरुषात् पञ्चमोऽभवत् ॥
ईशानाख्यान् मेघरागो नाट्टारम्भे शिवादभूत् ।
गिरिजाया मुखाल्लास्ये नट्टनारायणोऽभवत् ॥ (रागाध्याय ६-११)

स्वर तथा वर्णसे युक्त जिस ध्वनिविशेष द्वारा लोकचित्त रञ्जित होता है उसे राग कहते हैं। त्रिलोकनिवासियोंका चित्त जिससे रञ्जित हो, भरत आदि संगीताचार्य मुनिगण उसे ही राग कहते हैं। श्रवणमात्रसे चित्तमें अनुराग उत्पन्न होता है, इसकारण 'राग' संज्ञा हुई है। रागकी उत्पति कैसे हुई इस प्रश्नके उत्तरमें संगीतदर्पणमें लिखा है कि, शिवशक्तिके संयोगसे ही रागकी उत्पत्ति हुई। पञ्चाननके पञ्चमुखसे पञ्चराग और भगवतीके मुखसे एक राग इस तरह आदि राग छः प्रकट हुए हैं। उनके सद्योजात मुखसे श्रीराग, वामदेव मुखसे वसन्त राग, अघोर मुखसे भैरव राग, तत्पुरुष मुखसे पञ्चम राग और ईशान मुखसे मेघ राग उत्पन्न हुआ है। भगवतीके मुखसे केवल नट्टनारायण राग की उत्पत्ति हुई है। इनमेंसे प्रत्येककी छः छः शक्तिरूपसे छत्तीस रागिणियोंकी उत्पत्ति

हुई हैं । यथा श्रीरागकी छः स्त्रियाँ—मानश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी और पाहाड़िका । वसन्तरागकी छः स्त्रियाँ—देशी, देवकिरी, वराटी, तोड़िका, ललिता और हिन्दोली । भैरव रागकी छः स्त्रियाँ—भैरवी, गुर्ज्जरी, रामकिरी, गुणकिरी, वाङ्गाली और सैन्धवी । पञ्चमरागकी छः स्त्रियाँ—विभाषा, भूपाली, कर्णाटी, बड़हंसिका, मालवी, पटमञ्जरी । मेघरागकी छः स्त्रियाँ—मन्दारी सौरटी, सावेरी, कौशिकी, गान्धारी, हरश्रृङ्गारा । नट्टनारायणरागकी छः स्त्रियाँ—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, सारङ्गी, नट्ट-हाम्वीरा । भरतमुनि, नारद, रम्भा, हूहू, तुम्बुरु, इनको इन रागरागिणियोंकी प्रथम शिक्षा मिली थी । इसलिये वे और खास करके नारद तथा भरतमुनि इनके आचार्य कहलाते हैं । महाभारत १२।२१०।२१ में लिखा है—

'गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्'

गन्धववेदके आचार्य देवर्षि नारद और धनुर्वेदके आचार्य महर्षि भरद्वाज हैं । कच्छपी वीणा बजाते हुए देवर्षि नारदका सुमधुर नृत्यगीत त्रिभुवनविख्यात है । इन राग रागिणियोंके संयोगसे उत्पन्न पुत्र, प्रपौत्र, कन्या पौत्री आदिरूपसे ५४ कोटि राग, उपराग, रागिणियोंका वर्णन पुराणशास्त्रमें मिलता है । संगीतदामोदरमें लिखा है—

गोपीभिर्गीतमारब्धमेकैकं कृष्णसन्निधौ ।
तेन जातानि रागाणां सहस्राणि तु षोड़श ॥
रागेषु तेषु षट्त्रिंशत् रागा जगति विश्रुताः ।
कालक्रमेण तत्रापि ह्रास एव तु दृश्यते ॥
मेरोरुत्तरतः पूर्वे पश्चिमे दक्षिणे तथा ।
सामुद्रकाश्च ये देशास्तत्रामीषां प्रचारणा ॥

सोलह हजार गोपियोंने श्रीकृष्णभगवान्‌को एक एक गीत सुनाया जिससे सोलह हजार राग प्रकट हुए । इनमेंसे ३६ राग जगत्‌में प्रसिद्ध था, अब कालक्रमसे उसमें भी कमी हो गई है, सुमेरुकी चारों दिशाओं तथा समुद्रसमीपस्थ देशोंमें अब भी उन रागोंका प्रचार है । इस प्रकारसे रागोत्पत्ति तथा रागप्रचारके विषयमें सङ्गीतशास्त्रमें वर्णन मिलते हैं ।

अब सङ्गीतके अङ्ग गीत, वाद्य तथा नृत्यके विषयमें क्रमशः शास्त्रीय चर्चा की जाती है । गीतके लक्षणके विषयमें सङ्गीतशास्त्रमें कहा है—

धातुमात्रासमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधैः ।
तत्र नादात्मको धातुर्मात्रा ह्यक्षरसंचयः ॥

नादात्मक धातु और अक्षरात्मक मात्रासे संयुक्त लोकरञ्जक रागको गीत कहते हैं। गीत दो प्रकारके होते हैं यथा वैदिक और लौकिक। मीमांसादर्शन ६-३-२६ के भाष्यमें शबरस्वामीने लिखा है कि आभ्यन्तरीण प्रयत्न द्वारा जो स्वरग्रामकी अभिव्यक्ति है उसीको गीत कहते हैं और 'साम' शब्द द्वारा उसीका उल्लेख किया गया है। सामवेदमें सहस्र प्रकारके गीत हैं, उसमेंसे किसी एकको लेकर सामगान किया जा सकता है। लौकिककी तरह वैदिक गानमें भी क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ ये सात स्वर हैं। सामविधान ब्राह्मण १।१।८ में लिखा है—

"योऽसौ क्रुष्टतम इव साम्नः स्वरस्तं देवा उपजीवन्ति। योऽस्वरेषां प्रथमस्तं मनुष्याः यो द्वितीयस्तं गन्धर्वाप्सरसो यस्तृतीयस्तं पशवो यश्चतुर्थस्तं पितरो यः पञ्चमस्तमसुररक्षांसि योऽन्त्यस्तमोषधयो बनस्पतयो यच्चान्यज्जगत्।"

सामके इन सात स्वरोंमेंसे देवतागण क्रुष्ट, मनुष्यगण प्रथम, गन्धर्व और अप्सरागण द्वितीय, पशुगण तृतीय, पितृगण चतुर्थ, असुर व राक्षसगण पञ्चम तथा ओषधिवनस्पति आदि जगत्के और सब षष्ठ स्वर द्वारा तृप्तिलाभ करते हैं। ये ही सात मौलिक स्वर अवान्तरभेदसे बहुविध हो गये हैं।

लौकिक गीत पुनः दो भागमें विभक्त है, यथा मार्ग और देशी। इनके लक्षण यथा—

द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च ।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ॥
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत् स्याल्लोकानुरञ्जनम् ।
देशे देशे तु सङ्गीतं तद्देशीत्यभिधीयते ॥

पितामह ब्रह्माने जिसको अन्वेषण करके निकाला है, भरत मुनिने महादेवके पास जिसको गाया है, मुक्तिदाता वही गान 'मार्ग' है। भिन्न-भिन्न देशकी भिन्न-भिन्न रीति तथा रुचिके अनुसार लोकरञ्जनार्थ समय-समयपर जो गीत प्रकट होता है उसको 'देशी' कहते हैं। और भी—

मार्गदेशीविभागेन संगीतं द्विविधं मतम् ।
स्वर्गे मार्गाश्रितं देश्याश्रितं भूतल-रञ्जकम् ॥
नारायणेन यत् सृष्टं प्रयुक्तं द्रुहिणेन च ।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ॥ (संगीतदर्पण १।३-६)
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं नारदेन च ।
कल्लिनाथस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ॥ (संगीतभाष्य)
यदुक्तं द्रुहिणेनैवं स मार्ग इति प्रोच्यते ।
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीयं विधीयते ॥ (नारदसंहिता १।१०)

मार्ग और देशी भेदसे गीत दो प्रकारके हैं । मार्गका सम्बन्ध स्वर्गके साथ और देशीका सम्बन्ध मर्त्यलोकके साथ है । नारायणने जिसकी सृष्टि की और ब्रह्माने महादेवके पास जिसका प्रयोग किया मुक्तिप्रद वही गान 'मार्ग' है । मतान्तरमें ब्रह्माने जिसको खोज निकाला, नारदने कल्लिनाथके सामने जिसका प्रयोग किया मुक्तिप्रद वही गान मार्ग है । देशभेदसे प्रचलित गान देशी है । सङ्गीतशास्त्रानुसार मार्गगीत सदा ही मंगलप्रद है, किन्तु कलियुगमें यह गीत मर्त्यलोकसे स्वर्गलोगमें चला गया है । इस लोकके नर-नारी सब मार्ग गीत गाना भूल गये हैं । इसीतरह वैदिक सामगानकी विधि भी प्रायः लोग भूल गये हैं ।

देशी गीत यन्त्र और गात्र भेदसे दो प्रकारके होते हैं । वेणु, वीणा आदि यन्त्र द्वारा जो गीत प्रकाशित होता है उसे 'यन्त्र' और जीवकण्ठ द्वारा जो गीत प्रकट होता है उसे 'गात्र' कहते हैं । चलितभाषामें यन्त्रगीतको वाद्य कहा जाता है, जिसके विषयमें आगे कहा जायगा । सभी गीतका मूलकारण 'नाद' है । इसके विषयमें संगीत शास्त्रोंमें लिखा है—

न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः ।
न नादेन विना ग्रामस्तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥ (नारदसंगीत)
आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।
अनाहतनादन्तु मुनयः समुपासते ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण मुक्तिदं न तु रञ्जकम् ।
स नादस्त्वाहतो लोके रञ्जको भवभञ्जकः ॥ (संगीतदर्पण १।१४)

आत्मना प्रेरितं चित्तं वह्निमाहन्ति देहजम् ।
ब्रह्मग्रन्थिस्थितं प्राणं स प्रेरयति पावकः ॥
पावकप्रेरितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ।
अतिसूक्ष्मध्वनिर्नाभौ हृदि सूक्ष्मं गले पुनः ॥
पुष्टं शीर्षे त्वपुष्टं च कृत्रिमं वदने तथा ।
आविर्भावयतीत्येवं पञ्चधा कीर्त्यते बुधैः ॥
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥

(संगीतदर्पण १-३४-३६)

नादके बिना गीत नहीं, नादके बिना स्वर नहीं, नादके बिना ग्राम नहीं है, अतः जगत् नादात्मक है। आहत और अनाहत—नाद दो प्रकारका है। अनाहत नाद रञ्जक नहीं है, मुक्तिप्रद है, गुरुके उपदेशानुसार मुनिगण उसकी साधना करते हैं। आहत नाद ही भोग-मोक्ष दोनोंका देनेवाला है। जब चेतनमें ध्वनिकी इच्छा होती है, तो वह अन्तःकरणमें प्रेरणा उत्पन्न करता है, अन्तःकरणमें देहस्थ अग्निको उद्दीप्त करता है, देहस्थ अग्नि ब्रह्मग्रंथिस्थित प्राणशक्तिको प्रेरित करती है। इसी प्रेरणासे वायु ऊपरकी ओर चलने लगता है और क्रमशः नाभि:, हृदय, कण्ठ, मस्तक तथा मुखमें इसी वायुके आघातसे ध्वनि उत्पन्न हो जाती है, जिसको नाद या श्रुति कहते हैं। नकारका अर्थ प्राण और दकारका अर्थ अनल है। प्राण और अनलके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण इसका नाम नाद है। नाद अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम पाँच भागमें विभक्त है। किन्तु गीतके व्यवहारमें मन्द्र, मध्य और तार येही तीन विभाग माने गये हैं। हृदयमें उत्पन्न नाद मन्द्र, कण्ठमें उत्पन्न नाद मध्य और मस्तकमें उत्पन्न नाद तार है। नाद या श्रुतिको किसी-किसी संगीताचार्यने २२ भागमें, किसी-किसीने ६६ भागमें और किसी-किसीने केवल तीन ही भागमें विभक्त किया है। संगीतरत्नाकर प्रणेता शांर्गदेव कहते हैं कि, सुषुम्नाके साथ संलग्न जो २२ नाड़ियाँ हैं, उन्हींके योगसे २२ नाद उत्पन्न होते हैं, अतः श्रुति २२ ही हैं। सङ्गीतदर्पणमें इन श्रुतियोंके नाम यथा-तीव्रा, कुमद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रञ्जनी, रतिका, रौद्री, क्रोधा, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, सन्दीपनी, आलापिनी, मदन्ती, रोहिणी, रम्या, उग्रा और क्षोभिणी। इन्हीं श्रुति या नादोंसे षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और

निषाद—ये सात स्वर उत्पन्न होते हैं, जिनको संक्षिप्त भाषामें स, रि, ग, म, प, ध, नि कहा जाता है। २२ श्रुतियोंमेंसे तीव्रा आदि चार षड्जमें, दयावती आदि तीन ऋषभमें, रौद्री और क्रोधा गान्धार में, वज्रिका आदि चार मध्यममें, क्षिति आदि चार, पञ्चममें, मदन्ती आदि तीन धैवत और उग्र तथा क्षोभिणी निषादस्वरमें हैं। संगीतरत्नाकर ३।२३ में लिखा है—

नासा कण्ठ उरस्तालुजिह्वादन्तास्तथैव च।
षड्भिः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः॥
नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
ऋषभवन्नदेद् यस्मात् तस्मादृषभ ईरितः॥
नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
गन्धर्वसुखहेतुत्वाद् गान्धारस्तेन कथ्यते॥
वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदयेषु समाहतः।
मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च मध्यमस्तेन कीर्त्तितः॥
वायुः समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठशिरोहृदः।
पञ्चस्थानसमुद्भूतः पञ्चमस्तेन सम्मतः॥
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठतालुशिरो हृदि।
तत्तत्स्थाने धृतो यस्मात्तस्माद् धैवत उच्यते॥
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठतालुशिरो हतः।
निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते॥

नासिका, कण्ठ, वक्ष, तालु, जिह्वा और दन्त इन छः स्थानोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेके कारण 'षड्ज' नाम है। नाभिसे उर्द्ध्वगत वायु कण्ठ तथा मस्तकमें आहत होनेपर वृषनादकी तरह स्वर उत्पन्न होता है, अतः इसको 'ऋषभ' कहते हैं। गन्धर्वोंका अतिशय सुखप्रद होनेके कारण तृतीय स्वरका नाम 'गान्धार' है। नाभिसे उत्थित हृदयमें आहत वायु मध्यस्थानोत्पन्न होनेके कारण 'मध्य' कहलाता है। ओष्ठ, कण्ठ, सिर, हृदय तथा नाभि, इन पाँच स्थानोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेके कारण 'पञ्चम' नाम है। नाभिसे उत्थित वायु, कण्ठ, तालु, सिर, हृदय इन स्थानोंमें धृत होकर उस स्वरको उत्पन्न

करता है इसलिये उसे 'धैवत' कहते हैं। जिस स्वरमें और सभी स्वर अवस्थित या विरत हैं उसे 'निषाद' कहते हैं। इस प्रकारसे सप्त स्वर निष्पन्न होते हैं। ये ही मौलिक सप्तस्वर विकृत होकर च्युत, अच्युत, आदि द्वादश प्रकारके होते हैं और विकृत अविकृत सब मिलकर २१ प्रकारके होते हैं। इन्हीं स्वरोंसे सकल प्रकारके राग उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन पहिले ही किया गया है। वादी, संवादी, विवादी, अनुवादी—स्वरके और भी चार भेद होते हैं। संगीतरत्नाकर २।४४ में लिखा है—

मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः।
गजश्च सप्तषड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी ॥

मयूरका स्वाभाविक स्वर षड्ज, चातकका ऋषभ, छागका गान्धार, क्रौञ्चका मध्यम, कोकिलका पञ्चम, मेढ़कका धैवत और हाथीका निषाद है।

पूर्वकथित नाद या श्रुतियोंकी पाँच जातियाँ हैं। यथा—दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्या। षड्ज स्वरकी चार श्रुति दीप्ता, आयता, मृदु और मध्य-जातियाँ है, ऋषभकी तीन श्रुति करुणा, मध्या, मृदुजातीया है। गान्धारकी दो श्रुति दीप्ता और आयतजातीया है। मध्यमकी चार श्रुति दीप्ता, आयता, मृदु, मध्यजातीया है। पञ्चमकी चार श्रुति मृदु, मध्या, आयता, करुणा जातीया है। धैवतकी तीन श्रुति करुणा, आयता, मध्यजातीया है और निषादकी दो श्रुति दीप्ता, मध्यजातीया है। शार्ङ्गदेवके मतानुसार षड्ज, गान्धार, मध्यम, ये तीन स्वर देवकुलमें उत्पन्न हैं, पञ्चम पितृकुलमें, ऋषभ व धैवत ऋषिकुलमें और निषाद असुरकुलमें उत्पन्न हुए हैं। षड्ज, मध्यम व पञ्चम ब्राह्मण, ऋषभ व धैवत क्षत्रिय, निषाद व गान्धार वैश्य तथा अन्तर व काकली शूद्रवर्ण हैं। सात मौलिक स्वर यथाक्रम-रक्त, इषत्पीत, अतिपीत, शुभ्र, कृष्ण, पीत और कर्बूरवर्ण हैं। जम्बु, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली, श्वेत और पुष्करद्वीपमें यथाक्रम इनकी उत्पत्ति हुई है। वेदमन्त्रकी तरह इनके भी ऋषि, छन्द तथा देवताका उल्लेख संगीतशास्त्रमें पाया जाता है। षड्ज और ऋषभस्वर, वीर, अद्भुत तथा रौद्ररसमें, धैवत, स्वर, वीभत्स तथा भयानक रसमें, गान्धार और निषाद स्वर करुणरसमें, मध्यम और पञ्चम स्वर हास्य तथा शृङ्गार रसमें प्रयोग करने योग्य हैं।

स्वरोंके यथाविधि गानेका नाम 'वर्ण' है। वर्ण चतुर्धा विभक्त है—यथा–स्थायी आरोही, अवरोही और संचारी। किसी एक स्वरके ठहर ठहर कर उच्चारणको स्थायी कहते हैं। यथा षड्जका सा सा सा। मध्यमका मा मा मा, इत्यादि। स्वरोंके नीचेसे ऊँचे तक क्रमोच्चारणको आरोही और ऊपरसे नीचे तक लानेको अवरोही कहते हैं।

जिस उच्चारणमें ये तीनों लक्षण मिश्रित हैं उसे संचारी कहा जाता है। रागमें प्रयुक्त स्वरोंके प्रकारभेदसे और भी तीन नाम होते हैं, यथा—ग्रह, न्यास और अंश। गीतके प्रारम्भमें प्रयुक्त स्वरको ग्रहस्वर, अन्तमें प्रयुक्त स्वरको न्यासस्वर, और बहुल प्रयुक्त स्वरको अंशस्वर कहते हैं। रागसमूहके विशेष चार अङ्ग होते हैं यथा—रागांग, भाषांग, क्रियाङ्ग और उपाङ्ग। रागके छायामात्रके अनुकरणको रागांग, भाषाके छायामात्रके आश्रय लेनेको भाषांग, रागोंके गानकरणोत्साहको क्रियांग और इन तीनोंके अति-सामान्य अनुकरणको उपांग कहते हैं। मतङ्गके मतानुसार रागसमूह शुद्ध, छायालग और संकीर्णभेदसे तीन प्रकारके होते हैं। किसी अन्यरागके आश्रय बिना पृथक् पृथक् भावसे गेय राग—शुद्ध कहलाता है। जिन रागोंपर अन्य किसी रागकी छाया रहती है उसका नाम छायालग है। जिन रागोंमें अनेक रागोंका मिश्रण रहता है उन्हें संकीर्ण कहते हैं। ये तीन प्रकारके राग ही पुनः औड़व, षाड़व और सम्पूर्ण नामसे त्रिधा विभक्त होते हैं। जिन रागोंमें षड्जादि सप्त स्वरोंमेंसे केवल पाँच स्वर लिये जाते हैं उनका नाम औड़व है। छः स्वरोंसे गाने योग्य सभी राग षाड़व कहलाते हैं। जिनमें षड्जादि सातों स्वरोंका ही प्रयोग होता है उनका नाम सम्पूर्ण है।

मूर्च्छना, तान, जाति तथा जात्यंशयुक्त स्वरोंको ग्राम कहते हैं। स्वरग्राम तीन हैं, यथा—षड्ज, मध्यम और गान्धार। गान्धार ग्राम देवलोकमें और षड्ज, मध्यम ग्राम मर्त्यलोकमें प्रचलित हैं। जिन स्वरोंमें पञ्चम स्वर अपनी चतुर्थ श्रुतिमें अवस्थित है उसे षड्ज ग्राम कहते हैं। जिन स्वरोंमें पञ्चम स्वर तृतीय श्रुतिमें विश्रान्त या विकृत हैं उसे मध्यमग्राम कहते हैं। षड्ज ग्रामके अधिपति ब्रह्मा, मध्यम ग्रामके विष्णु और गान्धार ग्रामके शिव हैं। हेमन्त ऋतुके पूर्वाह्णमें षड्ज ग्राम, ग्रीष्मके मध्याह्नमें मध्यम ग्राम और वर्षाके अपराह्णमें गान्धार ग्रामके आश्रयसे गान करना चाहिये। क्रमानुसार सप्तस्वरोंके आरोहण, अवरोहण-पूर्वक उच्चारणका या उन आरोहण—अवरोहण युक्त स्वरोंका नाम मूर्च्छना हैं। इसमें राग मूर्च्छित अर्थात् वर्द्धित होता है, इसकारण इसे मूर्च्छना कहते हैं। षड्ज ग्राममें उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्ध षड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता ये सात मूर्च्छना हैं। इसीतरह मध्यमग्राममें सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी और हृष्यका ये सात मूर्च्छना हैं। गान्धार ग्राममें नन्दा, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा और आलापी ये सात मूर्च्छना हैं। इन सबोंके पृथक् पृथक् लक्षण संगीतशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं। आदिसंगीतशास्त्र प्रणेता भरतमुनिके मतानुसार गान या वाद्यके समय जहाँपर कण्ठ या हस्त कम्पित होता है, उसको मूर्च्छना कहते

हैं। हनुमानके मतानुसार षड्जादि स्वरोंसे ऋषभादि स्वरोंका उत्थान जहाँपर विरामको प्राप्त होवे, उसका नाम मूर्च्छना है। ये सभी मूर्च्छना पुनः शुद्धा, सकाकली सान्तरा और काकल्यन्तरयुक्ता इस तरह चार प्रकारकी होती हैं। इस प्रकारसे भेद, अन्तर्भेद होते होते कुल ३६२ मूर्च्छनाएँ संगीतशास्त्रमें कही गई हैं। जिसप्रकार आरोह—अवरोहक्रमयुक्त स्वरोंको मूर्च्छना कहते हैं, ऐसे ही केवल आरोहक्रमयुक्त स्वरोंको तान कहा जाता है। शुद्धतान और कूटतान दो प्रकारके तान होते हैं। मूर्च्छना एकस्वरहीन होकर षट्स्वर तथा दो स्वर हीन होकर पञ्चस्वर हो जाय तो उसे शुद्धतान कहते हैं। षट्स्वर-शुद्धतानको षाड़व और पञ्चस्वर-शुद्धतानको औड़व कहा जा सकता है। षाड़व शुद्धतानकी संख्या ४६ और औड़व शुद्धतानकी संख्या ३५ हैं। पूर्ण या अपूर्ण मूर्च्छना व्युत्क्रमसे यदि उच्चारित हो तो उसे कूटतान कहा जाता है। एक पूर्णमूर्च्छनामें ५०४० पर्यन्त कूटतान हो सकते हैं, पूर्ण-मूर्च्छना ५६ प्रकार हैं। अतः पूर्ण कूटतान २८२२४० इतने हो सकते हैं। इस प्रकारसे मूर्च्छना, तान आदिके अनन्तरूप संगीतशास्त्रमें वर्णित हैं।

सकल जीवोंमेंसे केवल मनुष्यमें ही आनन्दमयकोषका विकास होता है। संगीत उसी प्राकृतिक आनन्दभावका प्राकृतिक उच्छ्वास है। प्रकृति त्रिगुणानुसार प्रथमतः तीन, द्वितीयतः पाँच और तृतीयतः सात भागमें विभक्त है। सप्तरङ्ग, सप्तधातु, सप्तदिन, सप्तभूमि, सप्तरत्न इस प्रकारसे प्राकृतिक सप्तविभाग सर्वत्र ही देखे जाते हैं। इसी प्राकृतिक सम्बन्धसे मौलिक सप्तस्वर सात ही बताये गये हैं। जिस प्रकार जड़वाद्ययन्त्रमें देखा जाता है कि एक ही सुरमें बाँधकर सीतार, वीणा आदि कई यन्त्र एक स्थान पर रखे जायँ तो एकके बजानेसे घातप्रतिघात द्वारा बिना बजाये ही और सब बजने लगते हैं, उसीप्रकार जिस प्रकृतिके साथ जिस रागका स्वाभाविक सम्बन्ध है, उस रागके ठीक ठीक गानेपर मनुष्योंमें भी उसी प्राकृतिक भावका उदय किया जा सकता है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न प्राकृतिक भावोंके अनुसार भिन्न भिन्न रागरागिणियोंकी रूपकल्पना संगीतशास्त्रमें की गई है और उन्हीं रागोंके आश्रयसे विविध प्रकार आधिव्याधिनिवारण, हँसाना, रुलाना, शोक, मोह दूर करना, जल वर्षाना, वैराग्य, शृंगार, वीरता आदि भाव प्रकट करना, संगीतशास्त्रमें सम्भव बताया गया है। केवल इतना ही नहीं, कालका भी विभाग करके जिस कालके साथ जिस प्राकृतिक भावका नैसर्गिक सम्बन्ध है, उसी कालमें उस रागके गानेकी रीति संगीतशास्त्रमें बताई गई है, ताकि कालानुकूल होनेसे शीघ्र भावविकाश होनेमें सुविधा

हो सके। अब नीचे भावानुसार कुछ रागोंके रूपवर्णन तथा कालानुसार गानेकी विधि बताई जाती है। संगीतदर्पण २।४६ में भैरवरागका रूपवर्णन यथा—

गंगाधरः शशिकला–तिलकस्त्रिनेत्रः,
सर्पैर्विभूषिततनुर्गजकृत्तिवासाः।
भास्वत्त्रिशूलकर एष नृमुण्डधारी
शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदिरागः॥

आदिराग भैरव शिवरूप हैं, गङ्गा, चन्द्रकला, त्रिनयन, भुजङ्ग, त्रिशूल, जटा, श्वेतवसन, गजचर्मपरिधान, नरमुण्डमाला इत्यादि उनके भूषण हैं। यह रूप वैराग्यमय होनेसे भैरव रागके गानेपर वैराग्यका उदय होता है। इसी तरह मालवश्री रागिणीका ध्यान, यथा संगीतदर्पण २।७३ में—

रक्तोत्पलं हस्ततले दधाना
विभावयन्ती तनुदेहवल्ली।
रसालवृक्षस्य तले निषण्णा
स्तोकस्मिता सा किल मालवश्रीः॥

मालवश्री क्षीणाङ्गी, आम्रवृक्षके नीचे उपविष्ट होकर हाथमें एक रक्तपद्म धारण करके मन्द मन्द हास्य कर रही हैं। इस रागिणीके गानेपर शृङ्गार रसका उदय होता है। इसी तरह भूपालीका ध्यान यथा—

गौरद्युतिः कुंकुमरक्तदेहा
तुङ्गस्तनी चन्द्रमुखी मनोज्ञा।
भर्त्तुः स्मरन्ती विरहेण दूना
भूपालिकेयं रसशान्तियुक्ता॥

गौराङ्गी, पीनस्तनी, चन्द्रमुखी, कुंकुमरक्तदेहा, मनोहारिणी, पतिविरहकातरा भूपाली पतिचिन्हमें मग्न है। इसके गानेपर शान्तिरसका उदय होता है।

इस प्रकारसे प्रत्येक राग या रागिणीके साथ एक एक भावविकाशका वैज्ञानिक सम्बन्ध सङ्गीतशास्त्रमें बताया गया है। जिसकालके अनुकूल जो राग है, उसीकालमें उसके गानेपर भावका विकाश और भी विशेषरूपसे होता है, इसीकारण रागवेलाका निर्णय किया गया है। मधुमाधवी, देशाख्या, भूपाली, भैरवी, वेलावली, मल्लारी,

वल्लारी, सोमगुर्जरी, धनाश्री, मालवश्री, मेघ, पञ्चम, देशकारी, भैरव, ललिता और वसन्त—इन रागरागिणियोंका गान प्रातःकालसे दिनके एक प्रहरके भीतर होना चाहिये। गुर्जरी, कौशिक, शावेरी, पटमंजरी, रेवा, गुणकिरी, रामकिरी और सौरटी—इनका गान दिनके एक प्रहरके बाद तथा द्वितीय प्रहरके भीतर होना चाहिये। वैराटी, तोड़ी, कामोदी, कुड़ारिका, गान्धारी, देशी और शंकराभरण—इनका गान द्वितीय प्रहरके बाद तृतीयके बीचमें होना चाहिये। श्री, मालव, गौरी, त्रिवेनी, नटकल्याण, सारङ्गनट, नाट, केदारी, कर्णाटी, आभीरी, पहाड़ी—इन रागरागिणियोंको तृतीय प्रहरके बाद अर्द्धरात्रितक गा सकते हैं। दाक्षिणात्यमतानुसार देशाख्या, भैरवी, देवरक्तदंशी, माहुसा, नक्तरञ्जिका—इन रागिणियोंका गान जो प्रातःकाल करता है उसको विपुल सुख प्राप्त होता है। सन्ध्याके समय इनका गाना निषिद्ध है। शुद्धनट्टा, सारङ्गी, नट्ट, वराटिका-छाया, गौड़ी, ललिता, मल्लारिका, गौरी, तोड़िका, गौड़, मालवगौड़, रामकीरि, कर्णाट, वङ्गाली-ये सब चन्द्रसे निकली रागरागिणियाँ हैं, प्रातःकाल इनका गाना निन्दित है, सायंकाल गानेसे विशेष लक्ष्मीलाभ होता है। सस्त्रीक श्रीराग शीतऋतुमें, सस्त्रीकी वसन्तराग वसन्तऋतुमें, सपत्नीक भैरवराग ग्रीष्मऋतुमें, सपत्नीक पञ्चमराग शरद्ऋतुमें, सस्त्रीक मेघराग वर्षाऋतुमें और सपत्नीक नट्टनारायण हेमन्तऋतुमें गाने योग्य हैं। कालातिरिक्त गीत गाने या सुननेसे जो दोष होता है, शिवपूजा द्वारा उसका परिहार किया जा सकता है, ऐसा भी संगीतशास्त्रमें वर्णन मिलता है। सङ्गीतशास्त्रके नाना आचार्योंके मत मिलानेसे प्रधानतः चार ही मत देखनेमें आते हैं यथा—सोमेश्वरका मत, भरतमुनिका मत; हनूमानका मत और कल्लिनाथका मत। आजकल हनूमानका मत ही अधिक प्रचलित है, जिसमें स्वराध्याय, रागाध्याय, तालाध्याय, नृत्याध्याय, भावाध्याय, कोकाध्याय, और हस्ताध्याय, ये सात अध्याय होते हैं।

यद्यपि ग्रीकजातिप्रमुख पश्चिमियोंने आर्यजातिसे ही सङ्गीतविद्याको प्राप्त किया है, तथापि इस विद्याके अन्तर्लक्ष्यको उन्होंने ग्रहण नहीं किया है। केवल मनोविनोद, वैषयिक आनन्द आदि बहिर्लक्ष्यसिद्धिकेलिये ही पश्चिमदेशमें सङ्गीतविद्याकी उन्नति अबतक हुई है और इसी कारण स्वाभाविक नादके बदले अप्राकृतिक गीतक्रम, गत आदि कितने ही नये ढङ्ग उन लोगोंने वाद्ययन्त्रोंकी सहायतासे बना लिये हैं। ये सभी विषयानन्दके उत्तेजकमात्र हैं, आत्मोन्नति या मोक्षमार्गके साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसकारण इस देशके लोग उन्हें बहुत ऊँची दृष्टिसे नहीं देखते। इस देशमें भी अब संगीतविद्याका ह्रास ही समझना चाहिये।

प्राचीनकालमें पूज्यपाद महर्षियोंने सोलह सहस्र राग-रागिणियों और तीनसौ छत्तीस तालोंका आविष्कार किया था। ये सब वैज्ञानिक और दार्शनिक भित्तिपर आविष्कृत हुए थे। शब्दसृष्टि कितनी अपूर्व है और शब्दशक्ति कितनी पूर्ण है, वह इस विज्ञानसे सिद्ध होता है। आजकल अच्छेसे अच्छा गवैया दो सौसे अधिक रागरागिणी नहीं जानता। इसीप्रकार बीस पच्चीस तालोंका व्यवहार इस समय रह गया है।

आधुनिक संगीतके ग्रन्थ जितने बने हैं, उनमें गायककी मदद नहीं ली गई है, पण्डितोंने बनाये हैं। उन ग्रन्थकारोंके कोई गीत प्रचलित नहीं हैं, जिससे साबित होता है कि, वे संगीतका क्रियासिद्धांश नहीं जानते थे। जैसे मीठा मीठा कहनेसे मुँह मीठा नहीं होता, उसी प्रकार बिना क्रियासिद्धांशके संगीतविद्या कोई चीज नहीं है। यही कारण है कि, आधुनिक ग्रन्थोंसे संगीतको पूरी सहायता नहीं मिलती और ऋषिप्रणीत संगीतग्रंथोंका तो अब सहस्रांश भी नहीं मिलता है।

पहिले ही कहा गया है कि कलियुगमें मार्गी विद्या पृथिवीलोकसे स्वर्गलोकमें चली जायगी। यही कारण है कि, सामवेद-गानकी यथार्थ शैली अब कोई नहीं जानता। ध्रुवपद गानेकी जो शैली है वह प्राचीन देशी विद्या है। खयाल, टप्पा, ठुमरी, तिरवट, तिराना आदि जो आधुनिक गानेके भेद हैं, वे सब मुसलमान गायकोंने पीछेसे बनाये हैं। ध्रुवपद ही मुख्य और सङ्गीत विज्ञानसम्मत है। ध्रुवपदसे ध्रुपद बना है। चार प्रकारसे वह ध्रुवत्व सिद्ध होता है, यथा—स्वर, ताल, राग और बोल। ये चारों ध्रुपदमें नियमाधीन रहते हैं। आधुनिक जितनी गीतकी शैलियाँ हैं उनमें यह बात पूर्ण-रूपसे नहीं पाई जातीं। अब खेदकी बात यह है कि, ध्रुपदका गाना तो संसारसे उठा ही जाता है।

वर्त्तमान सङ्गीतशैली बड़ी हलकी होगई है। प्रधान कारण यह है कि, गुरुसे सीखना उठ गया है। नींव मजबूत नहीं होती। स्वर-विन्यासकी शिक्षा बिलकुल जाती रही। यथाः—मेरुखण्डके ५०४० पाँच हजार चालीस भेद अच्छे गायक भी नहीं जानते। लोग बगैर समझे प्राचीन शैलीमें गड़बड़ करने लगे हैं। जैसे मेलके स्थानमें ठाठके प्रचलित करनेका प्रयत्न करना। और भी बहुतसे अवनतिके कारण हैं। यथा:— असम्पूर्ण बाजोंका प्रचलित होना। नरपति और रईसोंमें तथा पण्डितोंमें इसका आदर न रहना। निम्नश्रेणी और पतितश्रेणीमें इसका चला जाना। विद्यालयोंमें इसका सम्बन्ध न रहना, जैसा कि, प्राचीन कालमें था और आज कल भी यूरोपमें है। लघु-गुरुका विचार न रहना। यथाः—ध्रुपद और आलापका अनादर।

आजकल जो नोटेशनके द्वारा गान सीखनेकी शैली यूरोपके सङ्गीतके आदर्श-पर प्रबल वेगसे प्रचलित की जा रही है, वह उपकारी है इसमें संदेह नहीं है। नोटेशन अच्छी चीज है, उसमें कई उपकार हैं। परन्तु ऊँचे दर्जेकी चीजका नोटेशन ठीक नहीं हो सकता। जैसे कि, गुप्त स्वरोंको प्रकट स्वरोंकी तरह चिह्नित कर सकते हैं, परन्तु प्रकट स्वर तो बगैर बताये गलेमें ला सकते हैं और गुप्तस्वर कदापि गुरूपदेश बगैर गलेमें नहीं लाये जा सकते। सङ्गीतविद्या योगविद्यासे बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है।

इसकारण जैसे योग-विद्या बिना गुरूपदेशके नहीं आ सकती है, वैसे ही संगीत-विद्याकी बारीकी बिना गुरुके बताये नहीं आ सकती । उच्चश्रेणीके गायकोंको केवल नोटेशनपर भरोसा रखना उचित नहीं है । नहीं तो उच्चसङ्गीत श्रीहीन हो जायगा ।

आलापका अर्थ है, निर्गुण ब्रह्मसे मेल । ध्रुवपदका तात्पर्य्य है निश्चित पदावली अर्थात् सगुण निश्चित पदावली, जो मन्त्ररूपा हो । जिसका दर्जा मार्गी विद्याके बाद ही रक्खा गया था । साधारणरूपसे गाते समय बोल अर्थात् शब्दार्थकी ओर मन जाता है, इस कारण मनकी एकाग्रता और अन्तःकरणके आत्मानुसन्धानमें बाधा होती है । इस कारण बोल और तालरहित स्वरविन्यास और शास्त्रोक्त राग-रागिणियोंके आह्वानसे परमपद लक्ष्य करनेमें आलापकी बड़ी भारी उपयोगिता है, जिसको आज दिन गायकवृन्द और श्रोतृवृन्द अनादर करने लगे हैं । प्राचीन ध्रुवपद सो संगीतशास्त्रकी कुंजी भी है, उनमें नायकोंने संगीतशिक्षाप्रणाली विधिपूर्वक बताई है । हानि यह हुई है कि, अविद्वान् मुसलमान गवैयोंके द्वारा वे बोलसमूह नष्ट भ्रष्ट हो गये हैं । केवल खानदानी गवैयोंके यहाँ कहीं कहीं वे बोल शुद्ध मिलते हैं । ऐसे खानदानी गवैयोंका आदर करके प्राचीन संगीतविद्याको जीवित रखना उचित है । नहीं तो आधुनिक हलके सङ्गीतके द्वारा वह स्वर्गीय ध्रुवपदविद्या मार्गीविद्याकी तरह कुछ दिनोंमें स्वर्गमें ही जा रहेगी ।

सङ्गीतशास्त्रके प्रथम अङ्ग गीतका वर्णन करके अब द्वितीयाङ्गरूपी 'वाद्य' के विषयमें संक्षेपसे कहा जाता है । संगीतदामोदरमें लिखा है—

तालेन राजते गीतं तालो वादित्रसम्भवः ।
गरीयस्तेन वादित्रं तच्चतुर्विधमिष्यते ॥
ततं शुषिरमानद्धं घनमित्थं चतुर्विधम् ।
ततं तन्त्रीगतं वाद्यं वंशाद्यं शुषिरं तथा ॥
चर्मावनद्धमानद्धं घनं तालादिकं मतम् ॥

और भी—

ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् ।
वंश्यादिकन्तु शुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ (अमर)

तालके बिना गीतमें शोभा नहीं आती है, वाद्यसे तालकी उत्पत्ति होती है, अतः वाद्य श्रेष्ठ वस्तु है । वाद्यके चार भेद होते हैं यथा—तत, शुषिर, आनद्ध और

घन । वीणा आदि तन्त्रीगत वाद्य तत, वंशी आदि वाद्य शुषिर, मुरज आदि चर्मयुक्त वाद्य आनद्ध और करताल आदि वाद्य घन कहलाते हैं । अलावनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपञ्ची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, जया, हस्तिका, कुब्जिका, शारङ्गी, कूर्मी, पिनाकी, शुष्कल, रुद्र, शरमण्डल, मधुस्यन्दी इत्यादि तत वाद्यके नाम हैं । वंशी, पारी, मधुरी, तित्तिरी, शंख, काहल, तोड़ही, मुरली, बुक्का, शृंगिका, कापालिक, वंश इत्यादि शुषिर वाद्यके नाम हैं । मुरज, पटह, ढक्का, विम्बक, पणव, घन, करट, कमट, भेरी, कुड़क्का, हुड़क्का, फनस, फल्ली, टुक्कली, डमरू, टमुकि, कुण्डली, तङ्गुनामा, रण, अभिघटवाद्य, दुन्दुभि, डुडुकी, दर्दुर, उपाङ्ग आदि आनद्ध वाद्यके नाम हैं । कांस्यताल, करताल आदि घन वाद्यके नाम हैं । संगीतदामोदरमें लिखा है—

कृष्णस्याष्टमहिषीणां पुरोद्वाहमहोत्सवे ।
ततं शुषिरमानद्धं घनञ्च युगपज्जनाः ॥
अवादयन्नसंख्यातमिति पौराणिकी श्रुतिः ।
ततं वाद्यन्तु देवानां गन्धर्वाणाञ्च शौषिरम् ॥
आनद्धं राक्षसानान्तु किन्नराणां घनं विदुः ।

श्रीकृष्ण भगवान्‌की अष्टमहिषीके विवाहोत्सवकालमें तत आदि चार प्रकारके वाद्य एक साथ असंख्य बजे थे, ऐसी पौराणिकी कथा है । ततवाद्य देवताओंका, शुषिर गन्धर्वोंका, आनद्ध राक्षसोंका और घन किन्नरोंका प्रिय है । इसके सिवाय 'सिंहनादेन सह वाद्यं पञ्चविधं भवति' अर्थात् युद्धकालीन सैन्योंका जो सिंहनाद है उसे लेकर वाद्य पाँच प्रकारके होते हैं, यही सङ्गीत दामोदरका मत है ।

भगवान् वाद्यसे बड़े प्रसन्न होते हैं । सभी इष्टदेवता वाद्यसे प्रसन्नता लाभ करते हैं । देवप्रतिष्ठा आदि कार्य भी गीतवाद्य आदिके साथ करना विधेय है । यथा—

अन्योपहारे विविधे घृतक्षीराभिषेचनैः ।
गीतवादित्रनृत्याद्यैस्तोषयच्चाच्युतं नृप ॥
पुण्यरात्रिषु गोविन्दं गीतनृत्यरवोज्ज्वलैः
भूप जागरणैर्भक्त्या तोषयाच्युतमव्ययम् ॥
(अग्नि पु० क्रियायोग नामाध्याय)

ततः प्रासादे स्थाप्योऽयं गीतवादित्रमंगलैः ।
सर्वगन्धास्ततो गृह्य इमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥
(वाराह पु० शैलार्चास्थापन)

अन्यान्य उपहारोंके होनेपर भी घृत तथा क्षीरके अभिषेक और गीत, वाद्य, नृत्यके द्वारा श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं। शुभरात्रिमें जागरण और गीतनृत्य वाद्यके द्वारा इष्टदेवको प्रसन्न किया जाता है। गीतवाद्य आदि मंगलानुष्ठान, नानाप्रकारके गन्धद्रव्य तथा मन्त्रके द्वारा देवप्रतिष्ठा की जाती है। अतः सकल दैवकार्यमें गीतकी तरह वाद्य भी अनादिकालसे प्रचलित है। इष्टविशेषमें वाद्यविशेषका निषेध भी पाया जाता है यथा तिथ्यादितत्त्वमें—

शिवागारे झल्लकं च सूर्यागारे च शङ्खकम्।
दुर्गागारे वंशीवाद्यं माधुरीं च न वादयेत्॥
गीतवादित्रनिर्घोषं देवस्याग्रे च कारयेत्॥
विरिञ्चेश्च गृहे ढक्कां घण्टां लक्ष्मीगृहे त्यजेत्।
घण्टा भवेदशक्तस्य सर्ववाद्यमयी यतः॥

शिवमन्दिरमें कांस्यनिर्मित करताल, दुर्गामन्दिरमें बंशी और माधुरी, विरिञ्चिगृहमें ढाक और लक्ष्मीगृहमें घण्टा नहीं बजाना चाहिये। जो और प्रबन्ध न कर सकें, वे घण्टावाद्य तो सर्वत्र ही बजा सकते हैं। यही शास्त्रीय विधि है।

तालके विना वाद्य मनोरञ्जक नहीं होता, बल्कि श्रुतिकटु ही लगता है। इसलिये वाद्य तालके अधीन है। प्रतिष्ठावाचक 'तल्' धातुसे तालशब्द बनता है। अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य-सङ्गीतके ये तीन ही अङ्ग जिस पर प्रतिष्ठित हैं उसे ताल कहते हैं। काल, मार्ग, क्रिया, अङ्ग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार-ये दस, तालके प्राणरूप हैं। दस प्राणात्मक तालज्ञ-व्यक्ति ही सङ्गीतज्ञ कहलाते हैं। तालहीन सङ्गीत कर्णहीन नावकी तरह विपथगामी ही होजाता है। तालके प्रधान प्राणरूप 'काल' मात्रा नामसे अभिहित होता है। मात्रा पाँच हैं यथा—अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत। इनका सांकेतिक नाम-णुद, द, ल, ग, प है। शतकमलपत्र ऊपर रखकर एक साथ विंधनेमें जो समय लगता है उसे क्षण कहते हैं। एक क्षणमें णुद, दोमें द, दो दमें एक ल, दो लमें एक ग और तीन लमें एक प होता है। इस तरह मात्रा विन्यास-द्वारा तालोंकी उत्पत्ति हुई है। मार्ग तथा देशी दोनों गीतोंके भेदानुसार तालके भी नाम भेद हैं। यथा—चञ्चत्पुट, चाचपुट, षट् पिता पुत्र, सम्पर्केष्टाक और उद्घट्ट ये पांच मार्गताल हैं। आदि, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, दर्पण, रतिलील, सिंहलील, वीरविक्रम, श्रीरङ्ग, चचरा, प्रत्यङ्ग, यतिलग्न, गजलील, हंसलील, राजचूडामणि राजताल, चतुरस्र, मिश्र, जय, मञ्चक, त्रिभङ्गी, जयश्री, नन्दन इत्यादि देशी तालके नाम हैं। इनकी मात्राओंके विन्यास भी संगीतशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

तालमें सम, अतीत, अनागत तीनप्रकारके ग्रह होते हैं। एक ही समय गीत और तालका आरम्भ होनेपर समग्रह, गीत आरम्भसे पहिलें तालका आरम्भ होनेपर अतीतग्रह और गीत आरम्भके बाद तालका आरम्भ होनेपर अनागतग्रह कहा जाता है। क्रियाकालमें थोड़े थोड़े विश्रामको लय कहते हैं। लय द्रुत, मध्य, विलम्बित तीन प्रकारके होते हैं। अतिशीघ्रगतिको द्रुत, उससे द्विगुण श्लथ गतिको मध्य और मध्यसे द्विगुण श्लथ गतिको विलम्बित लय कहते हैं। इन तीन तरहके लयोंकी भी पुनः समा, स्रोतोवहा और पुच्छा ये तीन प्रकारकी गति होती है। आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें एक भावसे रहनेका नाम समा है। जलके स्रोतकी तरह कभी द्रुत कभी मन्द गति होनेको स्रोतवहा और द्रुत मध्य विलम्बित तीनों भावोंके साथ होनेको गोपुच्छा गति कहते हैं। संस्कृत श्लोकमें जिह्वाके विश्रामस्थानको जैसे यति कहा जाता है, वैसे ही तालके लयप्रवृत्ति नियमको यति कहते हैं। आठ मात्रा एकत्र होनेसे मार्ग होता है। संगीतके छन्दकी तरह तालके भी विषम, सम, अतीत और अनाघात चार प्रकारके पद होते हैं और इसके भी विराम, मुहूर्त्त, अणु, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, ये सात अङ्ग होते हैं।

अतिप्राचीनकालसे ही आर्यजातिके भीतर वाद्ययन्त्र तथा यन्त्रवादनकी प्रथा प्रचलित है। युद्धके समय तथा सुखमय निकेतनमें वाद्ययन्त्रका व्यवहार प्राचीन आर्यगण करते थे सो ऋग्वेदके ६।४७।२६-३१ मन्त्रोंमें बताया गया है। युद्धके समय दुन्दुभि वाद्यके भैरवनादसे उत्तेजित होकर आर्यवीरगण धर्म्मयुद्ध करते थे। यागयज्ञादिमें भी शंख घण्टा नादसे दिग्दिगन्तको आपूरित करते थे। रामायण और महाभारतमें भी रणभेरी, दुन्दुभि, दमामा आदि कितने ही शुषिर आनद्ध यन्त्रके वर्णन देखनेमें आते हैं। पुराणमें वर्णन है कि, देवी सरस्वती वीणा बजानेमें निपुण हैं। इस देशमें वीणा यन्त्र ही सबसे प्राचीन यन्त्र है। एकतारयुक्त वीणाको एक तन्त्री, दोतारयुक्तको द्वितन्त्री, तीन तारयुक्तको त्रितन्त्री या सितार, सप्ततारयुक्तवीणाको परिवादिनी इस तरह शततारयुक्त वीणा तकका प्रचलन इस देशमें है। वीणायन्त्रमें महती वीणा ही सबसे प्राचीन है। देवर्षि नारद इस वीणामें गान करते थे, इसलिये इसको नारदी वीणा भी कहते हैं। ब्रह्मवीणा, रुद्रवीणा, शारदीवीणा, किन्नरीवीणा, भरतवीणा, तुम्बरुवीणा, कात्यायनवीणा, स्वरवीणा आदि कई प्रकारके वीणा होते हैं। ततयन्त्रकी तरह शुषिर, आनद्ध, आदि अनेक यन्त्रोंके नाम पहले कहे गये हैं। मुसलमान जातिके राज्यकालमें भी अकबर प्रमुख राजाओंके उत्साहसे इस विद्याकी विशेष उन्नति हुई थी इसका वर्णन किया जा चुका है। आर्यजातिकी तरह प्राचीन

ग्रीक जातिमें भी यह संस्कार था कि देवतागण ही संगीतविद्या तथा वाद्ययन्त्रकी सृष्टि करते हैं। तदनुसार शिवके विषाण, विष्णुके शंख, सरस्वतीकी वीणा, कृष्णकी वन्शी आदिकी तरह ग्रीकदेवता मिनार्भा, मार्करी आदियोंके हाथमें भी वाद्ययन्त्र देखे जाते हैं। प्राचीन मिश्रराज्यमें भी सिंगा, ढाक, लायर और बांसरीका प्रचार था। क्लियोपेट्राके समय मिश्रदेशमें गीत वाद्यका बड़ा ही आदर था। एशियाके भीतर भी ब्यविलोन और पारस्यदेशमें गीतवाद्यकी बहुत उन्नति हुई थी। हिब्रु इतिहासमें यहूदियोंके भीतर भी टेम्मोरीन आदि वाद्ययन्त्रके व्यवहारके वर्णन पाये जाते हैं। रोमनजातिने अन्यान्य विद्याओंकी तरह संगीतविद्याकी भी शिक्षा ग्रीकजातिसे पायी थी। जयढक्का, सिङ्ग, भेरी आदि यन्त्रोंका वर्णन रोमदेशके इतिहासमें पाया जाता है। रोमन संगीतज्ञ, भीट्रभियसके ग्रन्थमें जलतरंग और हारमुनियमके वर्णन मिलते हैं। आधुनिक यूरोपने यन्त्रविद्यामें और भी उन्नति कर ली है और तदनुसार एकर्डियन, इयोलियन, हार्प, बैगपाईप, व्याससुन, विगल, काष्टानेटस्, कानसार्टिना, क्लेरियन, क्लेरिओनेट, सिम्बल, ड्राम, गिटर, हार्मेनिका, हार्प, हार्डिगार्डि, हार्पिसिकर्ड, फ्लाजिओलेट, फ्रेञ्चहर्न, फेटन ड्राम, जिउस हार्प, निउट, लायार, हटवय, अफिक्लैड, अर्गान, पैण्डियन पाईप, पियानो फर्टि, सर्पेन्ट, टैम्बुरिन, भायलिन, रुलेफन, जिदार आदि कितने ही उत्तम उत्तम वाद्ययन्त्र उस देशमें देखनेमें आते हैं।

पहिले ही कहा गया है, कि यूरोपकी संगीतविद्याका बहिर्लक्ष्य है, परन्तु भारतके संगीतका अन्तर्लक्ष्य था। यूरोपकी सङ्गीतविद्याकी भित्ति शिल्पनैपुण्य है, परन्तु प्राचीन आर्योंकी संगीतविद्याकी भित्ति गम्भीर विज्ञान थी। नवीन यूरोपने वैषयिक आनन्दके अर्थ ही संगीतकी उन्नति की है, परन्तु प्राचीन भारतने इस माधुरी विद्याको आत्मोन्नतिका पथरूप करके माना था। मनुष्यद्वारा सप्तग्राम जितना गाया जा सकता है, उतने ही ग्रामोंमें प्राचीन आर्यगण संगीतको गाया करते थे; अर्थात् तीनों ग्रामोंके अतिरिक्त प्राचीन आर्य्यगण कुछ व्यवहार नहीं किया करते थे, परन्तु आजदिन यूरोपमें नाना वाद्य द्वारा आठ दश अथवा ततोधिक सप्तक व्यवहारमें आते हैं, यह अस्वाभाविक है। यह पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि पूज्यपाद महर्षिगण मनुष्योंके चित्तमें नाना समय नाना प्रकृतियोंके आविर्भाव करनेके अर्थ ही अनन्त रागरागिणियोंका अनन्तविज्ञानकौशल प्रकट कर गये हैं, परन्तु यूरोपके संगीतमें वैसी कोई भी शैली देख नहीं पड़ती, वे केवल प्रत्येक गीतक्रम अर्थात् गतोंका स्वतन्त्ररूपसे काल्पनिक नाम रख दिया करते हैं।

मानवीय प्राकृतिक शक्तिकी उन्नति द्वारा कण्ठस्वर साधनसे गान करनेकी अलौ-

किक रीति जैसे प्राचीन आर्योंने आविष्कार की थी, वैसी रीति यूरोपवासी जानते ही नहीं, यूरोपमें जो कुछ उन्नति हुई है, वह अस्वाभाविक यन्त्र द्वारा ही हुई है। गानकी उन्नतरीति उनकी संगीतविद्यामें है ही नहीं। जिसप्रकार नाना तालोंकी विचित्र रीति और लयज्ञानका सूक्ष्म कौशल संगीतमें है, उसप्रकार ताल और लयकी सूक्ष्मता आज दिन तक यूरोपवासी नहीं जानते हैं और नृत्यविद्याकी तो बात ही नहीं, क्योंकि प्राचीन नृत्यविद्याका जो कुछ वर्णन शास्त्र द्वारा देखनेमें आता है, उसका नाममात्र भी यूरोपके संगीत आचार्योंको ज्ञात नहीं है। इन सब विचारोंके उपरान्त आर्य्यसंगीत-शास्त्रमें जिस प्रकार षड्ऋतु विचार, दिवा-रात्रि विचार, प्रहर-यामार्ध विचार, देशकाल विचार और प्रकृति और प्रवृत्ति विचारके साथ अनन्त रागरागिणियोंका विभाग किया गया है, उस विज्ञानकी सूक्ष्मता आज दिन तक यूरोपीय आचार्य्य समझ नहीं सके हैं। इतिहासज्ञ पण्डितमात्र ही जानते हैं कि ग्रीकजाति द्वारा भारत आक्रमणके अनन्तर ही भारतवर्षकी संगीतविद्या लुप्त हो गई, परन्तु ग्रीकोंके भारतआगमनके पश्चात् ही ग्रीसमें संगीत आदि नाना विद्याओंकी उन्नति हुई थी और तत्पश्चात् ग्रीससे रोममें और रोमसे समस्त यूरोपमें संगीतविद्याका प्रचार हुआ था। इन प्रमाणों द्वारा भारतीय संगीतशास्त्रका आदित्व प्रमाणित होता है और यह भी प्रमाणित होता है कि यूरोपीय संगीत-आचार्य्य भारतीय संगीत आचार्योंके शिष्य-परम्परामें ही हैं, परन्तु भेद इतना ही है कि, भारतीय संगीतविद्या अन्तर्जगत्‌में भ्रमण करती हुई भगवत्पदारविन्दमें जा मिली थी; किन्तु यूरोपीय संगीतशास्त्र केवल जड़ जगत्‌में ही विचरण कर रहा है। कोई कोई यूरोपीय संगीतपक्षपाती महाशय ऐसा कहते हैं कि, यन्त्रविद्यामें जैसी यूरोपीय संगीतने उन्नति की है, वैसी भारतवर्षने नहीं की थी। इसके उत्तरमें यदिच यह स्वीकार करने योग्य ही है कि, आज दिन यूरोपमें अगणित संगीत यन्त्र बजाये जाते हैं, तत्रच सूक्ष्मदृष्टिसे यह मानना ही पड़ेगा कि, उन यन्त्रोंके आविष्कारमें भारतवर्ष ही आदिगुरु है। भारतवर्षका वीणायन्त्र देखनेसे कौन बुद्धिमान् उसका श्रेष्ठत्व और आदित्व स्वीकार नहीं करेगा और कौन विचारज्ञ यह नहीं परख सकेगा कि, पियानो आदि लौहतारमय यन्त्र उसीके अनुकरण और उदाहरणपर बनाये गये हैं। पुनः मृदङ्ग, रुद्रवीणा और वंशी आदि यन्त्रोंके देखनेसे उनके आदित्व और श्रेष्ठत्वमें किसीको भी सन्देह नहीं होगा और सूक्ष्मविचारसे यह भी जान पड़ेगा कि, मृदङ्ग आदि यन्त्रके अनुकरण पर यूरोपके ड्रम आदि यन्त्र, सारङ्गी यन्त्रोंके अनुकरणपर वायोलिन आदि यन्त्र, सहनाईयन्त्रके अनुकरणपर क्लीरियोनेट यन्त्र, तूरी, भेरी, नरसिंहा आदि यन्त्रोंके अनुकरणपर कई एक यूरोपीय समरवाद्ययन्त्र, तुमड़ी (सँपेरे जो बजाते हैं) के अनुकरण

पर बैगपाईपयन्त्र और वन्शी आदि यन्त्रोंके अनुकरणपर फ्लूट आदि यन्त्र बनाये गये हैं। यन्त्रोंकी संख्या चाहे अब बहुत ही बढ़ गई हो, परन्तु संगीतविज्ञानकी उन्नतिमें सकलप्रकारसे यूरोपको प्राचीन भारतसे ही सहायता मिली थी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। विशेषतः प्राचीन आर्योंके संगीतयन्त्रोंमें पूर्णता, श्रेष्ठता और विशेषता यह है कि, उनका प्रकाशित मृदङ्ग जिस भाँति सब स्वरोंमें बजाया जा सकता है, उसप्रकार यूरोपीय तालरक्षक यन्त्र नहीं बजाये जा सकते और जिसप्रकार कोमल, तीव्र, अति-कोमल, अतितीव्र स्वर आदि स्पष्टरूपसे वीणा आदि यन्त्रोंमें प्रकाशित किये जा सकते हैं, उसप्रकार पूर्णताके साथ पियानो अथवा हारमोनियम आदि यन्त्रोंमें कदापि प्रका-शित नहीं हो सकते। अब आज दिन भारतवर्षके संगीतकी चाहे कैसी ही हीन दशा हो गई हो, विचारवान् पण्डित यह मुक्तकण्ठ होकर कहेंगे कि, भारतवर्ष ही संगीत-शास्त्रका आदिगुरु है, भारतवर्षीय संगीत ही किसी समय पूर्णताको प्राप्त हुआ था और भारतवर्षके आर्योंका संगीत ही जीवोंको भगवद्भजनमें पूर्णरूपसे सहायता कर सकता है।

सङ्गीतविद्याके दो अङ्गोंका वर्णन करके अब तृतीयांगरूपी नृत्यकलाका कुछ वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुषके संयोगसे सन्तानकी उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार गीत वाद्यके संयोगसे नृत्यकलाकी उत्पत्ति होती है, यथा संगीतदर्पणमें—

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्यं नादाधीनमतस्त्रयम्॥

नृत्यके लक्षणके विषयमें संगीतदामोदरमें लिखा है—

देशरुच्या प्रतीतोऽथ तालमानरसाश्रयः।
सविलासोऽङ्गविक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः॥

जिस देशमें जिस प्रकार रुचि है, तदनुसार ताल मानरसाश्रित विलासयुक्त अङ्ग-विक्षेपका नाम नृत्य है। और भी—

गेयादुत्तिष्ठते वाद्यं वाद्यादुत्तिष्ठते लयः।
लयतालसमारब्धं ततो नृत्यं प्रवर्त्तते॥

गानसे वाद्य और वाद्यसे लयका उदय होता है। तदनन्तर लयतालयुक्त नृत्य-कलाका विकाश होता है। और भी—

अङ्गविक्षेपवैचित्र्यं जनचित्तानुरञ्जनम्।
नटेन दर्शितं यत्र नर्त्तनं कथ्यते तदा॥ (नर्त्तन-निर्णय)

दर्शकोंके मनोरञ्जनकारी विशेष विशेष अंगविक्षेप जैसा कि, नट लोग करते हैं उसको नृत्य कहते हैं। मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है—

नृत्येनालमरूपेण सिद्धिर्नास्त्यस्य रूपतः।
चार्वधिष्ठानवन्नृत्यं नृत्यमन्यद् विड़म्बना ॥

रूपहीन नृत्य किसी कामका नहीं है। सुन्दररूपसे युक्त स्त्री-पुरुषोंका नृत्य ही यथार्थमें नृत्य कहलाने योग्य है। शास्त्रमें देवताओंके सम्मुख नृत्यकी बड़ी महिमा बताई गई है। यथा बराहपुराणमें—

नृत्यमानस्य वक्ष्यामि तच्छृणुष्व वसुन्धरे।
मनुजा येन गच्छन्ति छित्वा संसारसागरम्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्वर्षशतानि च।
पुष्करद्वीपमासाद्य मोदते वै यदृच्छया ॥

देवताओंके सामने भक्तिभावसे नृत्यकरनेवाले पुरुषोंको सहस्रों वर्ष सुखमय लोकमें निवास होता है। और भी द्वारकामाहात्म्यमें—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुसुभक्तितः।
स निर्दहति पापानि जन्मान्तरशतैरपि ॥

जो सानन्दचित्तसे अतिशय भक्तिभावके साथ नाच करता है उसको शतजन्मके पापसे मुक्तिलाभ होता है। और भी हरिभक्तिविलासमें—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम्।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः ॥

ताली बजाते हुए विष्णु भगवान्के आगे जो लोग नृत्य करते हैं उनके देहस्थित सब पाप भाग जाते हैं। इस तरहसे आर्य्यशास्त्रमें नृत्यकलाके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं।

हृदय तथा भावके उल्लाससे नृत्य होना जीवोंका स्वभावसिद्ध धर्म है। इसलिये प्राचीन तथा आधुनिक सभी समय नृत्यकलाका प्रचलन देखनेमें आता है। भगवान् पिनाकीका मधुर ताण्डवनृत्य, देवर्षि नारदका भुवनमोहन नृत्य, स्वर्गमें अप्सराओंका नृत्य आर्यशास्त्रमें प्रसिद्ध है। पुराणमें लिखा है कि, महर्षि भरत नाट्यशास्त्रके प्रणेता हैं। उन्होंने ही स्वर्गमें अप्सराओंको नृत्य सिखाया था। प्रेमके अवतार चैतन्यदेवने हरिनामकीर्त्तन तथा मधुर नृत्यके द्वारा समग्र वङ्गदेशको आप्लुत किया था। श्रीभगवान्

नन्दनन्दनने विषधर सर्पके सिरपर भी नृत्य किया था। अन्यान्य संगीतविद्याकी तरह नृत्यकलाका भी प्रचार इसी देशसे पश्चिम देश तक हुआ था। इस देशके भक्तोंकी तरह ग्रीसदेशके भक्तगण भी उत्सवोंके समय नृत्य तथा गीत गाते हुए देवमन्दिरोंकी प्रदक्षिणा करते थे। युहूदी इसराइल आदियोंमें भी नृत्यकलाका प्रचार था। हूमर, अरिस्ततल, पिण्डार आदि ग्रीसदेशके प्रसिद्ध पण्डितगण अपने अपने ग्रन्थोंमें नृत्यकलाका विशेष कुछ उल्लेख कर गये हैं। स्पार्टनगण युद्धके समय नृत्य करनेके लिये इस विद्याकी शिक्षा बाल्यकालसे करते थे। इनके नृत्यका नाम पायरिक नृत्य है। आधुनिक यूरोपीय स्त्री-पुरुषोंमें पोल्का काड्रिल आदि नृत्य प्रसिद्ध है।

इस देशमें नृत्यकलाके दो भेद बताये गये हैं—यथा ताण्डव और लास्य। संगीतनारायणमें लिखा है :—

स्त्रीनृत्यं लास्यमाख्यातम्
पुंनृत्यं ताण्डवं स्मृतम्।

पुरुषके नृत्यका नाम ताण्डव और स्त्रीके नृत्यका नाम लास्य है। तण्डी नामक मुनिने इसका आविष्कार किया था इसलिये इसका ताण्डव नाम है। ताण्डव और लास्य दोनों नृत्य पुनः दो प्रकारके होते हैं। यथा सङ्गीत दामोदरमें—

पेलवीबहुरूपश्च ताण्डवं द्विविधं स्मृतम्।
छुरितं यौवतं चेति लास्यं द्विविधमुच्यते॥

पेलवी और बहुरूप ये दो ताण्डव नृत्यके भेद हैं तथा छुरित और यौवत ये लास्यनृत्यके भेद हैं। अभिनयशून्य अङ्गविक्षेपको पेलवी और छेद भेद आदि बहुविध अभिनयके साथ अङ्गविक्षेपको बहुरूप कहते हैं। इसीप्रकार स्त्री-नृत्य लास्यमें भी भावरसादिव्यञ्जक अभिनयके साथ नायकसे मिलते हुए नायिका-नृत्यका नाम छुरित और केवल नर्तकीका लीलाविलासके सहित जो नृत्य है उसे यौवत कहते हैं। नर्तननिर्णयग्रंथोंमें इन नृत्योंके विषम, विकट, लघु, ये तीन भेद किये गये हैं। शस्त्रोंके ऊपर, सूक्ष्मरज्जुके ऊपर घूमकर नाचनेका नाम विषम-नृत्य है। विकट वेष भूषा पहन कर विकटरूपसे नाचनेको विकट नृत्य कहते हैं। थोड़े वस्त्र आदि उपकरणके साथ उत्प्लुत आदि गतिसे नाचनेका नाम लघु नृत्य है। नृत्यक्रियामें मस्तक, चक्षु, भ्रू, मुख, बाहू, हस्तक, चालक, तलहस्त, हस्तप्रचार, करकर्म, क्षेत्र, कटि, अङ्घ्रि, स्थानक, चारी, कर्ण, रेचक इत्यादि अनेक शारीरिक व्यापार होते हैं। नर्तक लक्षण, रेखा लक्षण, नृत्यांग, सौष्ठव, आदि जानने योग्य अनेक विषय भी होते हैं।

नृत्य और अभिनयमें नर्तननिर्णयके सिद्धान्तानुसार मस्तक, दृष्टि और भ्रूके चलानेके अनेकप्रकारके भेद हैं। उनमेंसे केवल मस्तक चलानेके बत्तीस भेद बतलाये गये हैं। दोषरहित रसभावव्यञ्जक अवलोकनका नाम दृष्टि है। दृष्टि तीन प्रकारके है यथा—रसदृष्टि, स्थायी और सञ्चारी दृष्टि। शृंगार, वीर, करुणा आदि समस्त रस दृष्टिके द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इनमेंसे रस-दृष्टि आठ प्रकारकी, स्थायिदृष्टि आठ प्रकारकी और सञ्चारिदृष्टि २० प्रकारकी होती है। भ्रूविकार सात प्रकारके होते हैं यथा—सहजा, उत्क्षिप्ता, कुञ्चिता, रेचिता, पतिता, चतुरा और भ्रुकुटी। भीतरके भाव जिससे मुखके द्वारा प्रकट हो ऐसे मुख बनानेको मुखराग कहते हैं, यह चार प्रकारके हैं। नृत्यके समय तरह तरहके हस्तसञ्चालनको बाहू कहते हैं। ये आठ प्रकारके हैं यथा—ऊद्धर्व, अधोमुख, तीर्यक, अपोविद्ध, प्रसारित, अचिन्त्य, मण्डल गति, स्वस्तिक, वेष्टित, आवेष्टित, पृष्ठानुग, अविद्ध, कुञ्चित, सरल, नम्र, आन्दोलित और उत्सारित। नृत्यके समय अनुरागजनक तथा अर्थप्रकाशक हस्तांगुलिके विन्यासको हस्तक कहते हैं। इसके तीन भेद हैं यथा—संयुत, असंयुत और नृत्यहस्त। संयुत हस्तके ३८ भेद और असंयुत तथा नृत्यहस्तके पताक, हंसपक्ष, गोमुख, चतुर, निकुञ्चक, पञ्चास्य, अर्द्धचन्द्रक आदि ३२ भेद होते हैं। वन्शी या और किसी लययन्त्रके साथ हस्तरेचनका नाम चालक है। नृत्यकलामें इसके अनेक भेद होते हैं। उत्कर्षण, आकर्षण, विकर्षण, परिग्रह, निग्रह, रक्षण, मोक्षक, तर्जन, भेदन, छेदन, स्फोटन, ताडन आदि करकर्मके भेद हैं। हस्तविन्यासके प्रधान स्थानोंको हस्तकक्षेत्र कहते हैं। पार्श्वद्वय, सम्मुख, पश्चात्, ऊदूर्ध्व, अधः, मस्तक, ललाट, कर्ण, स्कन्ध, नाभि, कटि, शीर्ष और उरुद्वय ये तेरह हस्तकक्षेत्र हैं। निर्दोष नृत्यके योग्य कृशकटि ६ प्रकारके होते हैं यथा—कृशा, समाच्छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता। संगीतशास्त्रमें इनके लक्षण द्रष्टव्य हैं। अंघ्रि या चरणके लक्षण १३ प्रकारके हैं यथा—शमन, अञ्चित, कुञ्चित, सूच्यग्र, तलसंचर, उघट्टित, घट्टित, उत्सेधक, वहित, मर्दित, पार्ष्णिग, अग्रग और पार्श्वग। अंगके साथ अनुरागजनक अंगसन्निवेशका नाम स्थानक है। स्थानक असंख्य प्रकारके होते हैं, उनमेंसे समवात, स्वस्तिक, संहत, उत्कट, अर्द्धचन्द्र, मान, मण्डल, चतुरस्र, ब्राह्म, वैष्णव, शैव, आलीढ़ प्रत्यालीढ़, समसूची, विषमसूची, कूर्मासन, नागबन्ध आदि २८ प्रकारके स्थानक मुख्य होते हैं। पाद, जंघा, कटि आद स्थानोंको आयत्त करके उनके द्वारा विचरण करनेका नाम चारि है। भूमि आकाशकी दो प्रकारकी चारि होती है। भूममें विचरणका नाम भौमि और शून्यमें

विचरणका नाम आकाशिकाचारि है। अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, मृगप्लुता आदि ये तीस प्रकार आकाशचारि और समपादा, स्थितावर्ता, एनका, मतन्दी, उड्डिता, बद्धा, रथचक्रा, मराला, परिहस्ता, कातरा आदि ५१ प्रकार भूमिचारि होते हैं। नृत्यके समय हस्त-हस्तमें, पद-पदमें या हस्तपदमें संयोगका नाम करण है। करण अनेक प्रकारके हैं, किन्तु उनमेंसे १६ नृत्यके उपयोगी हैं, यथा—लीन, समनख, गंगावतरण, वैशाख, पुष्पपुट, दण्डपक्ष, तलविलासित, चन्द्रावर्तक, ललाटतिलक इत्यादि।

ऊपर लिखित विन्यासोंके संयोग वियोग द्वारा और भी अनेक प्रकारके नृत्य प्रकट किये जाते हैं। नियमके अधीन बन्धनृत्य और नियमरहितताललयसंयुक्त अनिबन्धनृत्यके इस प्रकारसे कमलवर्तनिका, मकरवर्त्तनिका, मायूरी, मानवी, मैनी, मृगी, हंसी, कुक्कुटी, रञ्जनी, गजगामिनी, नेरी, चक्रबन्ध, नागबन्ध, वृत्तलतिका, पद्मबन्ध, रविचक्र आदि अनेक श्रेणीके नृत्य होते हैं। इन सब नृत्योंका प्रचलन आजकल प्रायः देखनेमें नहीं आता है। खेमटा, वाईनाच आदि आजकल प्रचलित नृत्य हैं। नर्तननिर्णयके सिवाय नृत्यप्रयोग, नृत्यविलास, नृत्यसर्वस्व, नृत्यशास्त्र, नृत्याध्याय आदि ग्रन्थोंमें नृत्यकलाके विषयमें और भी वर्णन विशेष द्रष्टव्य है।

इस प्रकारसे संगीतविद्याके त्रिविध अंगरूपी गीतवाद्य और नित्यकलाके गम्भीर रहस्यपर विचार करनेसे ऋषिप्रणीत गन्धर्वविद्याकी भुक्तिमुक्तिमयी परम महिमा भावुकजनोंको अनायास ही हृदयङ्गम हो सकती है।

अष्टम काण्डकी चतुर्थशाखा समाप्त हुई।

भाषा-विज्ञान ।

—ॐ:ॐ—

मनोभाव प्रकाशित करनेकेलिये प्रयुक्त ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक समस्त साधनोंका साधारण नाम 'भाषा' है। भाषा चिन्ताका स्थूल, बहिःप्रकाश है। चित्र-लेख, लेखन तथा इङ्गित, अङ्ग भङ्गी आदिके द्वारा भी मनोभाव व्यक्त किये जा सकते हैं। किन्तु मनोभावके पूर्ण तथा सुस्पष्ट प्रकाशनार्थ भाषामें ही सबसे अधिक सौकर्य है, इसमें सन्देह नहीं। 'सर्वभूतरुतज्ञानम्' इस सूत्रके द्वारा महर्षि पतञ्जलिने पशु-पक्षियोंकी भी भाषा होती है यह प्रमाणित किया है। किन्तु भाषाकी पूर्णता मनुष्यका एक विशेष अधिकार है। और इसी विशेष अधिकारके कारण ही मनुष्य सामाजिक जीव कहलाता है। मनुष्येतर जीवोंमें यह सामाजिकता नहीं है।

अन्यान्य विज्ञानोंकी तरह भाषाविज्ञान भी बड़े महत्त्वकी वस्तु है। भाषा हृदयकाननमें कल्पतरु है और कल्पतरुका सुमधुर फल भी है। भाषा हृदय पारि-जातकी सुमधुर गन्ध है, मनोगङ्गाका मधुरनिनादमय तरङ्गभङ्ग है, हृदय वीणाका श्रवण सुखमय झंकार है। अनन्तविश्वके अनन्तविचारोंकी साकार मनोमोहिनी मूर्ति भाषा ही है। व्यक्त, अव्यक्त, ध्वनिवर्ण कितने ही भेदसे भाषाने ही युगयुगान्तरोंके भिन्न भिन्न भावोंको सूत्रमें मणियोंकी तरह संग्रथित कर रक्खा है। भक्तोंका भक्ति उच्छ्वास, ज्ञानियोंका ज्ञानप्रवाह, कर्मका गहनतत्त्व, भावुक जनोंका भावतरङ्ग, सुकविके चित्तकानन-में सदा प्रफुल्लित कल्पनाकुसुमनिचय, अतीतके अतलसमुद्रमें विराजमान चिन्ता-रत्नराजि, गवेषणापरायण मनीषियोंके गूढ़रहस्यमय तत्त्वविवेक, विज्ञानवेत्ताओंके अपूर्व आविष्कारोंका अपूर्व चमत्कार-इन सबको सभीके लिये सकल कालमें उपस्थित रखना और योग्य अधिकारियोंकी सेवामें अर्पण करके शरीर-मन-प्राण-बुद्धि-आत्मा सभीका उन्नति सम्पादन कराना यह भाषा देवीकी ही परमकृपाका फल है। यह भाषाकी ही अलौकिक कृपा है कि, आज हम व्यास-कपिल-गौतम-पतञ्जलि आदि त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी चिन्तनशक्तिका सहारा लेकर सप्त अज्ञान तथा सप्तज्ञान भूमिका पता लगा सकते हैं और परमात्माके चरणकमल तक पहुँचनेकेलिये पर्याप्त ज्ञानसंग्रह कर सकते हैं। यह भाषाकी ही अपूर्व कृपा है कि अष्टादश स्मृतियोंमें वर्णित अनुशासनशृंखलाका सामञ्जस्य जानकर हम हिन्दुसमाजको उन्नतिके पथपर अग्रसर कर सकते हैं। यह

भाषाकी ही अनुपम कृपा है कि, हम आदि कवि वाल्मीकिके कवितोद्यानमें पहुँचकर कल्पतरुकी सुशीतल छायामें विश्रान्तिलाभ और मन्दार पारिजात हरिचन्दनका सुगन्ध आघ्राण कर मनप्राण परितृप्त कर सकते हैं। यह भाषाकी ही अपार कृपा है कि हम अगाध पाण्डित्यपूर्ण महामुनि वेदव्यासके ज्ञानसमुद्रमें गोता लगाकर धर्म-अर्थकाम-मोक्षरूपी चारों वर्गोंके तत्त्वनिरूपणमें सामर्थ्य लाभ करते हैं। भाषाके इसप्रकार महनीय महत्त्वके कारण ही कीट पतङ्ग पशुपक्षीसे लेकर मानव-दानव-देवपर्यन्त सभी योनियोंके प्राणिगण व्यक्त-अव्यक्त, लिखित-कथित, ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक विविध भाषाओंके द्वारा विविध मनोभावोंके प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं। रिङ्गत्तरङ्गमयी जाह्नवीके लहरीलीलाविलासमें भी भाषा है, मधुर मधुमासमें मनोन्मादकारी कोकिलकी काकलीमें भी भाषा है, गुनगुनस्वरसे प्रियतमके गुण गानेवाले भ्रमरके गुञ्जारमें भी भाषा है, विश्वकुलकामिनी यामिनीकी निशिथशान्तिमयी योगिजनदुर्लभ दिव्यध्वनिके भीतर भी भाषा है, अनन्तगगनविहारी कोटि कोटि ग्रहताराओंके निज निज आवर्त्तमें आवर्त्तन करते समय उत्पन्न विचित्र नादोंके भीतर भी भाषा है, श्रीभगवान् नन्दनन्दनकी उन्मादिनी वंशध्वनिके भीतर भी भाषा है और शुकयाज्ञवल्क्यादि महात्मा जनोंके पवित्र मुखनिःसृत अतीतकालीन उपदेशामृतको वर्त्तमान जीवजगत्की परमा शान्तिकेलिये सिञ्चन करनेवाली भी भाषा ही है। भाषाकी एतादृश महिमाके कारण ही प्रकृत प्रबन्धमें भाषाविज्ञानपर विचार किया जायगा।

ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक भाषाका प्रथम विकाश कब और कैसे हुआ, इस जटिल प्रश्नके समाधानकेलिये पाश्चात्य तथा एतद्देशीय भाषातत्त्वानुसन्धित्सु पण्डितोंने बहुत कुछ चिन्ता की है। किन्तु "व्यष्टिरूपसे मनोभाव प्रकाशनार्थ जीव-यन्त्रकी सहायतासे स्वतः ध्वनि उत्पन्न हुई और वे ही सब ध्वनियाँ मनुष्यजातिकी सामाजिक सभ्यताकी उन्नतिके साथ साथ लिखित अक्षर तथा लिखित भाषारूपमें परिणत कर दी गईं"—इस श्रेणीके सिद्धान्तके सिवाय किसी गवेषणाशील विद्वान्के मस्तिष्कसे अब तक कोई उच्चकोटिका सिद्धान्त नहीं प्रकट हो सका है। भाषाजगत् तथा भाव-जगत् पर समष्टिरूपसे संयम करने पर सूक्ष्मदर्शी जनोंको यही पता लगेगा कि, नाम-रूपात्मक सृष्टिके मूलमें आदिकारण परमात्माका ही सिसृक्षारूपी मनोभाव है और इसी मनोभावके परिणामरूपसे समस्त भाषा तथा समस्त सृष्टिका प्राकट्य हुआ है। 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा ऋग्वेदमें बताया गया है कि, प्रलयकालमें नामरूपात्मक समस्त विश्व परमात्मामें ही लीन रहता है। तदनन्तर सृष्टिके समय प्रलयविलीन जीवोंके कर्मानुसार परमात्मामें स्वतः ही 'एकोऽहं बहु स्यां

प्रजायेय' मैं एकसे बहुत हो जाऊँ, सृष्टि करूँ, इसप्रकार मनोभावका विकाश होता है। और इस मनोभावके विकाशके साथ ही साथ रूपमयी सृष्टि तथा आदिनाम 'ॐ' और आदिभाषा वेदका प्राकट्य हो जाता है। यही आदिनाद, परमात्माके वाक्यरूपी प्रणव ही समस्त शब्द, समस्त राग तथा समस्त ध्वन्यात्मक भाषाओंका मूल है और यही आदि भगवद्वाणी वेद ही समस्त व्यक्त भाषा, समस्त कथितभाषा तथा समस्त वर्णात्मक भाषाओंका मूल है। इसी अलौकिक अपौरुषेय वेदवाणीकी सहायतासे ही परवर्त्ती वैयाकरणोंने संस्कृत भाषाकी सृष्टि की है और इसी संस्कृतके कालानुसार परिणाम द्वारा प्राकृत, पाली, मागधी, हिन्दी, बङ्गला आदि सभी भाषायें बन गई हैं। मनुष्यके समस्त मनोभाव सरलता और रमणीयताके तारतम्यानुसार जिसप्रकार गद्य, पद्य तथा गानरूपसे प्रकट हुआ करते हैं, इसी आदिभावके विकाशरूप आदिवाणी वेदमें भी गद्यरूपसे यजुर्वेदके मन्त्र, पद्यरूपसे ऋग्वेदके मन्त्र और गानरूपसे सामवेदके मन्त्र प्रकट हुए हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने तपस्याके बलसे प्रथमतः इन मन्त्रोंको दिव्यनेत्रसे देखा है और तदनन्तर अपने अपने शिष्योंको सुनाया है। इसीकारण वेदका नाम श्रुति है। इन शिष्योंके नामसे ही आश्वलायन, सांख्यायन आदि सहस्रों शाखाओंमें वेद विभक्त हो गया है। इन विषयोंका विशेष विस्तार वेदके अध्यायमें पहिले ही कर दिया गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

भाषाकी उत्पत्तिके विषयमें विचार करके अब अक्षरकी उत्पत्तिके विषयमें विचार किया जाता है। आधुनिक विज्ञानशास्त्रके द्वारा भी इस रहस्यका पता लग चुका है कि, भिन्न भिन्न मनोभावके भिन्न भिन्न आकार तथा रङ्ग होते हैं। कामभावका रङ्ग एक प्रकारका है, क्रोधभावका रङ्ग दूसरे ही प्रकारका है, लोभादिके रङ्ग और ही प्रकारके होते हैं। यथा—घृणा, द्वेष, प्रतिहिंसाभावका रङ्ग काला है, स्वार्थपरता, भय तथा विमर्षभावका खाखी रंग है, काम तथा क्रोधका रंग लाल है, शुद्धप्रेमका गुलाबी रङ्ग है, लोभका फीका रङ्ग है, अहंकार तथा उच्चाभिलाषकी नारङ्गी रङ्ग है, धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावका ज्योतिर्मय नीला रङ्ग है इत्यादि। इसीप्रकार भावभेदानुसार आकारका भी तारतम्य होता है। अतः यह निश्चय है कि परमात्माके मनोभावप्रसूत अपौरुषेय भाषा वेदके मन्त्रोंको जिस प्रकार मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपने अन्तःकरणमें अनुभव किया था, ऐसा ही वेदमन्त्रोंके अक्षरोंको भी दिव्यनेत्रके द्वारा देखा था। वे अक्षर सूक्ष्म आकाश (जिसको आजकल etheric plane कहते हैं) में प्रकाशित होते हैं और तपस्याद्वारा प्राप्त दिव्यनेत्रसे देखे जाते हैं। इसप्रकारसे प्राकृतिक देवनागरी अक्षरोंकी उत्पत्ति स्वाभाविकरूपसे हुई है। मन्त्राक्षरोंकी उत्पत्तिके

विषयमें मन्त्रयोग नामक प्रबन्धमें पहिले ही कहा गया है कि, परमात्मामें सिसृक्षाभावके उदय होते ही प्रकृतिके तीन गुणोंमें कम्पन (vibration) होने लगते हैं जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द (Sound) भी होना यह विज्ञानसिद्ध सत्य है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम कम्पनका शब्द आदिनाद 'ॐ' है। द्वितीयबार कम्पनमें आठ शब्द होते हैं जो प्रधान अष्टबीजमन्त्र कहाते हैं। तदनन्तर उत्तरोत्तर कम्पनोंके द्वारा अनेक दिव्यशब्द अर्थात् मन्त्रोंकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकृतिके कम्पनका जो शब्द है, उस प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवताका वही मन्त्र होगा, ऐसा मन्त्रशास्त्रकारोंने निश्चय किया है। इसप्रकारसे प्रथम मन्त्र प्रणवसे लेकर प्राकृतिक स्पन्दन द्वारा समस्त दिव्यमन्त्रोंकी उत्पत्ति होती है, जिनके जप तथा अर्थभावना द्वारा 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस पातञ्जलसूत्रानुसार जापकको विविधसिद्धि प्राप्ति तथा इष्टदेवदर्शन होते हैं। जब कम्पनके परिणामसे शब्द उत्पन्न होता है तो जिस प्रकारका कम्पन होगा उसका दाग (impression) भी ऐसा ही पड़ेगा यह निश्चय है। आजकलके ग्रामोफोन आदि यन्त्रोंमें ऐसे ही दाग संग्रह किये जाते हैं, जिनपर सूई घूमानेसे पुनः ऐसे ही शब्द गानरूपसे निकलते हैं। अतः शब्दका आकार बनना आधुनिक विज्ञानसिद्ध सत्य है। इसी सत्यसिद्धान्तके अनुसार प्राकृतिक कम्पनसे उत्पन्न मन्त्राक्षरोंके भी आकार सूक्ष्म आकाश (etheric plane) में प्रकाशित होते हैं, जिन्हें सूक्ष्मदर्शी महर्षिगण या सिद्धपुरुषगण दिव्यनेत्रसे देखते हैं। इसी प्रकारसे सृष्टिके प्राक्कालमें आर्यजातिके पूर्ण मानवोंने भाषा तथा लिपिका ज्ञान प्राप्त करके परवर्त्ती कालके लिये अनन्तज्ञान भण्डार तथा शब्दभण्डारका सञ्चय कर दिया था—यही भाषा तथा अक्षरोत्पत्तिके विषयमें आर्यशास्त्रका अलौकिक सिद्धान्त है। सृष्टिकी प्रथमदशामें पूर्णमानव ही उत्पन्न होते हैं इसका विस्तृत वर्णन 'आर्यजाति' नामक प्रबन्धमें पहिले ही किया गया है।

अलौकिक तपस्याके फलसे वैदिक भाषा तथा देवनागरी लिपिको प्राप्त कर लेने पर भी ऋषिकालके बहुत वर्षोंतक सौकर्यके अभावसे लेखन-प्रणालीका प्रचार नहीं था। इसलिये वेदके मन्त्र आदि महर्षिगण अपने शिष्य प्रशिष्योंको सुना दिया करते थे और वे सब शिष्यप्रशिष्य-मण्डली उन्हें कण्ठस्थ कर लिया करती थी। इसीकारण वैदिक मन्त्रोंको कण्ठाप्त श्रुति भी कहते हैं। इस प्रकारसे वर्षों कट जानेके अनन्तर सृष्टिकी निम्नगतिके अनुसार केवल वैदिक भाषा तथा मौखिक श्रुतिविद्याके द्वारा काम न चल सका, तब देश-काल पात्रकी आवश्यकताको जानकर वैयाकरण महर्षियोंने वैदिक भाषाके अवलम्बनसे वर्त्तमान शुद्ध नियमबद्ध संस्कृतभाषाकी सृष्टि की, जो आजतक किसी न किसी रूपसे चली आती है। दार्शनिक ग्रन्थ आदि इसी संस्कृतभाषामें बनने लगे

और देवनागरी लिपिमें भूर्जपत्र, वृक्षत्वक आदिमें लिखे भी जाने लगे । तदन्तर आधिभौतिक सायन्सकी उन्नतिके साथ साथ क्रमशः लिखनेके कितने ही साधन बन गये हैं, जो आजकल समस्त पृथिवीके भीतर विविध चारुचमत्कार कलारूपमें सुशोभित हैं । इसी प्रकार संस्कृतभाषाने भी जीवप्रवाहकी निम्नगतिके अनुसार अपने रूपमें बहुत कुछ परिवर्त्तन देखा है । वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड; सर्ग ३०, श्लोक १७-१६ में महावीरकी चिन्ता इस प्रकारसे वर्णित है—यथा—

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः ।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ॥

मैं लघु शरीर तथा वानर हूँ । किन्तु यहाँ मनुष्योंकी भाषा संस्कृत बोलूँगा । यदि द्विजातिकी तरह शुद्ध संस्कृत बोलूँ तो सीता मुझे रावण समझ भीता हो जायगी । इस कारण साधारण मनुष्यकी तरह अर्थयुक्त साधारण संस्कृत कहूँगा । इन श्लोकोंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि त्रेतायुगमें में भी सबके सब शुद्ध संस्कृत नहीं बोलते थे । स्त्री, शूद्र, बालकादिकी भाषा संस्कृत मिली हुई कुछ और ही प्रकारकी थी । इसप्रकारसे शुद्ध संस्कृतके भीतर अशुद्ध शब्दोंके प्रवेश होते होते नवीन भाषा पालीकी सृष्टि हुई । जिसमें बौद्धधर्मके ललितविस्तार, काण्डव्यूह आदि कितने ही मूल्यवान् ग्रन्थ लिखे हुए हैं । लङ्का, श्याम, ब्रह्मदेशमें यही भाषा बोली जाती है । राजा अशोकके समय इस भाषाकी बड़ी उन्नति हुई थी । अब भी उस समयके बहुत शिलालेख इसी भाषाके मिलते हैं । इसके बाद प्राकृत भाषा चली । जब साधारण प्रजाकी शक्ति शुद्ध संस्कृत बोलनेकी न रही तो संस्कृतभाषाकी मर्यादारक्षा तथा साधारण प्रजाकी सुविधाके लिये, पण्डितोंने प्राकृतभाषा बना दी । इसका सबसे पुराना व्याकरण वररुचिका बनाया हुआ है । इस भाषामें संस्कृतके विकृत शब्द पालीकी अपेक्षा कहीं अधिक हैं । शकुन्तला आदि नाटकोंमें स्त्रियोंके तथा सेवकोंके मुखसे प्रायः यही भाषा कहलायी गई है । इस तरह प्राकृत भाषाके चलते चलते उसमेंसे तीन शाखाएँ निकली यथा—मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री । मागधी विहारकी भाषा, शौरसेनी मथुरा प्रान्तकी भाषा और महाराष्ट्री महाराष्ट्र प्रान्तकी भाषा थी । मागधी और शौरसेनीके मेलसे अर्द्ध-मागधी नामकी और भी एक भाषा बनी थी जिसमें जैनधर्मके कुछ ग्रन्थ लिखे गये थे । इस प्रकारसे विक्रम संवत्के आठ नौ सौ वर्ष तक प्राकृत-

भाषाका प्रचार रहा। तदनन्तर उसमें और भी परिवर्त्तन हो जानेसे 'अपभ्रंश' नामकी एक नवीन भाषा उत्पन्न हो गई। वैयाकरण हेमचन्द्र सूरिने अपने ग्रन्थमें इस भाषाका वर्णन किया है। यह भाषा बहुत वर्षतक भारतके अनेक प्रदेशोंमें चलती रही। इस बीचमें भारतमें राज्यविप्लव तथा विदेशी राजाका अधिकार हो जानेसे 'अपभ्रंश' भाषाने भी भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें भिन्न भिन्न रूप धारण किया। तदनुसार शौरसेनीका अपभ्रंश 'नागर' नामका हुआ। ब्रजभाषा शौरसेनी प्राकृतकाही रूपान्तर है। हिन्दी-भाषा नागर अपभ्रंश तथा अर्द्धमागधीका अपभ्रंश इन दोनोंके मेलसे बनी है। नागर अपभ्रंशसे पश्चिमी हिन्दी तथा पञ्जाबी भाषाका जन्म हुआ है और अर्द्धमागधीके अपभ्रंशसे पूर्वी हिन्दीका जन्म हुआ है जो अवध, बुन्देलखण्ड तथा छत्तीसगढ़में बोली जाती है। अपभ्रंश भाषासे पुरानी हिन्दी, ब्रजभाषा और गुजराती भाषाका बहुत अधिक सम्बन्ध है। पश्चिमी हिन्दीसे राजस्थानी तथा गुजराती और मारवाड़की भी भाषा निकली है। अर्द्धमागधी या ठेठ हिन्दी भाषासे बंगला भाषा निकली है। इस भाषाके आदिकवि चण्डीदास, विद्यापति आदिके ग्रन्थ देखनेसे यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। वङ्गदेशीय गद्यपद्यलेखक विद्वानोंके प्रयत्नसे थोड़े ही दिनोंमें इस भाषामें बहुत कुछ उन्नति प्राप्त कर ली है।

हिन्दीभाषा प्रधानतः तीन प्रकारके शब्द से बनी है यथा—तत्सम, तद्भव और देशज। संस्कृतसे सीधे आये हुए शब्द 'तत्सम' कहलाते हैं, यथा—बल, वन, मन, धन, जन, नदी, समुद्र, कवि, क्रोध, मनुष्य इत्यादि। जिनके मूलमें संस्कृत है, किन्तु वे अपभ्रंश अर्थात् बिगड़े हुए रूपमें प्रचलित हैं उन्हें 'तद्भव' कहते हैं, यथा—आग, कान, रात, सिर, दूध इत्यादि। जिन शब्दोंके मूलमें संस्कृत नहीं है, जो पदार्थके रूप या ध्वनिके स्वरूपके अनुसार बना लिये जाते हैं, उनको 'देशज' शब्द कहते हैं, यथा—पगड़ी, रोड़ा, धूमधाम, कढ़ाई, टीला, खिड़की, खड़खड़ाहट, बड़बड़ाना, धड़ाम, ऊट-पटाङ्ग इत्यादि। संस्कृतभाषा-हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, पञ्जाबी, सिन्धी आदि भाषाओंकी जननी है। बंगला, उड़िया और मराठीमें तत्सम शब्द बहुत अधिक हैं। हिन्दी और गुजरातीमें उससे कुछ कम है और पञ्जाबी, सिन्धीमें बहुत कम है। सिन्ध और पञ्जाबमें विधर्मियोंका बार बार आक्रमण होनेसे ही ऐसा हुआ है। ब्रजभाषामें भी तत्समकी अपेक्षा तद्भव शब्द ही अधिक हैं। तत्सम, तद्भव, और देशजके अतिरिक्त हिन्दीभाषाके साथ अरबी, तुर्की, फारसी, पोर्त्तुगीज, अङ्गरेजी आदि अनेक विदेशीय शब्द भी मिल गये हैं और क्रमशः अधिकाधिक संख्यामें मिलते जाते हैं। यथा—अरबीके एतराज, औरत, अदालत, मुकदमा, तारीख, खबर, दुनियाँ

आदि शब्द, तुर्कीके तोप, लाश आदि शब्द, फारसीके आदमी, आबादी, दस्तावेज, गुलाब, दरिया आदि शब्द, पोर्त्तुगीजके पिस्तोल, पलटन, कप्तान, काफी, गोदाम आदि शब्द और अङ्गरेजीके टिकट, डाक्टर, टेबल, ग्लास, रेल, रसीद, पतलून, सेविंग बङ्क आदि शब्द, इस प्रकारसे हिन्दीका शब्दभण्डार दिनों दिन बढ़ रहा है। आजकल जो उर्दू भाषा बोली जाती है वह कोई अलग भाषा नहीं है, केवल हिन्दीके साथ अरबी, फारसीके मिश्रणसे उत्पन्न भाषा है। इस प्रकारसे सृष्टिप्रवाहकी क्रमनिम्नगतिके अनुसार शुद्ध वैदिक तथा शुद्ध संस्कृतभाषासे अनेक प्रादेशिक भाषा तथा अवान्तर लिखित या कथित भाषाओंकी उत्पत्ति हुई है।

समष्टिसृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डसृष्टिकी गति निम्नाभिमुखिनी है, तदनुसार युगादिका क्रम भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इस रूपसे है और युगोत्पन्न जीवोंकी प्रकृति अधिकार भी क्रमावनत है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। किन्तु व्यष्टिसृष्टि अर्थात् पिण्ड-सृष्टिकी गति नीचेसे ऊपरकी ओर या तमसे सत्त्वकी ओर है। इस गतिमें जीव उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुजादि क्रमसे मनुष्य होकर असभ्यतासे सभ्यताकी ओर आगे बढ़ता है और तदनुसार शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीके क्रमविकाशके साथ साथ साहित्य, शिल्प, विज्ञान, अध्यात्मतत्त्व सभीमें क्रमोन्नतिको प्राप्त करता रहता है। भाषा और लिपिकी उन्नति भी इसी क्रमसे होती है। पहिले ही कहा गया है, कि पशु-पक्षियोंकी भी भाषा है। प्राचीनकालमें इस भाषाके समझनेकी रीति मनुष्योंको मालूम थी, अब कालप्रभावसे उस विद्याको लोग भूल गये हैं। पातञ्जलयोगदर्शनके विभूति-पादमें पशुपक्षिओंकी भाषा समझनेके विषयमें सूत्र बताया गया है। उनकी भाषा उनके लिये व्यक्त होने पर भी कालप्रभावसे अब वह हमारे लिये अव्यक्त भाषा है। पशु-योनिके बाद असभ्य मनुष्य योनियोंकी भाषा पशुप्राय ही होती है। कुछ इङ्गित, कुछ ध्वनि, कुछ बोली इत्यादि रूपसे असभ्य जङ्गली लोग अपने हृद्गत भावोंको प्रकट करते हैं। आसाम, अफ्रिका आदिके जङ्गलोंमें अब भी ऐसी पशुप्राय जंगली जातियाँ बहुत मिलती हैं। तदनन्तर सभ्यताकी ओर धीरे धीरे अग्रसर होते होते भाषामें भी बहुत कुछ परिवर्त्तन होने लगता है। इस परिवर्त्तन तथा ध्वनिसे भाषाका विकाश कैसे होता है यही वर्त्तमान आलोच्य विषय है।

भाषाविज्ञानकी भित्ति प्रथमतः भारतवर्षमें ही महर्षियोंके द्वारा डाली गई थी। वैदिक युगके वैयाकरणोंने भाषातत्त्व निरूपणके विषयमें बहुत कुछ परिश्रम किया था। वैयाकरण शाकटायनने यह प्रमाणित कर दिखाया था कि जितने शब्द हैं, सभीकी उत्पत्ति धातुओंसे हुई है। गर्गाचार्यने इस मतका समर्थन नहीं किया, किन्तु यास्क-

मुनिने 'नाम आख्यात, उपसर्ग, निपातन' शब्दोंको इन चार श्रेणियोंमें विभक्त करके शाकटायनके मतका परिपोषण किया। प्रातिशाख्यमें ध्वनिविचार तथा सन्धि आदिका वैज्ञानिक विचार पाया जाता है। मीमांसा, न्याय तथा अलंकार शास्त्रोंमें शब्दशक्तिका विचार अतिनिपुणताके साथ किया गया है। महर्षि पतञ्जलिका महाभाष्य तो भाषाशास्त्रका विपुल भण्डार ही है। महर्षि पाणिनिने भी भाषाजगत्को रमणीय बनानेके लिये बहुत कुछ पुरुषार्थ किया है। इस प्रकारसे समस्त संसार भाषाविज्ञानके रहस्योद्घाटनके विषयमें महर्षियोंके निकट ऋणी है। भारतके बाद यूनान देशमें भाषाविज्ञानके विषयमें बहुत कुछ चर्चा हुई है। परम वैज्ञानिक प्लेटोसे पहिले अनृस्थिनिस, हीराक्लीटस, डिमोक्रीटस, तथा पिथोगोरसने इस विषयमें चिन्ता की थी। प्लेटोका सिद्धान्त यह है कि आत्मा अपने साथ भीतर भीतर जो बातचीत करती है वह चिन्ता है और वही चिन्ता जब ओठोंके भीतरसे शब्दोंके रूपमें निकलती है तब वह भाषा है इत्यादि। आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

बोलनेसे पहिले प्रथमतः आत्मा बुद्धिसे सलाह करके विषयका निर्णय करता है। निर्णय हो जानेपर उसकी प्रेरणा मनमें की जाती है, मन प्राणशक्तिको आघात करता है, प्राणशक्ति स्थूल वायुको चालित करती है। वायु प्रथमतः छातीमें घुमता है, तदनन्तर मनके भावानुसार कण्ठ, ओष्ठ, तालु, जिह्वामूल, दन्त आदि जिस रास्तेसे स्वरके निकलने पर भाव ठीक ठीक व्यक्त हो सकेगा, उसी पथसे वायुके वेगसे स्वर निर्गत होता है। यही महर्षियोंके द्वारा निर्णीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मासे स्थूलस्वरका सम्बन्धविज्ञान है। पश्चिमी पण्डित प्लेटोके समयमें शब्दोंके मूल निकालनेके अर्थ चेष्टाका प्रारम्भमात्र किया गया था। केवल ध्वनियोंकी समता देखकर ही विभिन्न शब्द एक ही मूलके कहे जाते थे। उद्देश, विधेय, कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य आदिकी कल्पना भी प्लेटोने की थी। तत्पश्चात् अरिस्टटलने इस श्रेणीविभागको आठ श्रेणियोंमें डाल दिया था। इसके बाद यूरोपके और भी कई एक विद्वानोंने भाषाविज्ञानके विषयमें नये नये आविष्कार किये थे जिनमेंसे हेनरी, टामस, कोलब्रूक, फ्रेड्रिक, श्लेगेल, वोन हम्बोलट, फ्राञ्जबौप आदिके नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। इन लोगोंने अपने विचारके लिये संस्कृतभाषासे भी बहुत कुछ सहायता ली थी। बौप साहबने तो संस्कृतके

धातुरूपोंकी यूनानी, लाटिन, जर्मनी तथा फारसी रूपोंसे तुलना की है और संस्कृत, यूनानी, लाटिन, जेन्द्र, लिथुआनीय, गौथिक और जर्मन भाषाओंका तुलनात्मक व्याकरण भी लिख डाला है। तत्पश्चात् नवीन युगके पश्चिमी पण्डितोंका आविष्कार है जिनमेंसे डेलब्रुक, स्टीन्थल, लेस्कीन, अगष्ट पौट, फ्रेडरिक, मैक्समूलर आदि मुख्य माने जाते हैं।

उच्चरित ध्वनिको भावप्रकाशके उपयोगी करनेकेलिये चिरन्तन चेष्टाका फल भाषा है। यह चेष्टा कैसे होती है और उसके फलसे भाषा कैसे उत्पन्न हो जाती है, यही वर्त्तमान आलोच्य विषय है। यह एक सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है कि अभावके उत्पन्न होनेपर उसकी पूर्त्तिकेलिये स्वतः प्रेरणा भीतरसे होती है। परमात्मामें कोई अभाव नहीं है, वह सर्वशक्तिमान् है, जीवमें परमात्माका अंश है, इस कारण जीव अभावकी ताड़नाको सह नहीं सकता है, उसकी प्रकृति स्वतः ही अभावके हेतुसे संग्राम करके अभाव दूर करनेके साधनका संग्रह कर लेती है। मनुष्य या मानव शब्द 'मन' धातुसे बना है। मन धातुका अर्थ है 'चिन्ता करना'। चिन्ताशील जीव मनुष्य ही है। पशुओंमें विशेष चिन्ता नहीं होती है, क्योंकि उनमें सुख-दुःख आदिके भाव ही थोड़े तथा क्षणिक होते हैं। वृत्तियोंका पुतला मनुष्य ही है और इसी कारण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चिन्ता, विकार, वासना आदि सभी कुछ विशेषरूपसे मनुष्यमें ही होता है। हृदयके भीतर वासनाका तरङ्ग या मानसिक वेग होनेसे वाग्यन्त्रोंके द्वारा उसकी स्फूर्त्ति होना स्वाभाविक ही है और इसी अयत्नसिद्ध स्वाभाविक क्रिया द्वारा आपसे-आप भाषाकी उत्पत्ति होती है। मानसिक वेगके फलसे स्वरयन्त्रसमूह क्रमशः सभी मानसिक भावोंके प्रकाशोपयोगी बन जाते हैं और धीरे-धीरे एक ऐसी सांकेतिक प्रणाली बन जाती है जिससे इच्छानुसार समस्त चिन्ताओंका प्रकाश हो सके, यही नियमबद्ध सांकेतिक प्रणाली भाषा है।

मानवजातिकी आदि भाषा इङ्गित, अङ्गभङ्गी, सांकेतिक ध्वनि तथा साधारण ध्वनिकी समष्टिमात्र है। इनमें कुछ स्वाभाविक और कुछ कृत्रिम है। सुखसे मुखका प्रफुल्लित तथा दुःखसे मुखका मलिन होना आदि स्वाभाविक अङ्गीभङ्गी है। सम्मति या असम्मति सूचित करनेके लिये सिर हिलाना या हाथ हिलाना कृत्रिम अङ्गभङ्गी है। क्रोधसे मुखलाल होना या प्रेमसे अश्रुवर्षण रोमाञ्चन होना स्वाभाविक इङ्गित या अङ्गभङ्गी है। इसी प्रेम, काम, क्रोध आदिके प्रकट करनेके लिये स्वाभाविक सांकेतिक ध्वनियाँ भी निकलती हैं। शिशु या असभ्य मानव प्रथमतः इन्हीं इङ्गितोंसे तथा सांकेतिक ध्वनियोंसे अपने मनोभाव व्यक्त करते हैं। और द्वितीय स्तरमें स्वाभाविक शब्दोंके

अनुकरणसे भाषाका उच्चारण होने लगता है। यथा—किसी गायने, किसी कुत्तेने या किसी बिल्लीने किसी शिशुको सताया, पिता-माताके सामने इस विषयको प्रकट करनेके लिये शिशु या तो अङ्गुलीके इङ्गितसे उस गायको, बिल्लीको या कुत्तेको दिखा देगा अथवा गायके 'हम्बा' शब्द, कुत्तेके 'भांओ-भांओं' शब्द या बिल्लीके 'मियाओ-मियाओ' को उच्चारणकर अपने मनोभावको प्रकट करेगा। इस प्रकारसे ध्वनिके अनुकरण द्वारा आदिमानवजगत्‌में भाषाकी उत्पत्ति होती है। भ्रमर गुन्-गुन् शब्द करता है जिससे भ्रमरका 'गुञ्जन' शब्द बना, कोयल 'कू-कू' करता है जिससे संस्कृतमें 'कोकिल' तथा अंग्रेजीमें 'ककू' शब्द बना। कौआ 'काओ-काओ' शब्द करता है जिससे कौआ शब्द बना। पानीके उछालसे 'छलति', मनुष्यके चलनेसे 'चलति', शब्दके वेगसे 'गर्जति' इत्यादि व्यवहारके अनुकरण पर कितने ही शब्द बन जाते हैं। इसप्रकारसे शरीरके इङ्गित तथा ध्वनिके इङ्गित आदिके क्रमपरिणामद्वारा भाषाकी उत्पत्ति होती है। मानसिक भावकी ह्रासवृद्धि, वेगका घटना-बढ़ना आदिके अनुसार स्वतः ही ध्वनिका तारतम्य होता है, ध्वनि दुहरायी जाती है, लम्बी ऊँची कर दी जाती है। इस तरहसे ध्वनियोंके संयोग वियोग द्वारा क्रमशः हर्ष, विषाद, क्लेश, भय, भूख, प्यास, स्वास्थ्य, इच्छा आदि सूचक बहुत भाषाके शब्द बन जाते हैं। पहिले ही कहा गया है कि मनुष्य सामाजिक जीव है। इस कारण एक मनुष्यके चित्तका तथा चिन्ताका प्रभाव दूसरे मनुष्यके चित्त और चिन्तापर अवश्य पड़ता है। भाषा जब चिन्ताका स्वाभाविक परिणाम है तो इस प्रकार चिन्ताके विनिमय द्वारा भाषाजगत्‌में भी बहुत कुछ परिवर्त्तन होगा और नवीन चिन्ताके अनुसार नवीन भाषाएँ बनेंगी यह निश्चय है। इस प्रकारसे सामाजिक जीवनकी प्राकृतिक क्रमाभिव्यक्तिके अनुसार विविध भाषाओंकी तथा भाषागत विविध शब्दोंकी उत्पत्ति होती है।

पहिले ही कहा गया है कि समष्टिसृष्टिमें पूर्णमानव प्रथमतः उत्पन्न होकर तदनन्तर सृष्टिप्रवाह क्रमशः नीचेकी ओर चलता है। पूर्णमानव महर्षियोंके अन्तः-करणमें वैदिक भाषाका स्वतः ही विकाश होता है, इसका भी वर्णन किया जा चुका है। इसलिये प्राकृतिक सृष्टिप्रवाहमें जो जीव मनुष्ययोनिको पाकर क्रमशः ऊर्द्ध्वगतिको लाभ करता है, उसको समष्टिप्रवाहसे नीचेकी ओर आनेवाले जीवोंका हर विषयमें सहारा अवश्य मिलेगा यह निश्चय है। नीचेसे ऊपरकी ओर जानेवाले जीव ऊपरसे नीचेकी ओर आनेवाले जीवोंके वंशमें कर्मानुसार उत्पन्न होकर खानदानी योग्यता बहुत कुछ प्राप्त करते हैं। इस तरह वंशपरम्पराके क्रमानुसार निम्न-कोटिके मनुष्य भी धीरे धीरे अपनी भाषाको उन्नत करके अयत्नसिद्धरूपसे भाषाजगत्‌में

बहुत कुछ उन्नतिको प्राप्त कर लेते हैं। निम्नकोटिके मनुष्योंमें क्षीणशक्तिके कारण भाषाके शब्द भी स्वल्प ही रहते हैं यह निश्चय है। इनका अधिकांश कार्य, इङ्गित, अङ्गभङ्गी, शिशुकी तरह अर्द्ध स्फुट बोली, आदिके द्वारा चलता है। किन्तु ये ही मनुष्य जब कर्मगतिके अनुसार उच्चखानदानमें यह उच्चयोनिमें उत्पन्न होते हैं तो इनकी भाषा परिमार्जित और परिशुद्ध हो जाती है और भाषाके शब्दभण्डारमें भी शब्दसंख्या बहुत कुछ बढ़ जाया करती है। यही कारण है कि आदिमें असभ्य बहुतसी भाषाएँ सब सुसभ्य भाषाओंमें परिगणित होने लगी हैं। यही कारण है कि कितने ही वर्ष तक असम्पूर्ण कहनेवाली अंगरेजीभाषामें अब ग्रीक तथा लेटिन भाषासे संगृहीत होकर एकलक्ष शब्द बन गये हैं और फारसी भाषामें अधिकांश अरबी शब्द प्रवेश कर उसका मधुर आकार उत्पन्न हो गया है। इस देशकी भी कितनी ही सामान्य भाषाओंने संस्कृतभाषाकी सहायताको पाकर अपना मनोरम नवकलेवर धारण कर लिया है। इसप्रकार सुयत्नसिद्ध तथा अयत्नसिद्धरूपसे जन्मजन्मान्तरीय कर्मगति द्वारा भाषाजगत्‌में अनेक परिणाम तथा अनेक अभ्युदय दृष्टिगोचर होते हैं।

पहिले ही कहा गया है कि मनोभाव प्रकाशित करनेकेलिये जो कुछ साधन हैं उन्हींका साधारण नाम भाषा है। मनोभाव अनेक प्रकारसे प्रकाशित हो सकते हैं यथा—इङ्गितके द्वारा, स्वाभाविक तथा कृत्रिम अङ्गभङ्गी द्वारा, मुखके रेखा परिवर्त्तनोंके द्वारा, आखोंकी दृष्टि कटाक्ष आदिके द्वारा, वागूयन्त्रोंकी सहायतासे उच्चरित शब्दोंके द्वारा, नाना प्रकारकी स्फुट, अस्फुट, व्यक्त, अव्यक्त-ध्वनियोंके द्वारा और अन्ततः रेखाङ्कन या लिपिके द्वारा। पूर्व पूर्वसाधनोंका दिग्‌दर्शन कराया जा चुका है। अब रेखाङ्कन या लिपिकी उत्पत्तिका रहस्य बताया जाता है। लिपि अक्षर या वर्णमालाकी समष्टिको कहते हैं। यह समष्टि सृष्टि तथा व्यष्टि-सृष्टिमें भिन्न भिन्न प्रकारसे उत्पन्न होती है। समष्टि-सृष्टिमें आदिवाणी वेदके अक्षरोंको तपस्वी महर्षियोंने किस प्रकारसे दिव्यदृष्टिके द्वारा देखा था, इसका रहस्य पहिले ही बताया गया है। इसीकारण व्यष्टिसृष्टिमें भी भारतमें उत्पन्न अपूर्ण असभ्य मानवोंको वंशपरम्परानुसार उनके क्रमोन्नतिपथमें पूर्ण-मानव महर्षियोंकी बहुत कुछ सहायता अक्षर या वर्णमालाके निर्माणकार्यमें प्राप्त हुई थी यह निश्चय है। किन्तु अन्यान्य देशकी अन्यान्य जातियोंके भीतर यह लिपि-राज्यकी उन्नति सभ्यताकी उन्नतिके साथ क्रमशः प्राप्त हुई थी। सो कैसे हुई थी यही वर्त्तमान आलोच्य विषय है।

अभावकी पूर्त्ति लिये अभावहीन, पूर्ण परमात्माके अंशरूपी जीवमें स्वतः ही

प्रेरणा उत्पन्न होती है, यह पहिले ही कहा गया है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्यमें बोलनेकी शक्ति उत्पन्न होनेके कुछ काल बाद लिखनेकी भी इच्छा उत्पन्न हुई। कथित भाषाके द्वारा समीपस्थ जनोंको अपना मनोभाव बताया जा सकता है, किन्तु लिखित-भाषाके विना दूरस्थ आत्मीय जनोंको कैसे अपना मनोभाव बताया जाय? अनेक चिन्ता तथा गवेषणा द्वारा जो सिद्धान्त निर्णय होता है या नवीन आविष्कार किया जाता है, उसका फायदा लिखित भाषाके बिना भविष्यत्में आनेवाले आत्मीय स्वजन या जगज्जन कैसे पा सकेंगे? आजकी बात, आजकी चिन्ता, आजका सिद्धान्त या हिसाब आदि बिना लिखित-भाषाके महीने दो महीने बाद कैसे स्मरण रहेंगे? इत्यादि इत्यादि अभावके उत्पन्न होनेपर उसके दूरीकरणार्थ लिखित-भाषाकी उत्पत्ति होती है। लिखित भाषा दो प्रकारकी होती है—एक भावप्रकाशक लिपि और दूसरी ध्वनिप्रकाशक लिपि। भावप्रकाशक लिपिकी भी तीन अवस्था होती है यथा—प्रथमतः किसी घटनाके समस्त भावोंको चित्राङ्कन द्वारा प्रकाशित करना। द्वितीयतः चित्र न बनाकर सूत्र और ग्रन्थिके द्वारा उस भावको व्यक्त करना। तृतीयतः चित्र न बनाकर साधारण संकेतचिह्न द्वारा भावको प्रकट करना। इसीप्रकार ध्वनिप्रकाश लिपिकी भी चार अवस्था देखी जाती है यथा—

(क) शब्दलिपि जिसमें एक ही चित्रके द्वारा बहुत से समोच्चारण शब्दोंका लिखना। चीनदेशकी आधुनिक लिपि और प्राचीन मिसर देशकी लिपि ऐसी ही है।

(ख) एकाच् (monosyllabic) पदोंके संकेतों द्वारा लिखना।

(ग) वर्णमूल लिपि, जिसमें एकाच् पदोंकी सब ध्वनियोंका पूर्ण विश्लेषण नहीं हुआ।

(घ) विशुद्ध वर्णमालामूलक लिपि जिसमें प्रत्येक ध्वनिके प्रकाशार्थ पृथक् पृथक् चिह्न है।

समाजकी असभ्यावस्थामें प्रथमतः चित्र खींचकर एक समग्र घटनाके प्रकाशित करनेको प्रयत्न किया जाता है। चित्रके साथ चित्र मिलाकर ऐसी जातियाँ संवाद भेजा करतीं हैं। किन्तु इसमें कभी समाचारका समझ लेना बहुत ही कठिन हो जाता है। इसलिये सभ्यताकी वृद्धिके साथ इन्द्रियग्राह्य पृथक् पृथक् वस्तुओंके चित्र अंकित होने लगे और तदनन्तर चित्रके स्थानपर छोटे छोटे संकेत ही व्यवहृत होने लगे। सभ्यताकी उन्नतदशामें एक एक शब्दकेलिये एक एक संकेतका व्यवहार होता है, और भी उन्नततर दशामें शब्दोंको ध्वनियोंमें विश्लिष्ट करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है तथा

प्रत्येक ध्वनिकेलिये एक एक रैखिक प्रतिनिधि निर्दिष्ट की जाती है। इन रैखिक प्रतिनिधियोंको ही वर्ण कहते हैं।

प्राचीन चीनदेशमें किसी समय रस्सासे लटकते हुए विविध रङ्गके तागोंसे उस रस्सीके साथ बनी हुई ग्रन्थियोंकेद्वारा ऐतिहासिक घटना लिखी जाती थी। पेरु-देशमें इसको क्विपुलिपि कहते थे। रस्सीमें ग्रन्थिसंख्या, सूक्ष्म, स्थूल तथा नाना प्रकारके गिरहोंके अवस्थान द्वारा भाव प्रकाशित होते थे। तागेके रङ्गके द्वारा अवच्छिन्न भाव बताये जाते थे–यथा—श्वेतवर्णसे शान्ति, रक्तवर्णसे युद्ध इत्यादि। किसी किसीकी यह भी राय है कि भारतवर्षमें भी इसीकारण ग्रन्थ, सूत्र तथा वर्ण शब्दका व्यवहार होता है। जो कुछ हो, चित्रलिपिकी अपेक्षा ग्रन्थिलिपि सभ्यताकी उन्नत दशा सूचित करती है इसमें सन्देह नहीं है, चीनदेशियोंमें अभी तक शब्द ध्वनियोंमें विश्लिष्ट नहीं हुए हैं। वे लोग वर्णमालाका प्रयोजन नहीं समझते हैं, उनका कोई शब्द एकाधिक स्वरयुक्त नहीं है। प्रत्येक शब्द एकाच है और उसकेलिये एक एक संकेत व्यवहृत होता है। इस लिपिकी भाषा दर्शनेन्द्रियग्राह्य है। कानका काम इसमें आँखसे ही होता है। आखोंसे देख कर संकेतोंका अर्थबोध किया जाता है। ये संकेत किसी निर्दिष्ट ध्वनियोंके प्रतिनिधि नहीं है, केवल बुद्धिके द्वारा ग्राह्य हैं। इसलिये इसको भावलिपि कहा जा सकता है। लिपिविद्याकी उन्नतिमें यह भावलिपि ध्वनिलिपिकी पूर्ववर्त्ती है।

भावलिपिकी असम्पूर्णता अनुभूत होनेपर तब वर्णलिपिकी उत्पत्ति होती है। इसमें शब्दको ध्वनियोंमें विभक्त करके ध्वनियोंके प्रतिनिधिरूपसे वर्णोंका आविष्कार किया जाता है। यद्यपि चीनदेशके मनुष्योंने अभी तक इसकी आवश्यकता नहीं समझी है, तथापि अन्य देशवासियोंमें भावलिपिकी अपूर्णता बहुत वर्ष पहिलेसे ही मालूम हो गई थी और तदनुसार अभावपूर्त्तिके अर्थ तत्तद्देशानुकूल वर्णमालाका आविष्कार हुआ है। इस आविष्कारकार्यमें प्रथमतः एक स्वरविशिष्ट पदोंकी उपलब्धि होती है और तत्पश्चात् वर्णोंका ज्ञान उत्पन्न होता है। सामान्यके ज्ञान और जातिविभागके प्रयोग द्वारा शेषोक्त ज्ञान उत्पन्न होता है। जिन पदोंकी आदिमें एक ही प्रकारकी ध्वनियाँ रहती हैं, वे पहिले एकत्र किये जाते हैं। यह प्रथम सोपान है। परवर्ती सोपानमें पदोंकी श्रेणियोंके आदिमें जो ध्वनि है उसके चिह्ननिर्देशके लिये श्रेणीके भीतर जो शब्द बहुत साधारण है उसकी प्रतिकृतिके द्वारा वह ध्वनि प्रकाशित की जाती है। प्राचीन फिनिसियावासियोंकी वर्णमालामें 'अलेफ' नामक वर्ण सांड़के मस्तककी प्रतिकृतिसे प्राप्त है, क्योंकि उस भाषामें अलेफका अर्थ सांड़ है। बेथ शब्द गृहवाचक है, क्योंकि गृहके चित्रसे बेथ वर्ण मिला है। गिमेल शब्दका अर्थ है 'ऊँट', क्योंकि ऊँटके चित्रसे

गिमेल वर्ण मिला है। मिसर देशके सांकेतिक लिखनेके अनुकरणसे प्राचीन फिनि-सिया देशकी वर्णमाला बनाई गई थी। फिनिसियन वर्णमाला बदलकर ग्रीक-वर्णमाला बनी थी। रोमन वर्णनमाला ग्रीक वर्णमालाके अनुकरणसे बनी है।

भारतवर्षकी समस्त वर्णमालाएँ ब्राह्मी लिपि या देवनागरी लिपिके रूपान्तरसे ही बनी हैं। देवनागरी लिपिकी उत्पत्ति अयत्नसिद्ध तथा प्राकृतिकरूपसे हुई है, इसका रहस्य पहिले ही बताया गया है। सृष्टिके समय त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणस्पन्दनजन्य जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें महर्षियोंने दिव्यश्रवणसे सुना था और ग्रामोफोनके रेकर्डकी तरह प्रत्येक ध्वनिका जो आकार बनता है उसे भी दिव्यदृष्टिके द्वारा महर्षियोंने देखा था। क, ख, ग, घ, आदि प्राकृतिक ध्वनियोंके प्राकृतिक आकार इसप्रकारसे देखे गये थे और उन्हीं प्राकृतिक आकारोंसे ब्राह्मी लिपि प्रकट हुई थी। यही आर्यशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। इस प्रकारसे ब्राह्मी लिपिका उद्भावन पूर्णमानवके द्वारा होनेके कारण आदि व्यष्टिसृष्टिके असभ्य मानव उसे एकबारगी जान सके थे, यह सम्भव नहीं हो सकता है। व्यष्टिसृष्टिके असभ्य मानवोंने अन्यदेशीय असभ्य मानवोंकी तरह चित्र-लिपि, ग्रन्थिलिपि, संकेतलिपि आदिकी सहायतासे ही मनोभाव अंकित किया था और बहुत दिनों तक यही प्रथा चलती रही, ऐसा ही अनुमान सहजसाध्य जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिसप्रकार वंशपरम्पराके प्रभावसे भाषा सीखनेके विषयमें भी असभ्य मानवोंने उन्नतकोटिके मानवोंकी सहायता पाई थी, जैसा कि पहिले कहा है, ऐसा ही लिपिशिक्षाके विषयमें भी उन्हें वंशपरम्पराके द्वारा बहुत कुछ मदद मिली है और क्रमशः उच्चकुलमें जन्म लाभ करते हुए ब्राह्मलिपिविज्ञानका स्वाभाविक संस्कार उनमें उत्पन्न हुआ है, यही सिद्धान्त समीचीन जान पड़ता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु पृथिवीके समस्तदेशकी भाषा तथा लिपिके ऊपर आर्यभाषा संस्कृतका और ब्राह्मीलिपिका प्रभाव पड़ा है यह भी वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक सत्य सिद्धान्त है। जब संस्कृतभाषा और ब्राह्मीलिपि प्राकृतिकरूपसे प्रकट हुई है तो अन्य भाषाएँ और अन्य-लिपियाँ इसीके अनुकरणपर निकलेंगी यह स्वतः सिद्ध है, क्योंकि विकृतिका मूल प्रकृति ही है। द्वितीयतः 'आर्यजाति' नामक प्रबन्धमें पहिले ही बताया गया है कि इसी देशके क्षत्रियप्रमुख आर्यगण लक्षोंकी संख्यामें उन सब देशोंमें जाकर बस गये हैं और क्रमशः संस्कार तथा आचारभ्रष्ट होकर म्लेछ कहलाये हैं। वे लोग जब वहाँ जाकर बसे, तो इनके सङ्ग, भाषा तथा लिपिका भी बहुत कुछ प्रभाव उन देशोंके असभ्य जातियोंपर पड़ा। यही सब कारण है कि ग्रीक, लाटिन, जर्मन आदि भाषाओंके बहुधा संस्कृत मूल (root) ही पाये जाते हैं। यथा—संस्कृत अहम्, हिन्दी हम, आवेस्ती अजेम्,

ग्रीक एगो, लैटिन एगो, गौथिक इक, लिथुमेनीय अस, प्राचीन-वलगेरीय अजे। संस्कृत त्वम्, हिन्दी तुम, अवेस्ती मे, ग्रीक सु, लेटिन टू, गौथिक थु, लिथुयेनीय तु, प्राचीन वलगेरीय तै। ऐसाही संस्कृत पितृ, मीडी पतर, यूनानी पाटेर, लैटिन पेटर, अंग्रेजी फादर, फारसी पिदर, हिन्दी पिता। संस्कृत भ्रातृ, मीडी ब्रतर, यूनानी फ्राटेर, लैटिन फ्रेटर, अँगरेजी ब्रदर, फारसी बिरादर, हिन्दी भ्राता। संस्कृत अस्मि, मीडी अह्मि, यूनानी ऐमी, लैटिन एम, अंगरेजी ऐम, फारसी अम्, हिन्दी हूँ। संस्कृत नाम, मीड नाम, यूनानी-ओनोमा, लैटिन नामेन, अंगरेजी नेम, फारसी नाम, हिन्दी नाम। इन सब दृष्टान्तोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, संस्कृत ही सब भाषाओंकी आदि जननी है। इस प्रकार भाषा—समताका कारण आर्यजातिका भिन्न-भिन्न देशोंमें जाकर उपनिवेश स्थापन न बताकर आर्यजातिका ही मध्यएशिया आदिसे भारतमें आना जो बताया जाता है, सो सम्पूर्ण भ्रमात्मक तथा आर्यशास्त्रविरुद्ध कल्पनामात्र है। यही सब भाषाविज्ञान तथा लिपिरहस्यका संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

भाषाकी शोभा साहित्य और साहित्यकी शोभा काव्य है। मालूम होता है कि इसी विचारानुसार पूर्व ऋषियोंने प्रायः पद्यमें ही ग्रन्थ लिखे हैं। क्योंकि काव्यकी माधुरी गद्यकी अपेक्षा पद्यमें ही अधिक प्रकाशित होती है। काव्य साहित्यका अति-उत्तम अङ्ग है, काव्य कविवरके मधुर हृदयका सुमधुर सङ्गीत है, जिसमें मनोहारिणी बुद्धिविकाशिनी, आनन्ददायिनी सभी शक्तियाँ निहित रहती हैं। काव्यका प्रभाव मन, बुद्धि दोनों ही पर पड़ता है, जिस कारण काव्यकलासे आनन्द भी मिलता है और उपदेश भी प्राप्त होता है। 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्यको काव्य कहा जाता है। चमत्कारयुक्त वचनको भी काव्य कहते हैं और मनोहर अर्थ उत्पादक वाक्योंको भी काव्य कहा गया है। रस काव्यका प्राण है और अर्थ काव्यका हृदय है। रसहीन कविता कविता ही नहीं कहलाती है और अर्थहीन कविता तो हृदयहीन पद्यमय शब्दसमष्टिमात्र है। अतः अर्थचमत्कार तथा रसचमत्कार दोनों ही काव्योंमें होने चाहिये, तभी काव्यकी काव्यता सार्थक होती है। रस किसको कहते हैं? कविताके प्रभावसे श्रोताके हृदयमें हर्ष, विस्मय, भय, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, वीभत्स आदि जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हींका नाम 'रस' है। विभाव, अनुभाव और संचारीभावसे रसकी उत्पत्ति होती है। जिससे भावना स्पष्ट हो वह विभाव है। इसके आलम्बन, उद्दीपन ये दो भेद होते हैं। रसकी स्थिति करनेवाला आलम्बन और उद्दीपन करनेवाला उद्दीपन कहलाता है। रसके अनुभव करानेवाले लक्षणोंको अनुभाव कहते हैं। हास्य, मधुर सम्भाषण, प्रेमदृष्टि आदि अनुभाव हैं। अस्थायी भावोंको संचारी और स्थिरभावको

स्थायी कहते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद ये नौ स्थायी भाव हैं, जिनसे शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस यथाक्रम उत्पन्न हुए हैं। शङ्का, असूया, चिन्ता, आलस्य, गर्व, दीनता, आवेग, त्रास, चपलता आदि स्थायी या संचारी भाव हैं। ये स्थायी भावके भीतर ही कभी कभी अस्थायीरूपसे उत्पन्न हो जाते हैं और थोड़ी देरमें विलीन हो जाते हैं।

गुण रसका धर्म है, इसलिये गुणहीन रस नहीं होते। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणके ये तीन भेद हैं। अनुस्वारयुक्त वर्णोंका अधिक प्रयोग, टवर्गका अभाव इत्यादि माधुर्यगुणके लक्षण हैं। रेफ तथा टवर्गका अधिक प्रयोग या लम्बे समासयुक्त प्रयोग आदिमें कविताका ओजगुण प्रकाशित होता है। सरल, सुखबोध्य, शब्दयोजना तथा मधुर समासादिसे प्रसादगुणका उदय होता है। गुणके साथ दोषका भी विचार करना चाहिये। काव्यमें शब्ददोष, अर्थदोष, रसदोष आदि दोषोंसे बचना चाहिये। श्रुतिकटुता, अश्लीलता, ग्राम्यता, अप्रसिद्धता, क्लिष्टता, पुनरुक्ति, छन्दोभङ्ग, यतिभङ्ग आदि सब दोषोंके दृष्टान्त हैं, जिनसे मुक्त होनेपर तब कविता सर्वाङ्गसुन्दर कहलाती है। काव्यमें छन्द और अलंकार रसके सहायक होते हैं। द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, मालिनी आदि छन्दके दृष्टान्त हैं। रसमें शत्रुमित्रका ज्ञान न होनेसे काव्यका तथा व्याख्यानका प्रभाव नहीं होता है। हास्य तथा अद्भुत रस शृंगाररसके मित्र हैं, किन्तु करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानकरस उसके शत्रु हैं। इसी तरह करुणरस शान्तरसका मित्र है, किन्तु वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य भयानकरस उसके शत्रु हैं। रौद्ररस, वीररसका मित्र है, किन्तु शान्त, शृंगाररस उसके शत्रु हैं। अद्भुत, रौद्र, वीररस भयानक रसके अनुकूल हैं, किन्तु शृंगार, हास्य, शान्तरस उसके सम्पूर्ण प्रतिकूल हैं। इसप्रकार विचारके साथ रसाभास या प्रतिकूलरससे बचनेपर कविता उत्तम तथा हृदयग्राहिणी होती है। कवि दो प्रकारके होते हैं। एक अपने ही भावको अपनी कविता द्वारा प्रकट करनेवाले और दूसरे अपने भावको व्यापक बनाकर उसीमें लय होनेवाले। ऐसे कवियोंके द्वारा समग्रजातिकी सरस्वती बोलती है और उनकी उपदेशमयी कविता अजर अमर होकर उन्हें भी अमर बना देती है।

'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः'

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्'

'सियाराममय सब जग जानि'

'प्राण जाय पर वचन न जायी'

जाकर जापर सत्य सनेहू।

सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥

इत्यादि कविताएँ इस कोटिकी हैं। कबीर, सूरदास, तुलसीदास आदि इसी श्रेणीके कवि हैं। कविके कैसे कैसे गुण होने चाहिये इसविषयमें संगीतमकरन्दमें लिखा है यथा—

शुचिर्दक्षः शान्तः सुजनविनतः सुनृतपरः

कलावेदी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः।

रसज्ञो दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः

शुभाकारश्छन्दोगुणगणविवेकी स च कविः॥

शौचाचारपरायणता, निपुणता, शान्ति, विनय, सत्यपरता, काव्यकलाकुशलता, विद्वत्ता, रसज्ञता, दैवज्ञता, कुलीनता, छन्दोज्ञान, सरसहृदय होना इत्यादि सुकविके गुण हैं। कवि वास्तवमें संसारके भूषण होते हैं।

अन्य भाषाओंकी तरह हिन्दीभाषाके भी आजतक अनेक सुकवि हुए हैं। इसके उत्पत्तिकालके मुख्य कवि चन्दवरदाई, जल्ह और जगनिक हैं। प्रारम्भकालके मुख्य कवि विद्यापति, कबीर तथा गुरुनानक आदि हैं। विद्यापति ठाकुर मैथिल ब्राह्मण थे। इनकी कविताके बहुतसे शब्द अब भी मैथिल तथा बङ्गभाषामें व्यवहृत होते हैं। चैतन्यदेव इनकी कविताको बहुत पसन्द करते थे। कबीरकी साखियाँ तथा गुरुनानककी वाणी उनके भक्तगण बहुत ही प्रेम तथा श्रद्धाके साथ पढ़ा करते हैं। हिन्दीभाषाके प्रौढ़कालके मुख्य कवि सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, रहीम, रसखान, सुन्दरदास, विहारी, भूषण, गंग, देव आदि हुए हैं। कहा जाता है—

सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।

अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करहिं प्रकास॥

सूरदासका सबसे बड़ा ग्रन्थ सूरसागर है और तुलसीदासका रामचरितमानस है। सूरदासने श्रीकृष्णलीलावर्णनमें और तुलसीदासने रामचरित्रवर्णनमें अनुपम कवित्व-शक्तिका परिचय दिया है। रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया आदि कवि केशवदासके

अतिउपादेय, बहुत गूढ़ ग्रन्थरत्न हैं। हिन्दीभाषाके उत्तरकालके प्रसिद्ध कवि—दास, दूलह, गिरिधर, पद्माकर, रघुराज, द्विजदेव आदि हुए हैं। इन सबके जीवनचरित्र तथा उत्तम कविताओंके नमूने बहुत ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं, इस कारण बाहुल्यभयसे यहाँपर उद्धृत नहीं किया गया। हिन्दीके वर्त्तमानकालके मुख्यकवि—हरिश्चन्द्र, विनायकराव, अम्बिकादत्त व्यास, जगन्नाथप्रसाद भानु, श्रीधर पाठक, सुधाकरद्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, राय देवीप्रसादपूर्ण आदि हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने हिन्दीभाषाकी उन्नतिकेलिये बहुत कुछ परिश्रम तथा स्वार्थत्याग किया था। इनके ही विशेष परिश्रमके फलसे भारतवासियोंने मधुर हिन्दीभाषाके गद्यकाव्य देखे हैं। गद्यपद्यमय मधुर हिन्दीभाषा तथा खड़ीबोलीको प्रोत्साहन इन्हींसे प्राप्त हुआ था। मैथिलीशरण गुप्तकी खड़ी बोलीकी कविता भी प्रसिद्ध है। भक्त और प्रेमी कवियोंमें कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, दादू और रसखानका स्थान बहुत ऊँचा है। इन महात्माओंने काव्यरसके साथ भक्तिरसका अपूर्व प्रवाह बहाकर अपनेको तथा अपने काव्यप्रेमियोंको परमात्माके परमानन्दमय श्रेष्ठपदतक पहुँचा दिया है। भारतवासी इनके ऋणसे कभी उऋण नहीं हो सकते।

नदियाँ पर्वतोंसे निकलती हैं और जैसे-जैसे आगे बढ़ती हैं, उनका प्रवाह भी बढ़ता जाता है। इधर-उधरके पाषाण जब प्रवाहमें आ गिरते हैं, तो वेगके अनुसार वे थोड़ी बहुत दूर तक बहते हैं और प्रायः यह क्रिया प्रतिदिन हुआ करती है। इस कारण आपसकी रगड़से उन पाषाणोंका आकार बदलता ही जाता है, यहाँतक कि घिसते-घिसते उनका आकार एक नूतनभावको धारण कर लेता है। इसी तरह भाषाएँ भी रूपान्तरको धारण करती रहती हैं। व्यवहाररूपी प्रवाहमें शब्दरूप पाषाण भी रगड़ खाकर रूप बदलते जाते हैं। जिससे अधिक कालमें उन शब्दोंका पहिचानना भी कठिन हो जाता है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार वैदिकभाषासे संस्कृत, संस्कृतसे पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कितनी ही भाषाएँ बन गई हैं। प्राचीनकालमें संस्कृतभाषा सभ्यसमाजकी सार्वभौम भाषा थी, किन्तु अनेक कारणोंसे वर्त्तमानमें इसका सार्वजनिक भाषा रहना असम्भव हो गया है। इधर जातिकी सामाजिक, राजनैतिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक सभी प्रकारकी उन्नतिके लिये एक सार्वजनिक भाषाकी नितान्त आवश्यकता है, इसको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। विचार करनेपर यही सिद्धान्त होगा, कि वर्त्तमान समयमें मधुर, सरल, विशुद्ध हिन्दीभाषा ही हिन्दुजातिकी सार्वभौम भाषा बनने लायक है। अब भी बिना प्रयत्नके ही हिन्दीभाषाका समग्र भारतमें जिस प्रकार प्रचार है, बङ्गला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंकी सहायतासे समग्र भारतमें भ्रमण करना असम्भव

होनेपर भी केवल हिन्दीभाषाको बोलते हुए जिस सुविधाके साथ समस्त भारतभूमिमें अनायास भ्रमण किया जा सकता है और पारस्परिक चिन्ता या भावका विनिमय कर लाभ उठाया जा सकता है, उससे यही निश्चित होता है, कि हिन्दीभाषाको ही वर्तमान देशकालमें भारतकी सार्वजनिक भाषा माननी चाहिये । थोड़े प्रयत्नसे ही यह अत्युत्तम सरलभाषा सार्वजनिक भाषा बन जायगी और इसके सार्वजनिक प्रयोग द्वारा हिन्दुजाति अपने आधिभौतिक, आध्यात्मिक सकल प्रकारके कल्याणको प्राप्त कर सकेगी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ।

अष्टमकाण्डकी पञ्चम शाखा समाप्त ।

———

शिक्षा-समालोचना।

भाषाविज्ञान तथा हिन्दी-भाषाकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत कुछ वर्णन करके अब प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षाप्रणाली पर समालोचना की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति या जातिके भीतर जो मौलिक सत्ता स्वभावत: विद्यमान है, उसीका पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्षण तथा लक्ष्य है। यदि किसी अश्वको शिक्षा देना हो तो उसके भीतर अश्वत्वकी जो मौलिकता विद्यमान है उसे ही पूर्णतापर पहुँचानेसे अश्वकी शिक्षा पूरी होगी। हाथीको कलाकौशलसम्पन्न हाथी बनाना ही हाथीकी शिक्षा है। मनुष्यको पूर्ण-मानव बनाना ही मनुष्यकी शिक्षा है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्यके भीतर जब पूर्णमानवका बीज विद्यमान है तो शिक्षाका यही लक्ष्य होना चाहिये जिससे मानव पूर्णमानव हो सके। प्रत्येक जीवमें जब ब्रह्मका बीज विद्यमान है तो जीवकी शिक्षा तभी पूरी होगी जब जीव शिक्षाके द्वारा भगवद्राज्यमें अग्रसर होता हुआ उसके परिपाकमें जीवत्वको छोड़कर ब्रह्मत्वको प्राप्त कर सकेगा। ब्राह्मण यदि शिक्षाके फलसे पूर्ण ब्राह्मण बन सके तभी ब्राह्मणकी शिक्षा सार्थक है। क्षत्रिय यदि शिक्षाके फलसे आदर्श क्षत्रिय वीरकी गौरवमयी पदप्रतिष्ठाको पा सके तभी क्षत्रियकी शिक्षा सफल है। आर्यजाति यदि शिक्षाके द्वारा आर्यजीवनके आदर्शको चरितार्थ कर सके तभी आर्यजातिकी शिक्षा सार्थक है। आर्यमाता यदि शिक्षाके द्वारा अपनी पवित्रता रक्षा करती हुई जगन्माताकी रूप बन सके तभी आर्य्यमाताकी शिक्षा सार्थक है; क्योंकि जब प्रत्येक स्त्रीमें जगन्माताका अंश विद्यमान है, तो शिक्षा द्वारा उसी जगन्मातृभावको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका आवश्यक लक्ष्य होगा। माताको माता बनाना ही माताकी शिक्षाका लक्ष्य है, उनको पिता बनाना शिक्षाका लक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि उनके भीतर मातृत्वका ही बीज है, पितृत्वका नहीं; अत: सिद्ध हुआ कि, व्यक्ति तथा जातिगत मौलिकताका पूर्ण विकाश-सम्पादन ही शिक्षाका लक्ष्य है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिको अतिप्राचीन समयसे लेकर नवीन भारतके इस नवीन संधिसमयपर्य्यन्त शिक्षाराज्यमें अनेक विप्लव सहन करने पड़े हैं। जब प्रत्येक मनुष्यको सम्पूर्ण मनुष्य बनाना ही शिक्षाका लक्ष्य है तो आदर्श शिक्षा वही कहलावेगी जिसके

द्वारा मनुष्यके अंतर्गत समस्त उपादान पूर्ण परिस्फुट हो सके । यदि मनुष्य केवल पाञ्च-भौतिक स्थूलशरीरका ही नाम होता तो केवल स्थूलशरीरको पुष्ट तथा सुखी बनाना ही शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य होता; किन्तु केवल पञ्चभूतोंके संघातको ही मनुष्य नहीं कहते हैं । आत्मा तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीररूपी उपाधित्रयसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं; अतः जिस शिक्षाके द्वारा आत्मा पूर्णोन्नत हो सके और साथ ही साथ स्थूल-सूक्ष्म कारण तीनों शरीर पूर्णताको प्राप्त हो जायँ वही शिक्षा आदर्शशिक्षा कहलावेगी; किन्तु शिक्षाका इस प्रकार पूर्ण आदर्श निर्णय जीव आत्माके राज्यमें अपनी क्रमोन्नतिके अनुसार ही कर सकता है । जो जाति आत्माके राज्यमें अभी तक अग्रसर ही नहीं हुई है, किन्तु भौतिकजगत्‌में ही जिसके समस्त पुरुषार्थका पर्यवसान है, वह जाति केवल स्थूलशरीरके उस सकल प्रकार उन्नतिप्रद शिक्षाको ही आदर्श शिक्षा अवश्य समझेगी । शिल्पकलाकी उन्नति, वाणिज्योन्नति, राजनैतिक उन्नति, भौतिकविज्ञान या सायन्सकी उन्नति आदि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षणिक सुखप्रद उन्नतियोंके लिये जिस-प्रकार शिक्षाकी आवश्यकता होती है उसी शिक्षामें ही वह जाति अपनेको कृतकृत्य तथा पूर्ण शिक्षित और पूर्ण सभ्य समझेगी । आर्यजातिके सिवाय अन्य सब जाति-योंने अभी तक भौतिक शिक्षाको ही चरम आदर्शशिक्षा समझ रक्खी है; क्योंकि उनकी दृष्टि प्रकृतिसे अतीत नित्यानन्दमय परमात्माकी ओर अभी तक गई नहीं है । इस कारण अपराविद्यामें ही उनकी विद्याकी पराकाष्ठा है । स्थूल शरीरके ऊपर मन बुद्धि आदिके विषयमें उन जातियोंने जो कुछ छानबीन की है, वे सब विचार भी मायातीत ब्रह्मके राज्यसे सुदूर ही हैं, क्योंकि उन सब विचारोंमें उन्होंने केवल लौकिक बुद्धिकी ही प्रखरता बतलाई है, आत्मोपलब्धि या ऋतम्भरा प्रज्ञाका कुछ भी परिचय उनके द्वारा नहीं मिलता है । किन्तु अनादिसिद्ध सनातन आर्यजातिके पितापितामह पूज्यपाद मह-र्षियोंने स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरके यथार्थ स्वरूपको तो देख ही लिया था, इसके सिवाय उन्होंने शरीरत्रयोपाधिसे निर्मुक्त आत्माके स्वरूपके विषयमें भी पूरा अनुसन्धान तथा अनुभव लाभ किया था । इस कारण उनके बताये हुए शिक्षादर्शमें कुछ भी असम्पूर्णता नहीं रह गई है । वे स्थूलसूक्ष्मकारण-शरीरके उन्नतिप्रद शिल्प, सायन्स, राज-नीति, धर्मनीति, दर्शनशास्त्र, योगविज्ञान आदिकी शिक्षाकेलिये भी यथेष्ट उपदेश दे गये हैं और अन्तमें आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दप्रद ब्रह्मद्वारके उद्घाटनके लिये भी आर्य्यजातिके हाथमें पराविद्याकी कुञ्जी दे गये हैं । इसीलिये आर्य्यजाति-के आदिग्रन्थ वेदमें परा अपरा नामक दो विद्याएँ बताई गई हैं यथा—मुण्डक श्रुतिमें —

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो
व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

वेदके कर्मकाण्डमें वर्णित इहलोक परलोकमें सुखशान्ति तथा उन्नतिप्रद समस्त विद्या अपरा है और अक्षर परमात्माकी उपलब्धि जिससे होती है वह विद्या परा है। परा अपरा दोनों मिलकर ही शिक्षा पूर्ण है इसीकारण आर्य्यजातिने केवल शिल्प, पदार्थविद्या, सायन्स आदिकी शिक्षाको ही पूर्ण शिक्षा नहीं समझी है। उनके विचारमें भौतिक उन्नतिकी शिक्षाके साथ साथ मानसिक उन्नति, बुद्धिकी उन्नति, धर्मोन्नति और आत्माकी पूरी उन्नति जिस शिक्षाके द्वारा हो सकती है, वही शिक्षा सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्श शिक्षा है, अतः सिद्ध हुआ कि शिक्षाके विषयमें आर्य्यजातिके साथ अन्य सब जातियोंके अनेक विचार तथा आदर्शभेद पाये जाते हैं। विचारकी सुविधाके लिये नीचे उन भेदोंके कुछ उल्लेख किये जाते हैं।

(क) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके भेदानुसार आर्य्यशास्त्रमें अधिकार विचारसे चारप्रकारकी शिक्षाप्रणाली निर्दिष्ट की गई है। ब्राह्मणवर्णका शिक्षादर्श मोक्षप्रधान, क्षत्रियवर्णका धर्मप्रधान, वैश्यवर्णका अर्थप्रधान और शूद्रवर्णका कामप्रधान बताया गया है। अन्य जातियोंमें शिक्षाके इन चार लक्ष्योंका यथावत् परिज्ञान नहीं है और न अधिकारभेदका ही विचार है।

(ख) आर्य्यशास्त्रानुसार शिक्षा षोड़श प्रकारके धर्मसंस्कारोंमेंसे एक प्रधान धर्मसंस्कार है। इसको संस्कारविधिक्रममें वेदारम्भ नामक अष्टम संस्कार कहा जाता है। इस प्रकारसे संस्कारोंके अन्तर्गत होनेके कारण आर्यजातीय शिक्षादर्शके साथ धर्मशिक्षाका अच्छेद्य सम्बन्ध है। आर्य्यशास्त्रमें धर्महीन विद्याको अविद्या, धर्म-हीन शिक्षाको कुशिक्षा तथा सकल अनर्थोंकी जननी कहा गया है; किन्तु अन्य-जातियोंमें इस प्रकार धर्ममूलक शिक्षाप्रणाली एकवार ही नहीं है। वहाँ शिक्षाके साथ धर्मका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनके सिद्धान्तके अनुसार एक महापापी भी परम शिक्षित पण्डित हो सकता है जिसका वर्त्तमान युगमें यही कुपरिणाम देखनेमें आ रहा है कि धर्महीन आस्तिक्यहीन शिक्षा तथा सभ्यताके फलसे पश्चिम देशोंमें घोर अशान्ति, भीषण संग्राम, अनाचार तथा राष्ट्रविप्लव दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है। वे सब आर्य्यजातीय शिक्षादर्शसे सम्पूर्ण विपरीत हैं।

(ग) आचारके प्रथमधर्म होनेसे आर्य्यजातीय शिक्षादर्शके साथ सदाचारका अतिघनिष्ट सम्बन्ध है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मकी मर्यादा भी दूसरा प्रधान लक्ष्य है; किन्तु अन्यजातियोंमें सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्मका संस्कार तक नहीं है और न इनके अनुकूल शिक्षापद्धतिका प्रचार ही है। वहाँ श्रमविभागके अनुसार शिक्षा-विभागके न होनेसे अप्राकृतिक साम्यवादका आन्दोलन और उसकी अशान्तिकर प्रतिक्रिया है।

(घ) आर्य्यजातीय शिक्षादर्शमें धर्म तथा अध्यात्मलक्ष्य मुख्य है, परलोकमें अभ्युदयका पूरा विचार है और आत्मोन्नति तथा मुक्तिकी उत्तम साधन विधि है। किन्तु इतरजातीय शिक्षादर्शमें अर्थ काम ही एकमात्र लक्ष्य है, आत्मोन्नति या मुक्तिका नाम भी नहीं है और इहलोक-भोग्य इन्द्रिय-सुखकेलिये ही साधन-विधिका भरमार है।

(ङ) आर्य्यजातीय शिक्षादर्शमें अर्थकामके साधकरूपसे शिल्प तथा भौतिक विज्ञानकी शिक्षा आदरणीय होनेपर भी जीवनका चरम लक्ष्य वह कदापि नहीं था। धर्म तथा मोक्ष ही आर्यजातिका अन्तिम लक्ष्य था। केवल संसार-यात्रा निर्वाह तथा आधिभौतिक अभावकी पूर्त्तिके लिये ही शिल्पकला तथा भौतिक विज्ञानका प्रयोजन समझा जाता था। तथापि प्राचीनकालमें इन विद्याओंकी यथेष्ट उन्नति हुई थी जिसका कङ्काल आज भी अनेक ध्वंसावशिष्ट शिल्प-कलाके रूपमें तथा प्राच्य प्रतीच्य अनेक प्रत्नतत्त्ववित् पण्डितोंके दिये हुए प्रमाणोंके रूपमें सर्वत्र देखनेमें आता है। किन्तु अन्यदेशीय शिक्षादर्शमें केवल अर्थ काम ही अन्तिम लक्ष्य है और उसीके लिये शिल्पकलादि भौतिक साधनचेष्टा है। उनमें धर्ममोक्षके प्रति कुछ भी स्थिर लक्ष्य नहीं है। उनके सारे पुरुषार्थका पर्यवसान अर्थ काममें ही हो जाता है। इस कारण भौतिक विज्ञानजगत्‌में आर्येतर जातियोंके द्वारा असाधारण उन्नति लब्ध होनेपर भी आत्माके प्रति उनकी स्थिरदृष्टि नाममात्र भी प्रकाशित नहीं हो सकी है। आर्य्यजातिकी दृष्टि आत्मामें प्रतिष्ठित है और आत्मामें ही आर्य्यजातिको परमानन्द तथा परम शान्ति है। अन्य जाति भौतिक उन्नति सम्पादनको ही सर्वरोगौषधि समझती है और आत्माके प्रति उपेक्षा करके भी उसीके साधनमें तत्पर रहती है। किन्तु आर्य्यजाति सब कुछ खोनेपर भी आत्माका खोना नहीं चाहती है और यदि आत्माके लाभके लिये सब कुछ खोना पड़े तो भी उसमें पश्चात्पद नहीं होती है। यही सब अन्यजातीय शिक्षादर्शके साथ आर्य्यजातीय शिक्षादर्शका पार्थक्य है।

अनादिकालसे लेकर कुछ वर्ष पहले तक आर्य्यजातिके इतिहासमें ऊपर कथित शिक्षादर्शका पूर्ण प्रचलन देखनेमें आता है। समस्त आर्यजातिको चार वर्णोंके विभागमें विभक्त करके नैसर्गिक गुणानुसार कर्त्तव्यनिर्देश द्वारा दूरदर्शी महर्षियोंने धर्मार्थ-काममोक्षरूपी चतुवर्गकी ही सम्यक् साधनप्रणाली बताई थी। एक एक वर्णके लिये एक एक वर्गका साधन बतानेके कारण प्रत्येक वर्णको अपने अपने वर्णमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनेका भी पूरा मौका दिया गया था। शूद्रवर्णको कामप्रधान शिल्पकला या कारुकार्यमें पारदर्शिता दिखानेका उपदेश दिया गया था। वैश्य वर्णको वाणिज्यादि द्वारा प्रचुर अर्थसंग्रह करके अन्य वर्णोंको सहायता देनेके लिये आज्ञा की गई थी। क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल बलवीर्य्य सम्पादन करके प्रजापालन तथा विजातीय अत्याचारसे देशकी रक्षा करनेके लिये धर्म बताया गया था। ब्राह्मणवर्णको संयम, तपस्या तथा जितेन्द्रियताके साथ ज्ञानार्जन करके मोक्षदायक अन्तिम शान्तिप्रद आत्माका पथ आविष्कार करनेके लिये तथा सकल वर्णोंके शिक्षागुरु बननेके लिये कहा गया था। इस प्रकारसे श्रमविभागविधिके अनुसार पुरुषार्थविभाग करके प्रत्येक वर्णको अपने अपने विभागमें उन्नतिकी पराकाष्ठा लाभके लिये बहुत ही विचार पूर्वक पूर्ण अवकाश दिया गया था। स्वधर्मानुकूल आचरणकी व्यवस्था ठीक ठीक रहनेसे प्राचीनकालमें ऊपर कथित नियमानुसार अर्थ, काम, मोक्षके द्वारा चारों वर्णोंको ही पूर्णोन्नति प्राप्त हुआ करती थी। राजा राजदण्डके द्वारा तथा ब्राह्मण शास्त्रानुशासन द्वारा अर्थ-कामकी धर्मरहित उद्दण्डताको सदा ही दमन करते थे, इन दोनों वर्णोंके धर्मानुकूल नियमनसे समाजशृङ्खला स्थापन तथा आधिभौतिक सकल प्रकार उन्नतिका विधान होता था। राजाका राजमद, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणोंके अंकुशके नीचे कदापि धर्मविरुद्ध-रूपसे नहीं बढ़ने पाता था। राजा भी अपनी राजशक्तिके प्रभावसे ब्राह्मणशक्तिकी रक्षा तथा पुष्टि किया करते थे। श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्मक्षत्रन्तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणशक्तिके बिना क्षात्रशक्ति परिपुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके बिना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिगत नहीं होती है। दोनों शक्तियाँ परस्पर समवेत होकर ही इहलोक परलोकमें कल्याणदायिनी होती हैं। इस मनुवचनानुसार प्राचीनकालमें दोनों शक्तियोंका पूर्ण सामञ्जस्य रहा करता था। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें कदापि कुछ असमञ्जस भाव होनेपर दूसरी उसको समञ्जस कर दिया करती थी; अर्थात् क्षत्रिय-

शक्तिका अपलाप ब्रह्मशक्तिके द्वारा तथा ब्राह्मणशक्तिका अपलाप क्षात्रशक्तिके द्वारा निवारित हुआ करता था। कदाचित् अपलाप अधिक होनेपर श्रीभगवान् अवतार धारण करके अत्याचारी शक्तिको दबाकर समञ्जस तथा धर्मानुकूल कर दिया करते थे। यथा—त्रेतायुगके प्रारम्भमें क्षत्रियशक्ति जब अत्याचारिणी तथा ब्रह्मशक्तिघातिनी हो गई तब श्रीभगवान्को परशुरामरूपमें ब्राह्मणशक्ति द्वारा क्षात्रशक्तिको दबाना पड़ा। उसी प्रकार परवर्ती कालमें जब ब्राह्मणशक्ति विकृत होकर रावणादि राक्षसभावापन्न होगई तो श्रीभगवान्को रामचन्द्रके रूपमें क्षात्रशक्तिके द्वारा ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर करना पड़ा। द्वापर और कलिके सन्धिकालमें कालप्रभावसे दोनोंही शक्तियोंमें अपलाप होने लग गया था और द्रोणाचार्य अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण, दुर्योधन कर्ण आदि क्षत्रिय सभीकी बुद्धि असुरभावापन्न हो गई थी। इसलिये श्रीभगवान्को पूर्ण-कलामें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णचन्द्ररूपसे दोनों शक्तियोंको दबाकर ठीक करना पड़ा था। परन्तु कालका प्रभाव दुरत्यय है। इसलिये कुरुक्षेत्रके संग्रामके बाद कुछ वर्षों-तक भारतवर्षमें शान्ति विराजमान रहनेपर भी इस भीषण रणाङ्गणमें दोनों शक्तियाँ बहुधा भस्मीभूत हो जानेके कारण कलियुगके प्रारम्भमें दोनोंमें ही पराक्रमका अभाव हो गया और तदनन्तर बौद्धविप्लवके द्वारा दोनों ही अधिकतर हीनबल हो गईं। भारतवर्षमें किसीका भी एकछत्र आधिपत्य न होकर छोटे छोटे अनेक राज्य हो गये। उन राज्योंके अधिपतियोंमें अन्तर्विवाद तथा संग्रामके बढ़ जानेसे क्षत्रियशक्ति बहुतही हीनबल हो गई। इधर रक्षाकारिणी क्षत्रियशक्तिके दुर्बल हो जानेसे तथा कलियुगके प्रभावको भी पाकर ब्राह्मणशक्ति भी बहुत हीनप्रभ होने लगी। ब्राह्मणोंकी तपस्या, अतीन्द्रिय दृष्टि, ज्ञानमय जीवन, संयमकी पराकाष्ठा, अलौकिक योगशक्ति सभी दिन प्रति दिन नामशेष होने लग गये। इस प्रकारसे जब धर्मप्रधान क्षात्रशक्ति तथा मोक्षप्रधान ब्राह्मणशक्ति हीनप्रभ हो गई तो अनुशासनके अभावसे अर्थशक्ति और कामशक्ति बहुतही अनर्गलरूपसे बढ़ने लगी। आर्य्यजाति धर्म-मोक्षको गौण समझ कर उसके प्रति उपेक्षा करके अर्थ-कामके प्रलोभनमें आत्मविक्रय करने लग गई। जिस जाति-में धर्म-मोक्षके बदले अर्थकाम बढ़ जाता है उस जातिकी क्या दुर्दशा होती है सो पहले ही कहा गया है। तदनुसार आर्य्यजातिके प्राचीन शौर्यवीर्य बलबुद्धि आत्मशक्ति सभी नष्ट होने लग गए और इस प्रकारसे आर्य्यजातिमें आत्मरक्षाकी शक्ति नष्ट हो जानेसे पश्चिमदेशसे यवनजातिने आकर आर्य्यजातिपर अपना राज्याधिकार जमा लिया। धर्मप्राण आर्य्यजातिके धर्मरक्षक ब्राह्मणोंमें क्षात्रशक्तिके हीनबल होनेसे धर्महीनता तो पहलेसे ही आगई थी अब विधर्मी राजकीय शक्तिके संघर्षद्वारा धर्महीनता और भी बढ़

गई। अर्थ-कामके प्रभावसे आर्यजातीय जनताकी बुद्धि बहुत ही विषयमलिन तथा भौतिकविज्ञानपक्षपातिनी बन गई। त्यागकी महिमा, अध्यात्मविज्ञानकी उत्कृष्टता, आत्मानन्दकी माधुरी, सभीका प्रभाव आर्य्यजातिके हृदयसे धीरे धीरे लुप्त होने लगा। पश्चात् अदृष्टचक्रके परिवर्तनसे जब यवनशक्ति भी हीनबल हो गई तब भी आर्य्यजातिने अपना होश नहीं सम्हाला, उसकी प्राचीन महर्षिवर्णित स्वरूपप्रतिष्ठा उसे पुनः प्राप्त नहीं हो सकी। इधर यवनशक्ति नष्ट हो गई और उधर अर्थ-कामके उन्मादसे आक्रान्त होकर आर्यजातीय क्षुद्र क्षुद्र राजन्यवर्ग तथा राजा प्रजा सभीके भीतर अन्तर्जातीय संग्रामका दावानल प्रबलरूपसे जलने लगा, जिससे नष्टावशिष्ट ब्राह्मण क्षत्रिय-शक्तियाँ और भी नामावशेषताको प्राप्त हो गईं। रत्नप्रसविनी भारतमाताकी रत्नरक्षाके लिये कोई प्रबल शक्ति बाकी ही न रही। इस अपूर्व सुयोगको देखकर पश्चिमदिशासे वाणिज्यप्रिय, ऐश्वर्य लोलुप, स्वार्थसिद्धिमें विशेष दक्ष वैश्यभावप्रधान बहुत जातियाँ भारतवर्षमें वाणिज्य करनेके लिये आने लगीं और उनमेंसे एकने भारतवासियोंके अन्त-र्विवादके सुअवसरको काममें लाकर भारतपर आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकारसे आर्यजातिने अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर स्वराज्यको भी खो डाला और वह अतिदीन हीन दशाको प्राप्त हो गई। सिंहको जबतक पता रहे कि वह सिंह है, तबतक उसका हुंकार नहीं नष्ट होता है और न सिंहसुलभ पराक्रमका ही अभाव होता है। इसलिये आर्यजातिका स्वरूप भुलानेके लिये विदेशीय राजाओंने बहुत कुछ उपाय अवलम्बन किये। प्रथमतः अध्यात्मविज्ञानकी अलौकिक उत्तमताको भूलकर आर्यजाति अर्थ-कामप्रद भौतिक विज्ञानमें मुग्ध हो ही रही थी, इतनेमें भौतिक विज्ञानका और भी मनोमुग्धकर चमत्कार दिखाकर आर्य्यजातिको पश्चिमी जातिने बिलकुल ही फँसा लिया आर्य्यजाति सायन्सके भूलभूलैयेमें फँसकर अध्यात्मविज्ञानप्रदाता पितापितामह महर्षियोंपर श्रद्धाहीन हो गई और अपने प्राचीन इतिहासकी महिमाको भी भूल बैठी।

पश्चिमी जातिने भारतीय शिक्षाका भार अपने हाथमें लेकर आर्य्यजातिके प्राचीन इतिहासके विषयमें शिक्षार्थियोंके हृदयमें अनेक प्रकारके सन्देह डाल दिये और कहीं कहीं आर्य्यजातीय प्राचीन चरित्रोंका अन्य स्वरूप बतलाकर उनके अन्तःकरणमें भावान्तरको उत्पन्न कर दिया। श्रीकृष्ण परस्त्रियोंके साथ नाचा करते थे, रामचन्द्र भीलोंकी तरह जंगलोंमें भ्रमण करते थे, यहाँ के लोग प्रस्तरपूजक असभ्य हैं, यहाँकी स्त्रियोंमें सतीधर्म नहीं है, एक एक स्त्रीके कई एक पति होते हैं, यहाँका वर्णाश्रम असभ्यतामूलक तथा आचार कुसंस्कार मात्र है इत्यादि इत्यादि अनेक बातें बचपनसे विद्यार्थियोंके हृदयमें भर दी जाने लगीं और मातृभूमिके प्रति अभिमान नष्ट करनेके

लिये यहाँ तक दिखाया जाने लगा कि आर्य्यजातिका आदिवासस्थान भारतवर्ष है ही नहीं, वे लोग मध्यएशियासे यहाँ आये हुए हैं। विदेशीय भाषाके प्रचार द्वारा विदेशीय भाव अन्तःकरणपर घनघटाकी तरह आच्छन्न हो गया और आर्यजातिकी देववाणी संस्कृतभाषा मृतभाषा बनाई गई। जैसा कि मेकाले साहबने * कहा है कि "अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ऐसा एक मनुष्य दल तैयार होगा जो रक्त तथा रङ्गमें हिन्दु होगा किन्तु आचार, व्यवहार, चरित्र, चिन्ता तथा विचारमें अहिन्दु होगा" ऐसा ही पूरा पूरा परिवर्तन शिक्षाके दोषसे आर्यजातिमें होने लग गया। और जैसा कि कूटनीतिज्ञ मेकाले साहबने प्रयत्नका पथ दिखाया था वह कूटनीतिका प्रयत्न कैसा सफल हुआ है सो थोड़े ही विचारसे समझा जा सकता है। विदेशीय शिक्षाप्रणालीके भीतर धर्मका कुछभी सम्बन्ध न रहनेसे शिक्षक-छात्रके परस्परमें अर्थके साथ विद्याका विनिमयमात्र समझा जाने लगा और धर्महीनशिक्षा केवल अर्थकाम संग्रहके साधनरूपसे ही मानी जाने लगी। इधर अर्थकामका प्रधान साधन वाणिज्य शिलपकला विदेशियोंके हाथोंमें होनेसे भारतवासियोंके लिये उसकी प्रत्यक्ष योग्यताकी शिक्षा कुछ न रही और न उसका कुछ प्रत्यक्ष फल ही उनको प्राप्त हुआ। भारतवासीकी शिक्षा केवल दासवृत्ति द्वारा दग्धोदरपूर्ति तथा हीनजीवन बितानेके लिये ही समझी जाने लगी। इस प्रकारसे हतभाग्य आर्यजाति विपरीत शिक्षादर्शके विपरीत परिणामके प्रभावसे धर्मभ्रष्ट, कर्मभ्रष्ट, निर्धन, निर्जीव, आत्मलक्ष्यहीन तथा सर्वथा जीवन्मृत दशाको प्राप्त हो गई।

संसार परिवर्तननियमके अधीन है, इसकारण कालचक्रके घूमते घूमते आर्य-जातिके समष्टि-जीवनमें भी क्रमशः अनेक प्रकारसे परिवर्तन हो गये और हो रहे हैं। भौतिकविज्ञानकी झलक, जिसने कुछ ही दिन पहलेतक भारतवासियोंको स्वरूपविस्मृत कर दिया था, अब आँखोंको निस्तेज करनेमें उतनी समर्थ नहीं हो रही है, क्योंकि धर्महीन आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञानोन्नतिकी पराकाष्ठाको पाकर भी पश्चिमदेशीय-गण किस प्रकार घोर पाशविक संग्राममें लिप्त हो सकते हैं और कोरी भौतिक उन्नतिका अन्तिम भीषण परिणाम क्या है, इसको भारतवासियोंने आँखोंके सामने ही यूरोपीय महायुद्धमें अच्छी तरहसे देख लिया है। पक्षान्तरमें जिन विदेशीय जनोंके मुखसे आर्यजातिने अपने शास्त्र तथा अपने इतिहासादिकी निन्दाका पाठ पढ़ा था उन्हींके

* English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect.

वंशधर अनेक प्रतीच्य ऐतिहासिक पण्डित आर्यजातीय इतिहास, आर्यजातीय शिल्प-कला, आर्यजातीय सामाजिक व्यवस्था आदिकी पूरी पूरी प्रशंसा कर रहे हैं जिसको पढ़कर हतभाग्य आर्यजातिका अपने स्वरूपके पुनः परिचयमें विशेष सुविधा प्राप्त हुई है। अब विदेशियोंके द्वारा स्वजातीय शास्त्र तथा पूज्यचरण महर्षियोंकी निन्दा सुनकर भारतवासी उन्हींके साथ अनुमोदनसूचक पैशाचिक हास्य नहीं करते हैं। बल्कि स्वजातीय शास्त्रसमूहका यथार्थ तत्त्वानुसन्धान द्वारा विदेशीय अनुदारचित्त पक्षपाती जनोंके भ्रम दूर करनेमें तत्पर हो जाते हैं। प्राचीन आत्मोन्नतिमय आर्यजीवनके आदर्शको नीचा दिखानेमें प्रतिष्ठा या विद्वत्ता नहीं समझते हैं; किन्तु किस प्रकार अविदूरदर्शितापूर्ण विज्ञानमूलक विचारद्वारा आर्यजातिके अनन्तकालस्थायी कल्याणके लिये इसप्रकार सर्वाङ्ग सम्पूर्ण आदर्श निर्धारित किया गयाहै, समस्त जगत्के सामने इसीके रहस्य बतानेमें ही अपनी विद्वत्ता तथा आत्म-प्रतिष्ठा समझते हैं। अतः नवीन भारतके लिये शिक्षा समालोचनका यही सर्वोत्कृष्ट अवसर है।

शिक्षाके लक्ष्य तथा लक्षणवर्णन प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक वस्तुकी मौलिक सत्ताको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्ष्य है। अतः मनुष्यके लिये शिक्षादर्श वही होगा जिसके द्वारा मनुष्यसुलभ निखिल मौलिकता पूर्णतापर प्रतिष्ठित हो सके। अब विचार करनेकी बात है कि मनुष्य-व्यक्ति किन किन बातोंसे मनुष्य कहलाती है। स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपी शरीरत्रय तथा आत्मा, इन चारोंकी समष्टि मनुष्य व्यक्ति है। इनमेंसे आत्मा नित्य तथा अविनाशी है और शरीरत्रय विनाश तथा परिणामधर्मी और आत्माके बन्धनरूप हैं। स्थूलशरीरका मल, सूक्ष्म-शरीरका विक्षेप और कारणशरीरका आवरण ये ही मल, विक्षेप, आवरण, आत्माके तीन पर्दे हैं जिनसे जकड़ा हुआ आत्मा स्वरूपप्रतिष्ठाके पानेमें असमर्थ रहता है। नित्य वस्तुकी उन्नति ही उन्नति है, अनित्य वस्तुको उन्नति निरपेक्ष उन्नति नहीं हो सकती है, परन्तु नित्यवस्तुकी उन्नति सापेक्षताको लेकर की जा सकती है। इस कारण आत्मो-न्नतिसम्पादन ही शिक्षाका यथार्थ लक्ष्य है, परिणामी शरीरत्रयका उन्नतिसाधन निरपेक्ष या आत्यन्तिक पुरुषार्थ नहीं हो सकता है किन्तु आत्माकी पूर्णोन्नतिको लक्ष्य करके उसीके सहायक या साधकरूपसे हो सकता है। अतः आर्यजातिकेलिये शिक्षादर्श वही होगा जिससे आत्माकी पूर्णोन्नति हो सके और उसमें बाधक मल, विक्षेप, आव-रणकी निवृत्ति हो। तीनों शरीरोंमें स्थूलशरीर, मन और बुद्धि इनकी उन्नतिसे ही आवरणत्रयका नाश तथा आत्मोन्नतिमें पूर्ण सहायता हो सकता है। अतः स्थूल

शरीरसे लेकर आत्मापर्यन्तकी पूर्ण उन्नतिके लिये शिक्षादर्शमें चार प्रकारकी शिक्षाओं-का सन्निवेश किया जा सकता है, यथा—

स्थूल शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा, मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा, बुद्धि उन्नति-कारी शिक्षा और आत्मोन्नतिकर शिक्षा। अब नीचे इन चार प्रकारकी शिक्षाओंके विषयमें वर्णन किया जाता है।

शास्त्रमें लिखा है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शारीरिक उन्नतिसाधन ही प्रथम धर्मसाधन है। आर्यशास्त्रमें शरीरके लिये शरीरकी रक्षाका उपदेश नहीं दिया गया है, क्योंकि ऐसा होनेसे स्थूल लक्ष्य होकर मनुष्य पशुभावापन्न तथा इन्द्रियासक्त हो जाता है और आध्यात्मिक लक्ष्यको खो बैठता है। इस कारण आर्य्यशास्त्रमें आत्मोन्नतिसाधनके सहायकरूपसे शारीरिक उन्नतिसाधनका उपदेश दिया गया है। वे सब उपदेश ऋषिनिर्दिष्ट 'सदाचार' के अन्तर्भुक्त हैं इसकारण आचारको प्रथम धर्म कहा गया है। स्थूलशरीरको पुष्ट तथा बलवान् बनानेके लिये पश्चिमी देशोंमें जिस प्रकार व्यायामादिकी विधियाँ देखनेमें आती हैं उनके द्वारा स्थूलशरीरका पोषण होने-पर भी आत्माकी उन्नति उनसे कुछ भी नहीं होती है, प्रत्युत प्राणक्षय, पशुभाववृद्धि, मस्तिष्ककी दुर्बलता तथा आत्मोन्नतिमें यथेष्ट हानि ही होती है। इस कारण महर्षि-प्रदर्शित आर्य्यसदाचारोंका प्रतिपालन ही शारीरिक उन्नतिलाभके लिये सर्वथा उप-योगी है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। आर्य्यसन्तान कभी यह न समझे कि वैषयिक सुखभोगके लिये वह शरीरकी रक्षा या उन्नति कर रहा है, इस प्रकारकी धारणा अना-र्य्यधारणा है और इस प्रकार स्थूलशरीरधारणा भी आत्माका अवनतिकर है। आर्य्य-सन्तानके हृदय में यह धारणा दृढ़मूल होनी चाहिये कि वह शरीरकी उन्नति इसलिये कर रहा है कि शरीरकी उन्नतिसे मनकी उन्नतिमें सहायता होती है और मनकी उन्नति-से आत्माकी साधना उत्तम रूपसे बन सकती है, जिसके परिपाकसे जीव अपने अन्तिम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मौलिक धारणाको हृदयमें रखकर स्थूलशरीरकी उन्नतिप्रद शिक्षा ग्रहण करनेसे स्थूलशरीरपर कदापि अभिनिवेश उत्पन्न नहीं होगा और यह शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा आत्मोन्नतिमें सहायक होकर शिक्षाके यथार्थ लक्षणको चरितार्थ करेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही आर्य्यशास्त्रानुमोदित शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षाका आदर्श है।

अतःपर मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने योगदर्शनभाष्यमें लिखा है—

"चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी,
वहति कल्याणाय वहति पापाय च।"

चित्तनदीका प्रवाह पाप पुण्य दोनोंकी ही ओर है। उसे सम्हालकर पुरुषार्थके साथ पुण्यकी ओर प्रवाहित न करनेसे उसकी पापप्रवणता निःसन्देह ही होगी। पञ्च-तत्त्वोंके सूक्ष्मांशसे उत्पन्न मनमें रजोगुणका विशेष आवेश रहनेके कारण मनका चञ्चल होना—सङ्कल्प करना—स्वाभाविक धर्म है। समस्त संसार, समस्त सृष्टि मानसिक वृत्तिचाञ्चल्यका ही फलरूप है। शास्त्रमें कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही जीवोंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मन बन्धनका तथा निर्विषय मन मोक्षका देनेवाला है। अतः मन ही जब सबका मूल है तो मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षाद्वारा सभी प्रकारकी उन्नति हो सकती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। योगशास्त्रमें चित्तकी समस्त वृत्तियोंको क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक दो भागोंमें विभक्त किया गया है। तमोगुणवृद्धिकारी वृत्तियोंको क्लिष्ट और सत्त्वगुणवृद्धिकारी वृत्तियोंको अक्लिष्टवृत्ति कहते हैं। इनको श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें आसुरी सम्पत्ति करके भी वर्णन किया है, यथा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदाश्रिताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

भयशून्यता, सत्त्वशुद्धि, ज्ञानयोगमें स्थिति, दानशीलता, इन्द्रियदमन यज्ञानुष्ठान, वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरोंकी निन्दा न करना, जीवदया, निर्लोभता, मृदुभाषण, लज्जाशीलता, चाञ्चल्य-शून्यता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमानिता—ये सब दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके गुण हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—आसुरी प्रवृत्ति-वाले मनुष्योंके लक्षण हैं। संसारमें इन्हीं दो प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं, उनमेंसे दैवीप्रवृत्ति मोक्षदायिनी और आसुरीप्रवृत्ति बन्धनकारिणी होती है। आसुरीप्रवृत्ति युक्त मनुष्यगण-प्रवृत्ति निवृत्तिके रहस्यको कुछ भी नहीं जानते हैं और न उनमें शौच,

आचार तथा सत्य ही होता है। वे लोग सृष्टिके मूलमें कोई सत्यवस्तु या ईश्वरको नहीं समझते हैं, केवल कामसे ही सृष्टि बनी है और काम ही सब कुछ है ऐसा कहते हैं। इस प्रकार अल्पबुद्धि, नष्टात्मा पापियोंके द्वारा संसारमें बड़ा ही अनर्थ होता है। वे अदम्य काम तथा दम्भ, मान, मद, मोहके वशवर्ती होकर असद् वस्तुके संग्रहमें सदा सचेष्ट रहते हैं। मरणान्त अपारचिन्तामें मग्न होकर कामभोगको ही सब कुछ समझते हैं; अनन्त आशापाशोंमें बद्ध, कामक्रोधपरायण होकर कामभोगार्थ अन्यायरीतिसे अर्थोपार्जनकी चेष्टा करते हैं; आज मैंने यह पाया है, कल यह मेरी मनोरथपूर्त्ति होगी, यह मेरा धन है और भी आगे मिलेगा, इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरोंको भी मारूँगा, मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस प्रकारसे अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोधको आश्रय करके आसुरी प्रकृतियुक्त मनुष्य सर्वभूतोंमें विराजमान भगवान्से भी द्वेष करते हैं।

मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें यत्नपूर्वक मनसे असुरभावके उन्मूलनकेलिये शिक्षालाभ करना होगा और साथ ही साथ दैवभावकी वृद्धिके लिये पुरुषार्थ करना होगा। सच्चरित्रता, सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, आस्तिकता, सरलता, दया, अस्तेय, अक्रोध, शीलता, धैर्य्य, क्षमा आदि अक्लिष्ट सात्त्विक वृत्तियाँ जिससे दिन प्रति दिन वृद्धिंगत हो सके इसके लिये पूरा प्रयत्न होना चाहिये तभी मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। संसारमें यथार्थ सुख क्या है, इन्द्रियसंस्पर्शजन्य यावतीय सुख परिणाममें दुःखप्रद होनेसे किस प्रकार दुःखरूप ही है, भोगसे त्यागमें किस प्रकार अतिविमल सुख लाभ होता है, इन्द्रियोंके दास बननेकी अपेक्षा इन्द्रियोंके संयममें किस प्रकार सर्वविध उन्नतियोंका गूढ़बीज विद्यमान है, द्वेषसे प्रेममें, मोहसे दयामें, हिंसासे अहिंसामें, जिघांसासे क्षमामें, लोभसे निर्लोभता में, तमोगुणसे सत्त्वगुणमें किस प्रकार अधिक उन्नति और अनुपम आनन्दके उपादान विद्यमान हैं, इन सब बातोंकी शिक्षा तथा निजजीवनमें सर्वथा परिपालन द्वारा ही मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। जिन आदर्श प्राचीन आर्य्यपुरुषोंके चरित्रोंमें मानसिक उन्नतिकी पराकाष्ठा पाई जाती है, ध्यानपूर्वक उनकी जीवनीचर्चा प्रतिदिन नियमितरूपसे करनी चाहिये, तभी आदर्शदर्शनसे अपने जीवनमें भी आदर्श नैतिक उन्नतिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। धर्मराज युधिष्ठिरकी सत्यवादिता, महाराज हरिश्चन्द्रका प्रतिज्ञापालन, भगवान् भीष्म पितामहका ब्रह्मचर्य, महर्षि दधीचिका जगत्-कल्याणके लिये प्राणबलिदान, ध्रुव प्रह्लादका अलौकिक भक्तिभाव, मयूरध्वजकी दानशीलता, महाराणा प्रतापकी स्वदेशसेवा, चित्तौरके वीरोंकी स्वधर्म तथा स्वजाति-सेवामूलक वीरता इत्यादि-इत्यादि आदर्शचरित्र महापुरुषोंकी जीवनियोंका इतिहास

शिक्षाकालमें अवश्य ही बालकोंको हृदयङ्गम कराना चाहिये, तभी उनका भविष्यत् जीवन भौतिक उन्नतिमें पूर्ण होकर देश धर्म तथा जातिके लिये यज्ञहविकी तरह उत्सर्गीकृत हो सकेगा।

दुःखकी बात है कि आजकलकी शिक्षाप्रणालीमें क्या स्कूल कालेज, क्या संस्कृत पाठशाला कहीं भी यथार्थ मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा नहीं दी जाती है, प्राचीन कालमें आचार्य्यकुलमें जिस प्रकार अत्युत्तम शिक्षादर्श विद्यमान था, अर्थकामप्रधान वर्त्तमानयुगमें उसका नामशेष भी नहीं देखनेमें आता है। आचार्य्यकुलमें निखिलशास्त्रनिष्णात आचार्यदेव अपने अन्तेवासी शिष्यको केवल वेदार्थका ही पण्डित नहीं बनाते थे, किन्तु वेदमयजीवन शिष्यका जैसे बन जाय इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करते थे, शिष्यको वैखरी विद्याके पण्डित बनानेकी अपेक्षा अध्यात्मविद्याके पण्डित बनानेके अर्थ अधिक पुरुषार्थ करते थे। उसके हृदयमें दैवीसम्पत्ति की प्रतिष्ठाके लिए मानसिक उन्नतिकी समस्त साधनाओंका उपदेश करते थे। यही कारण है कि प्राचीन कालमें आचार्यकुलसे प्रत्यागत स्नातक ब्रह्मचारी इतने विद्वान् चरित्रवान् तथा कुलभूषण बन कर मनुष्य जीवनकी अति उच्चतम कोटि पर प्रतिष्ठालाभ कर सकते थे। आज प्राचीन कालके ये सब शिक्षादर्श स्वप्नप्राय होगये हैं, आजकल सभी विद्यालयोंमें केवल अर्थोपार्जनके साधकरूपसे विद्या पढ़ी पढ़ाई जाती है। अध्यापकगण वृत्ति लेकर पाठ्यग्रन्थोंका केवल अक्षरज्ञान करा देनेमें ही अपने कर्त्तव्यकी परिसमाप्ति समझते हैं। उनके छात्र किस चरित्रके हैं, किस प्रकारके सङ्गमें रहते हैं, पठित उपदेशोंके अनुसार अपनी जीवनचर्य्याको कहांतक नियमित करते हैं या कर सकते हैं, उनकी नैतिक जीवनोन्नति, मानसिक उन्नति या अवनति कितनी हो रही है, उसमें क्या-क्या सुधार होने चाहिये, इन अति आवश्यकीय विषयोंके प्रति वृत्तिभोगी अध्यापकोंका कुछ भी ध्यान नहीं रहता है और न वे इस प्रकार ध्यान रखनेको अपने अध्यापकीय कर्त्तव्यके अन्तर्गत ही समझते हैं। इसके सिवाय मातापिता आदि अभिभावकगण भी अपनी सन्तानोंकी मानसिक उन्नतिकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते हैं। उनमें प्रधानतः यही इच्छा रहती है कि उनके लड़के किसी प्रकारसे परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रचुर अर्थ उपार्जन करने लग जायँ। वह अर्थोपार्जन किस रीतिसे होता है और उसमें पुत्रका आध्यात्मिक पतन कितना हो रहा है, इस ओर मातापिताका ध्यान विरल ही आकृष्ट होता है। अतः अध्यापक तथा अभिभावक किसीसे भी प्ररोचना न मिलनेके कारण छात्रोंकी समस्त विद्या अर्थकरी विद्यामें ही परिणत हो जाती है। क्या संस्कृत पाठ्यपुस्तक, क्या दार्शनिक ग्रन्थ, क्या अन्यदेशीय ग्रन्थसमूह—किसीको भी छात्र उपदेशलाभके तौरपर या जीवन बनानेके साधनके तौरपर

नहीं पढ़ते हैं, केवल तोतेकी तरह कण्ठस्थ करके परीक्षा पास करनेके लिये पढ़ा करते हैं। लड़के वेदान्ततीर्थ बनकर भी विषयी ही रहते हैं, योगाचार्य्य होकर भी साधनशून्य ही रहते हैं, विदुरनीति कण्ठ करके भी अतिहीन नैतिक जीवनयापन करते हैं, वर्क, मेकले, शेरिडनको पढ़कर भी राजनैतिक जीवनकी योग्यता नहीं आती, वेकन, स्पेन्सर, सोपेन्हर आदिके चिन्तापूर्ण ग्रन्थोंके पाठसे भी नैतिक जीवन उन्नत नहीं होता, अर्थ-कामके पीछे पागल हो जाना ही सबका अन्तिम परिणाम हो जाता है। यही कारण है, कि वर्त्तमान समयके शिक्षालयमें प्रचलित शिक्षाप्रणाली द्वारा मानसिक उन्नतिका कुछ भी साधन नहीं बनता है। शिक्षालयमें प्रचलित शिक्षादर्शका सुधार होना चाहिये और मानसिक उन्नतिप्रद यथार्थ शिक्षादर्शका पुनः प्रवर्त्तन होना चाहिये।

बुद्धिउन्नतिकारी शिक्षादर्शके विषयमें अवश्य यह स्मरण रखने योग्य है कि:—

"या लोकद्वयसाधिनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।"

जिस बुद्धिबलसे इहलोक परलोक दोनोंमें ही कल्याण लाभ हो, वही बुद्धि पूर्णोन्नत है, अतः शिक्षाके आदर्शमें भी ऐसी ही विधियाँ होनी चाहिये। बुद्धिविकाशका प्रथम लक्षण शिल्पकलाकी प्रतिष्ठा है। अपरा विद्याके अन्तर्गत जितने विषय हैं, जिनसे इहलोकमें अर्थ-कामका प्रचुर आहरण हो सकता है, बुद्धिविकाशके प्रथम लक्षणमें वे सभी गिने जाते हैं। तदनन्तर बुद्धि इहलोकके स्थूल विषयोंको भेद करके अतीन्द्रिय सूक्ष्मजगत्में जब प्रवेश करती है, तब प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक, पितृलोक, देव-लोक आदिके रहस्यनिर्णय तथा तत्त्वान्वेषण करनेमें प्रवृत्त हो जाती है और तदनन्तर योगकी सहायतासे बुद्धि जब अलौकिक ऋतम्भरा प्रज्ञाके स्वरूपको प्राप्त हो जाती है, तभी उस अलौकिक योगयुक्त बुद्धि द्वारा परमात्माका पता लगने लगता है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है:—

"दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।"

अतीन्द्रियदर्शी योगिगण अलौकिक योगबुद्धि द्वारा परमात्माका दर्शन करते हैं। इस प्रकारसे बुद्धिविकाशके राज्यमें बुद्धिकी लोकद्वयप्रसाधिनी चतुरता कार्यकारिणी हुआ करती है। अतः बुद्ध्युन्नतिविधायक शिक्षादर्श भी इसी क्रमसे नियमित होना चाहिये। यद्यपि धनसंग्रह करना जीवनका आत्यन्तिक लक्ष्य नहीं है, तथापि शरीरयात्रा निर्वाह और देश तथा समाजके स्थूल अभाव दूर करनेके लिये धनकी विशेष आवश्यकता रहती है। इसलिए धनागमके साधन रूपसे लौकिक जगत्में बुद्धिका विनियोग अवश्य ही होना चाहिये। पूज्यपाद महर्षियोंने इसी उद्देश्यपूर्तिके अर्थ हिन्दू-समाजमें वैश्यजातिका

वाणिज्यादि स्वाभाविक कर्त्तव्य निर्देश किया था। देश-विदेशमें जाकर वाणिज्य करना, वाणिज्यश्रीवृद्धिके लिये नवीन-नवीन उपाय उद्भावना, करना, अर्णवयान, वाष्पीय पोत, तरणी आदि समुद्रयात्राके लिये निर्माण करना, अन्यान्य स्थलयानोंको भी निर्माण करना, आधिभौतिक विज्ञानोन्नति द्वारा नाना प्रकारके शिल्पवाणिज्योन्नतिप्रद यन्त्र निर्माण करना, कृषिकार्यमें उन्नति करना इत्यादि-इत्यादि स्थूलसम्पत्तिलाभके लिये समीकी आवश्यकता है। अतः बुद्धिको लौकिकव्यापारमें उन्नत करके व्यावहारिक श्रीवृद्धिसम्पादन अवश्य ही करना चाहिये। अवश्य इतना विचार रखना चाहिये कि इस प्रकार अर्थकामका सञ्चय धर्ममोक्षका बाधक न हो किन्तु केवल स्थूल अभाव विदूरित करके धर्ममोक्षका पूर्ण सहायक हो। इसके अनन्तर बुद्धि जब कुछ भावराज्यमें प्रवेश करके उसका आस्वादन लेना चाहती है तो काव्यकला, चित्रकला, सङ्गीतकला आदिका विकाश होता है। इन सब कलाविद्याओंके विकाशके समय बुद्धि स्थूल ऐन्द्रियिक सुखसे भावराज्यके सूक्ष्म आनन्दको अधिक मूल्यवान् जानकर उसीमें मग्न होती है। अतः इस दशामें उन सब विद्याओंकी यथेष्ट उन्नति होना स्वाभाविक है। तदनन्तर धीरे-धीरे बुद्धिको यह पता लगता है कि इहलोक ही सब कुछ नहीं है, मृत्युके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता है किन्तु इससे परे और कुछ अवश्य ही होगा। इस प्रकार प्रश्नोंका उदय अपने भीतर होनेसे ही परलोकके विषयमें मनुष्यबुद्धि-की अनुसन्धित्सा होने लगती है जिसके परिपाकमें सूक्ष्मजगत्में बुद्धिका प्रवेश अवश्य-म्भावी है। यही अतीन्द्रियजगत्में प्रवेशानुरागपरायण बुद्धि धीरे-धीरे तप तथा साधना द्वारा अतिसूक्ष्मताको अवलम्बन करती हुई अन्तमें आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त हो जाती है। इस आत्मानुसन्धानका चरम फल ही स्वरूपोपलब्धि है जिसके विषयमें आगे कहा जायगा। अतः सिद्धान्त यह निकला कि बुद्ध्युन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्धिचालना ही परमश्रेयस्कर तथा शिक्षादर्श नामको सार्थक्य देनेवाली है।

सकल उन्नतिके ही मूलमें धर्मोन्नति है। बिना धर्मोन्नतिके पूर्ण सम्पादन किये न शारीरिक उन्नति हो सकती है, न मानसिक उन्नति हो सकती है और न बुद्धिकी ही उन्नति हो सकती है। मनुष्य-प्रकृतिमें देवभावसे असुरभाव अधिक बलवान् होनेके कारण मनुष्यका शरीर, मनुष्यकी इन्द्रियाँ, मन या बुद्धि सदा पापकी ओर ही जानेको उद्यत रहती है। केवल धर्म ही मनुष्यके भीतर कर्त्तव्यनिष्ठता, संयमका सुफल, इन्द्रिय-परताका कुपरिणाम, विषयसुखकी तुच्छता तथा पापमय जीवनसे परलोकमें दुःख आदि दूरदर्शितापूर्ण दैवभावोंको उत्पन्न करके जीवचित्तमें असुरभावको नियमितरूपसे दबाये रहता है जिससे शारीरिक, मानसिक तथा बुद्धि सम्बन्धीय सभी उन्नति मनुष्योंके लिये

सुसाध्य हो जाती है। मनुष्य शारीरिक व्यायाम चाहे कितना ही क्यो न करे यदि तपोमूलक इन्द्रियनिग्रह न हो, शरीरको इन्द्रियोंके दास बननेसे रोक न सके, तो यथार्थमें शारीरिक उन्नति मनुष्योंकी कदापि न होगी। उसी प्रकार मनका निग्रह भी धर्मके बिना कदापि नहीं हो सकता। धर्म ही मनुष्यको सुकर्म-कुकर्मका परिणाम दिखाता है और बताता है कि पुण्यपरिपाकसे स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकार अलौकिक दिव्यसुख प्राप्त होता है और पापके फलसे प्रेतशरीरप्राप्ति तथा नरकादि लोकोंमें किस प्रकार भीषण दुःख भोगना पड़ता है। धर्म ही मनुष्यको बताता है कि उत्तम, मध्यम, अधम प्रत्येक क्रियाकी किस-किस प्रकार प्रतिक्रिया हुआ करती है; किस प्रकारसे सत्पात्रमें धनदान करनेपर मनुष्य आगामी जन्ममें प्रचुर धनलाभ करता है और धनका अपव्यवहार, असदुपायसे धनार्जन या यक्षकी तरह धनसञ्चय करने पर आगामी जन्ममें महादरिद्र हो जाता है; किस प्रकारसे प्राणियोंकी वृथा हिंसा करने पर अल्पायु तथा रोगी होता है और भूतदयाके द्वारा दीर्घायुलाभ तथा पुण्यसञ्चय कर सकता है; किस प्रकारसे चक्षुरादि इन्द्रियोंका शास्त्रानुकूल उपयोग करनेपर दिव्यचक्षुलाभ, मानसिकशक्तिलाभ आदि कर सकता है और दुरुपयोगसे मानसिकशक्तिहीनता, दृष्टिशक्तिहीनता, बधिरता आदि अवश्य प्राप्त होती है, किस प्रकारसे तपस्या द्वारा अपूर्वशक्तिलाभ तथा असंयम द्वारा सकल प्रकारकी हानि होती है इत्यादि-इत्यादि विचारोंके द्वारा यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि बिना धर्मोन्नतिके कोई भी उन्नति चिरकालस्थायी तथा यथार्थमें उन्नतिपद-वाच्य नहीं हो सकती है। इसी प्रकार लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्ध्युन्नतिके मूलमें भी धर्मोन्नति गूढ़रूपमें निहित है। मनुष्य धर्मसंस्रवके बिना भी केवल लौकिक चातुरीके द्वारा लौकिक जगत्में थोड़े दिनके लिये चमत्कार दिखा सकता है किन्तु इस प्रकार चमत्कार भावी घोर अन्धकारका ही सूचक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है; क्योंकि धर्महीन बुद्धिकौशल केवल दूसरेको प्रतारित करके लौकिक अर्थकामसिद्धिमें ही पर्यवसानको प्राप्त हो जाता है। उसमें उन्नत बुद्धिमान् वही कहलाता है जिसने नरहत्या, परधन-लुण्ठन या परपीड़नके लिये जितना सीधा तथा सहजसाध्य उपाय निकाला हो। कुछ दिनसे पश्चिम देशमें भी इस प्रकार धर्महीन लौकिक राजनीति आदि सम्बन्धीय बुद्धि-चातुरी चली हुई है और उसका अवश्यम्भावी परिणाम अशान्ति, नरहत्या, दुःख दारिद्र्य, राजनैतिक विप्लव तथा जातीय महासंग्राम प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः सिद्ध हुआ कि धर्मके मूलमें न रहनेसे इहलोकप्रसाधिनी बुद्धि अपूर्ण, अनर्थकर तथा अशान्तिप्रसविनी ही होती है और परलोकप्रसाधिनी बुद्धिके विषयमें तो कहना ही क्या है! इस बुद्धिका विकाश तो धर्मबुद्धिके बिना कदापि हो ही नहीं सकता है; क्योंकि

धर्मके विना न परलोकमें ही विश्वास होता है और न आत्माके अस्तित्वमें ही विश्वास होता है और जहाँ विश्वास नहीं है वहाँ सिद्धि भी कदापि नहीं हो सकती है, जैसा कि शिवसंहितामें लिखा है—

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।

'होगा' यह विश्वास ही सिद्धिलाभका प्रथम लक्षण है। इस कारण क्या शारीरिक उन्नति, क्या मानसिक उन्नति, क्या बुद्धितत्त्वकी लोकद्वयप्रसाधिनी उन्नति सभीके लिये धर्मोन्नति ही एकान्त मूल कारण है इसमें बिन्दुमात्र संशय नहीं है। अतः शिक्षादर्शके भीतर धर्मशिक्षाका अन्तर्निवेश अवश्य ही होना चाहिये। प्रथमतः कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, नित्यनैमित्तिककाम्य-कर्मरहस्य, निर्गुण उपासना, सगुण पञ्च-देवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि-देव-पितृउपासना, आत्मानात्मविचार आदि धर्मके सर्वसाधारण सर्वलोकहितकर साधारण अङ्गोंकी शिक्षा अवश्य ही होनी चाहिये। तदनन्तर वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्य्यधर्म, अनार्यधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, आपद्धर्म, असाधारणधर्म आदि विशेषधर्मके विविध विभागोंकी शिक्षा पूर्णरूपसे देनी चाहिये। साथ ही साथ धर्मशिक्षाप्राप्त स्त्री पुरुष केवल धर्मविषयक अक्षरज्ञानमें ही सन्तुष्ट न होकर अपनी जीवनचर्या तथा दिनचर्यामें जिससे उन सब धर्माङ्गोंका अनुष्ठान करें इस विषयमें पूर्ण ध्यानयुक्त तथा पूर्ण उद्यमशील होना चाहिये, तभी सकल उन्नतिके मूलमें वास्तविक धर्मोन्नति प्राप्त हो सकेगी।

पूर्वकथित विषयको निम्नलिखित रूपसे भी समझ सकते हैं, कि मनुष्य एक पूर्णत्वावयव जीव है। उसकी पूर्णता उसके पञ्चकोषकी पूर्णताके साथ ही साथ होती है। प्रथम उद्भिज्ज जीवमें केवल अन्नमय कोषका विकाश होता है। स्वदेज श्रेणीके जीवमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश होता है। तीसरे श्रेणीके अर्थात् अण्डज जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश होता है। चतुर्थ श्रेणीके अर्थात् जरायुज जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंका विकाश होता है और पञ्चमश्रेणीके अर्थात् मनुष्य जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पञ्चकोषोंकी अभिव्यक्ति होकर जीवक्रमोन्नतिकी पूर्णता होती है। वस्तुतः मनुष्य शरीरमें पाँचों कोषोंकी पूर्णता होनेसे ही मनुष्य पूर्णावयव जीव समझा जाता है। सुतरां मनुष्यकी पूर्णता तभी समझी जायगी, जब मनुष्यमें पाँचों कोषोंकी पूर्णताके लक्षण प्रकाशित हो सकें। मनुष्ययोनिमें पहुँचते ही यद्यपि पाँचों कोषोंका विकाश हो जाता है तथापि उनकी पूर्णता नहीं होती है। अस्तु, शिक्षाके

द्वारा उसमें पाँचों कोषोंकी पूर्णता सम्पादन कर देना ही उत्तम तथा पूर्ण शिक्षाका लक्षण कहलावेगा। एकमात्र धर्मको अपने सम्मुख रखकर शिक्षाप्रणालीको प्रकाशित करनेसे ही यह सफलता हो सकती है। इस विज्ञानका बहुत कुछ वर्णन आर्यजातिके मीमांसाशास्त्रमें किया गया है। इस विज्ञानकी पर्यालोचना करनेसे भलीभाँति प्रकट होगा, कि इस समय पृथिवीके अन्यदेशवासियों में जो नानाप्रकारकी पदार्थविद्यारूपी सायन्स शिक्षाका प्रचार हो रहा है, उनका भी यथायोग्य समावेश इस शिक्षाप्रणालीके यथायोग्य स्थानमें हो सकता है और साथ ही साथ मनुष्य पञ्चकोषोंकी पूर्णता प्राप्त करके पूर्ण मनुष्यत्व लाभ कर सकता है। स्वास्थ्यकी रक्षा, वीर्य्यकी रक्षा, सदाचारका पालन आदि द्वारा अन्नमयकोष क्रमशः पूर्णताकी ओर अग्रसर हो सकता है। यदि किसी जातिका प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार सदाचारादिका पालन करे, तो वह जाति भी सदाचारिणी होगी, इसमें सन्देह नहीं। जितने प्रकारके बल हैं, उन बलोंके संग्रहसे एक मनुष्य अथवा मनुष्यजाति अपने प्राणमयकोषकी पूर्णता सम्पादनमें समर्थ होते हैं। जिस प्रकार धनबल, जनबल आदि द्वारा एक मनुष्य शक्तिशाली कहाता है, उसी प्रकार एक मनुष्यजाति ऐश्वर्य्यबल तथा सेनाबल आदि द्वारा शक्तिशालिनी कहाती है। यही प्राणमयकोषकी पूर्णताका साधारण लक्षण है किन्तु यह व्यक्तिगत या जातिगत बल भी धर्ममूलक अवश्य होना चाहिये। नहीं तो यही बल अनर्थ तथा अधःपतनका कारण हो जायगा जैसा कि आज दिन अनेक मनुष्य तथा मनुष्य-जातियोंमें देखनेमें आ रहा है। आज दिन यूरोपमें धर्मलक्ष्यहीन बलसञ्चयका ही कारण है, कि इस समय वह महादेश ईर्ष्याद्वेषमूलक युद्धकी दावाग्निमें भस्म होनेको प्रस्तुत हो रहा है। इस समयके अन्य सभ्य देशोंकी शिल्पोन्नति, वाणिज्योन्नति, पदार्थविद्या-रूपी सायन्सकी उन्नति, सामाजिक उन्नति, तथा नानाप्रकारकी ऐश्वर्योन्नति जो कुछ दिखाई दे रही है, वे सब अन्नमय और प्राणमयकोष सम्बन्धीय उन्नति ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है। उन जातियोंकी दृष्टि अभीतक अन्य कोषोंकी उन्नतिकी ओर पड़ी ही नहीं है, यह मानना ही पड़ेगा। वस्तुतः उनकी यह उन्नति यदि धर्ममूलक होती, तो आज यह मृत्युलोक स्वर्गलोक तुल्य हो जाता। दर्शनशास्त्रीय उत्तम शिक्षाके साथ ही साथ मनोमयकोषकी उन्नतिका पथ प्रशस्त होता है और तत्पश्चात् विज्ञानमयकोषकी उन्नति करता हुआ मनुष्य आनन्दमयकोषकी पूर्णता सम्पादन करके पूर्णावयव मनुष्य बन जाता है। उस समय वह पूर्णावयव मनुष्य या मनुष्यजाति वसुधाको ही अपना कुटुम्ब समझकर अपनेको भी कृतकृत्य करता है और समग्र जगत्को कृत्यकृत्य करता है। इस प्रकारसे धर्मको साथ लेकर यदि

शिक्षाप्रणाली नियोजित की जाय, तभी शिक्षाका यह आदर्श फलीभूत हो सकता है।

धर्मोन्नतिकी चरम सीमा आत्मोन्नति है और इस उन्नतिमें ही सकल उन्नतिकी पराकाष्ठा तथा पर्यवसान है; यथा—याज्ञवल्क्यसंहितामें "अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"—योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है; किन्तु आत्माकी उन्नति यह शब्द बहुत ही गौरवग्रस्त है क्योंकि आत्मा तो सदा ही स्वतः उन्नत, ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश और स्वतः पूर्ण है। अवनत वस्तुकी उन्नति सम्भव हो सकती है, जो वस्तु स्वयं ही उन्नत है उसकी उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये 'आत्मोन्नति' शब्दके द्वारा यही समझना शास्त्रानुकूल होगा कि आत्माको अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित देखना ही पूर्ण आत्मोन्नतिसाधन है। आत्माको अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित देखनेके विषयमें प्रकृति ही अन्तरायरूपिणी है। प्रकृति ही निज परिणामोत्पन्न त्रिविध शरीर द्वारा मलविक्षेप आवरणरूपी तीनों अन्तरायोंकी सृष्टि करके साधकके दृष्टिपथसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्रच्छन्न रखती है। अतः आत्माके ऊपरसे मलविक्षेप आवरणको दूर करना ही यथार्थ आत्मोन्नतिसाधन है। स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्म शरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण है। वेदविहित कर्मानुष्ठान द्वारा स्थूल शरीरका मल नाश होता है, उपासनाके द्वारा सूक्ष्मशरीरका विक्षेप नाश होता है और ज्ञानके द्वारा कारणशरीरका अविद्यावरण दूरी भूत होनेपर तभी आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। अतः कर्म-उपासना ज्ञानके नियमित अनुष्ठान द्वारा ही पूर्ण आत्मोन्नति हो सकती है। आत्मा सत् चित् आनन्दरूप हैं। उनकी सत् सत्ता विराट् विश्वके भीतर एकरस अद्वितीय परिणामहीन मौलिक सत्तारूपसे सदा विद्यमान है। यह सत्सत्ता देशकालवस्तुसे अपरिछिन्न है, किन्तु जीवकी सत्सत्ता देशकालवस्तुके द्वारा सदा परिच्छिन्न है। साधक निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा धीरे धीरे अपनी सत्सत्ताको बढ़ाता हुआ अन्तमें विश्वव्यापिनी विराट् सत्सत्ताके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकं' भावसे अपनी एकता कर सकता है। इस प्रकारसे साधकको परमात्माकी सत्सत्ताकी उपलब्धि होती है। उपासनाके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके आनन्दमय परमात्मामें जब साधक प्रतिष्ठालाभ करता है तब उसको परमात्माकी आनन्दसत्ताकी उपलब्धि होती है और ज्ञानकी सहायतासे आत्मानात्म विचार करके राजयोगसिद्ध योगी जब निर्विकल्प समाधि पदवी पर प्रतिष्ठालाभ करते हैं तभी उनको निर्गुण ब्रह्मकी चित्सत्ताकी उपलब्धि होती है। अनात्माका आवरण जन्मजन्मान्तरगत अध्यासके कारण बहुत ही प्रगाढ़ है इसलिये एकाएक उसका उन्मोचन होना कदापि सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण वेदानुमोदित

सप्तदर्शनशास्त्रोंने अपनी अपनी ज्ञानभूमियोंके अनुसार आवरण मोचनार्थ उपाय बताकर अपना दर्शन नाम कृतार्थ किया है। प्रथमतः नास्तिक्यभूमिमें देहसे आत्माकी पृथक्ता ही मनुष्यको मालूम नहीं होती है। इसी कारण चार्वाक लोकायतिक आदि नास्तिकोंके मतानुसार शरीर ही आत्मा है और देहनाशसे ही आत्माका नाश है। इस नास्तिक भूमिसे मुमुक्षुकी बुद्धि जब कुछ आगे बढ़ती है, तब न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी ज्ञानभूमि द्वारा उसका यह अनुभवमें आजाता है कि आत्मा स्थूलदेह नहीं है, उससे अतिरिक्त है और इच्छा द्वेष सुख दुःख प्रयत्न आदि आत्माके धर्म हैं। इस प्रकारसे प्रथम दो ज्ञान भूमियोंकी सहायतासे ज्ञानपथानुगामी मुमुक्षुका आत्मा स्थूल-देहके अभिनिवेशसे मुक्त हो जाता है;किन्तु न्यायवैशेषिक ज्ञानभूमिमें आत्मा स्थूलशरीरके अभिनिवेशसे मुक्त होनेपर भी सूक्ष्मशरीरके अभिनिवेशसे मुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न आदि अन्तःकरणधर्मके साथ इन दो भूमियोंमें आत्माको मिलाये देखनेका अधिकार रहता है। तदनन्तर आत्मा और भी उन्नत होकर जब योग-सांख्यकी ज्ञानभूमियोंमें पहुँचता है तब इच्छाद्वेषादिको अपना धर्म न समझकर प्रकृतिका धर्म समझता है, अपनेको निःसङ्ग नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावमें समझता है, केवल बन्धनका उपचार और इसी औपचारिक बन्धन-दशामें लौहित्योपचारयुक्त स्फटिकमणिकी तरह अपनेमें सुख दुःखादिका मिथ्या आभासमात्र समझता है। इस प्रकारका मिथ्या आभास या उपचार चित्तवृत्तिनिरोध अथवा विवेक द्वारा विदूरित करके अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें अवस्थान करना योग तथा सांख्यज्ञान-भूमियोंके अनुसार आत्माकी मुक्ति है। इस प्रकारसे योगसांख्य-भूमियोंमें प्रतिपिण्डावच्छिन्न पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठा होनेपर भी आत्माकी सर्वव्यापक सत्ताकी उपलब्धि इनमें नहीं होती है। इसलिये अन्तिम तीन भूमियोंके तीनों दर्शनोंके द्वारा कार्यब्रह्मके साथ साधनबलसे कारणब्रह्मकी क्रमशः एकत्वोपलब्धि होती है। तदनुसार कर्ममीमांसादर्शनभूमिमें 'जगत् ही ब्रह्म है' यह उपलब्धि होती है, दैवीमीमांसादर्शनभूमिमें 'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् ब्रह्म ही जगत् है, यह उप-लब्धि होती है और ब्रह्ममीमांसादर्शन भूमिमें प्रपञ्चका पूर्णविलय होकर जीवब्रह्मकी एकत्वोपलब्धि होती है, उस समय सिद्ध योगी आत्माके मायातीत यथार्थ ब्रह्मस्वरूप-की उपलब्धि कर कृतकृतार्थ होते हैं। अविद्या विद्या दोनोंसे अतीत परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार करके उनकी समस्त विद्या परिसमाप्तिको प्राप्त हो जाती है। इसी आत्मस्वरूपोपलब्धिमें आत्मोन्नतिकी पराकाष्ठा है और आर्य्यशास्त्रसम्मत शिक्षादर्शकी पूर्णचरितार्थता है। शारीरिक उन्नति, मानसिक उन्नति, बुद्ध्युन्नति,

नैतिक उन्नति, धर्मोन्नति, लौकिक उन्नति, अलौकिक उन्नति, सभी उन्नति इस अन्तिम उन्नतिके लिये साधन तथा सहायकमात्र है। अतः विशेष विचारपूर्वक आर्य्यसन्तानोंका शिक्षादर्श इस प्रकारसे निर्द्धारित करना चाहिये जिससे प्रवीण पितापितामह पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार आर्य्यसन्तानगण यथार्थ शिक्षाको लाभ करके अपने जीवन तथा सामाजिक जीवनको सफल कर सकें, यही आर्य्यशास्त्रसम्मत शिक्षादर्शका विचार है।

आर्य्यपुरुषोंके लिये शिक्षादर्शका निर्णय करके अब आर्य्यनारियोंके लिये शिक्षादर्शका निर्णय किया जाता है। स्त्री जातिको मूर्खा न रखकर उन्हें सुशिक्षा देनी चाहिये इस विषयमें 'नवीन भारत'में बहुत कुछ आन्दोलन हो रहा है। "कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः" इत्यादि वचनोंके द्वारा स्त्रीशिक्षाके विषयमें हिन्दुशास्त्रमें प्रोत्साहन तो मिलते हैं, किन्तु किस प्रकारकी शिक्षा स्त्रीजातिके लिये यथार्थ शिक्षालक्ष्यको सार्थक कर सकती है, इस विषयमें बहुत विचार करके तब स्त्रीजातिके लिये शिक्षादर्श निर्णय करना चाहिये। अन्यथा सुफलके बदले कुफल ही होगा इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। दुःखकी बात है कि नवीनभारतमें स्त्रीजातिकी शिक्षाके लिये जितने प्रकारके उपाय किये जाते हैं उनमेंसे अधिकांश उपाय ही असम्पूर्ण, दोषयुक्त तथा शिक्षादर्श बिगाड़नेवाले हैं। अतः इस विषयमें विशेष विचार तथा सावधानताके साथ कर्त्तव्यपथमें अग्रसर होना चाहिये।

पहले ही कहा गया है, कि शिक्षाका लक्ष्य अन्तर्निहित मौलिकताका उद्बोधनमात्र है। इसलिये स्त्रीजातिकी शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये, जिससे वह भविष्यत्में पतिव्रता सती, आदर्शगृहिणी और अच्छी माता बन सके।

पूज्यपाद महर्षिगण आर्य्यपुरुषोंकी शिक्षाप्रणालीके विषयमें यही मौलिक उपदेश दे गये हैं, कि वर्णाश्रमधर्म्मकी बीजरक्षाकी शिक्षाप्रणाली सहायक हो, कि जिससे आर्यजाति कालके प्रवाहमें बहकर अन्य जातियोंकी तरह नष्ट न हो जाय और चिरजीवी हो सके। आर्यपुरुषोंकी शिक्षा उनकी सामाजिक परिस्थितिके अनुसार विभिन्न रीतिपर दी जाय, सब वर्ण और सब अधिकारके मनुष्योंको एक ही मार्गमें चलाकर सामाजिक विशृङ्खलता न उत्पन्न की जाय। उनकी दृढ़ आज्ञा थी, कि शिक्षाप्रणाली धर्ममूलक हो और उसका अन्तिम लक्ष्य वसुधाका अपना मानकर रागद्वेषसे मुक्त होकर मनुष्य भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर सके। आर्यमहिलाओंकी शिक्षाप्रणालीके विषयमें सब महर्षियोंका सिद्धान्त यह है, कि जिस प्रकार बीज और पृथिवीमें आकाशपातालका प्रभेद है, उसी प्रकार पुरुषके अधिकार तथा नारीके अधिकारमें आकाश-

पातालका सा अन्तर है। जिस प्रकार उद्भिज्जसृष्टि उत्पन्न करनेके लिये बीजकी प्रधानता रहनेपर भी भूमिकी पवित्रता तथा उत्तम कर्षण होनेकी परम आवश्यकता है, उसी प्रकार नारीधर्मके अनुसार आर्यमहिलाको यथायोग्य शिक्षा देनेकी विशेष आवश्यकता है। आर्यमहिलाको स्वधर्मानुकूल उत्तम शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। और जिससे वे अपने-अपने पतिके स्वधर्म तथा स्वकर्त्तव्य साधनमें सहयोगिनी और सहकारिणी बन सकें, इसका पूरा विचार रखना उचित है। परन्तु उनको पुरुषभाव उत्पन्नकारी शिक्षासे सर्वथा बचाना उचित है। नहीं तो यूरोपकी वर्त्तमान दुरवस्थाका अभिनय भारतवर्षमें भी होना अवश्यम्भावी है। इस विषयमें विस्तृत वर्णन तथा शिक्षणीय विषयोंका निर्देश 'नारीधर्म' नामक प्रबन्धमें किया जा चुका है।

यही पूज्यपाद महर्षियोंके मतानुसार आर्यनरनारियोंका शिक्षादर्श है। इसके अनुसार शिक्षादर्शके नियोजित तथा नियमित करनेसे आर्यजाति शिक्षालक्ष्यको अवश्य ही चरितार्थ कर सकेगी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अष्टम काण्डकी षष्ठ शाखा समाप्त हुई।

राजनैतिक जगत्।

आजकल भारतकी राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही विचित्रता तथा परिणामसे पूर्ण दिखाई देती है। एक ओर आत्माकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता निजस्वरूप तथा उसकेलिये हार्दिकी आकाङ्क्षा प्रकट किये बिना नहीं रहती है और दूसरी ओर विजातीय स्वार्थपरता आत्माको इस नैसर्गिक अधिकारसे वञ्चित करनेके लिये अनुदार दमननीतिके अवलम्बन किये बिना नहीं रहती है। इन दोनों परस्पर विरुद्ध भावोंके भीषण संग्राम द्वारा नवीन-भारतमें राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही कोलाहलपूर्ण, अशान्तिप्रद तथा भविष्यत्के लिये भयजनक बन रही है। इस अशान्तिसे भारतको बचाकर राजनैतिक संसारमें शान्ति स्थापन करनेकेलिये वर्त्तमान देशकालपात्रकी प्रकृतिके अनुसार पूज्यपाद महर्षियोंने क्या क्या उपदेश दिया है उसीका ही दिग्दर्शन कराना प्रकृत प्रबन्धका विवेच्य विषय है। अब नीचे इस विषयपर क्रमशः विवेचन किया जाता है।

आर्यशास्त्रमें आत्माको नित्यमुक्त, स्वराट् तथा स्वाराज्यमें विराजमान कहा गया है। श्रीमद्भागवतके पहले ही श्लोकमें—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'

इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् वेदव्यासने आत्माको नित्यमुक्त स्वराट् कहा है। आत्मा नित्यमुक्त है। जीव जब तक मायाकी प्रतारणामें पड़कर आत्माके इस नित्यमुक्त स्वभावको अनुभव नहीं करता है तभी तक जीवका बन्धन तथा आवागमन-चक्र बना रहता है। तभी तक जीवको परिणामशील संसारमें अनेक प्रकारके दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु आत्माके नित्यमुक्त, स्वराट्, स्वराज्यमें विराजमान स्वरूपको देखते ही जीवका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है और तभी जीव अपनेको ब्रह्म जानकर नित्यानन्दमय हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वराज्यप्राप्तिमें आत्माका नैसर्गिक अधिकार (Natural right, birth right) है और स्वराज्यप्राप्ति तथा परतन्त्रताको दूर करना ही सकल सुखोंका निदान है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने सुख-दुःखका लक्षण निर्णय करते समय अपनी संहितामें कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
इत्युक्तं हि समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

सकल प्रकारकी परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता एकमात्र सुखनिदान है, संक्षेपसे सुखदुःखका यही लक्षण जानना चाहिये। आत्मा नित्य-स्वतन्त्र है, जीव वही आत्मास्वरूप है, अतः सुख तथा स्वतन्त्रताकेलिये जीवकी इच्छा क्यों नहीं होगी ? अवश्य होगी। क्योंकि जो जिसका नैसर्गिक स्वरूप है उसकेलिये उसकी नैसर्गिक हृदयकी आकांक्षा होनी और बनी रहनी स्वाभाविक है। जन्मसिद्ध अधिकार (Birth right) तथा स्वाभावसिद्ध अधिकार (Natural right) के लिये लालसा अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसके बिना जीवका अस्तित्व ही वृथा है, क्योंकि स्वाधीन आत्माने यदि अपनी स्वाधीनताका ही अनुभव न किया तो उसके अस्तित्वका कोई भी प्रयोजन नहीं रह सकता है। यही कारण है कि सभी जीव स्वतन्त्रता अर्थात् स्वराज्यको चाहते हैं। अब जीवको यह स्वाराज्य, यह स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त होती है सो ही विवेच्य है। मनुसंहितामें लिखा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

आत्माको सकल भूतोंमें और सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञ परायण महात्मा स्वाराज्यको लाभ करते हैं। यही आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है।

क्या भूमण्डलस्थित सभी जातियोंने आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यको लाभ किया है ? कभी नहीं। प्रकृति-राज्यमें उन्नतिके तारतम्यानुसार जिस जातिने 'स्व' को जितना समझा है उसने स्वका राज्य भी उतना ही लाभ किया है। जिसने स्थूलशरीरमात्रको 'स्व' समझा है उस जातिका स्वाराज्य स्थूलशरीरपर ही प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थूलशरीरको अन्य किसी जातिके अधीन न होने देकर उसे स्वतन्त्र रखनेमें ही वह जाति अपना स्वाराज्य समझती है। जिस जातिने सूक्ष्म-शरीरको 'स्व' समझा है उसकेलिये मनोराज्य तथा बुद्धिराज्यपर आधिपत्य विस्तार करना ही स्वाराज्य सिद्धिका लक्षण है। मनको विषयोंके तथा इन्द्रियोंके अधीन न बनाना, बुद्धिपर अविद्या आवरण आने न देना, मन बुद्धि दोनोंका इहलोक परलोकमें अभ्युदय सम्पादन करना इस स्वाराज्य सिद्धिका निदर्शनरूप है। और जिस जातिने 'स्व' का अर्थ आत्मा समझा है, वह जाति केवल स्थूलशरीरको परा-

धीनतासे बचानेमें ही पूर्ण स्वाराज्य नहीं समझती तथा मन बुद्धिकी उन्नतिमें ही स्वाराज्यसिद्धिको नहीं मानती, किन्तु शरीर, मन, बुद्धि तीनोंके ही साथ आत्माको भी निज नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके तब पूर्ण तथा यथार्थ स्वाराज्यलाभ हुआ ऐसा विचार रखती है। समस्त पृथिवीके इतिहासको पाठ करनेसे बुद्धिमान् व्यक्तिको अवश्य ही ज्ञात होगा कि अब तक पृथिवीकी अन्य सभी जातियोंने केवल स्थूल शरीरको ही 'स्व' समझ रक्खा है और इसलिये स्थूलशरीरकी स्वतन्त्रताको ही वे स्वाराज्य समझती हैं। केवल 'पृथिवीपाल', 'ईश्वरपुत्र' आर्य्यजातिके पिता पितामह महर्षियोंने ही 'स्व' का यथार्थ अर्थ आत्मा है, यह अनुभव किया था और तदनुसार केवल स्थूल शरीर की स्वतन्त्रतामें ही पूर्ण स्वाराज्य न समझकर शरीर, मन, बुद्धि आत्मा सभीकी स्वतन्त्रतामें सच्चा स्वाराज्य समझा था। इसलिये आर्य्यजातिके लक्षण वर्णन करते समय यास्क आदि मुनियोंने "आर्य्यः ईश्वरपुत्रः" "आर्याश्च पृथिवीपालाः" इत्यादि लक्षण बताये हैं। अतः शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीको परतन्त्रतासे बचाना—यही आर्य्यजातिके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है।

इस प्रकार चार पदोंसे पूर्ण स्वाराज्यसिद्धिका विधान महर्षियोंने क्यों किया था? क्या पश्चिम देशियोंकी तरह केवल स्थूल-शरीरमात्रकी स्वाधीनतामें ही स्वाराज्य समझना यथेष्ट नहीं है? ऐसी शङ्काएँ हो सकती हैं। और इनका समाधान भी पृथिवीके इतिहासमें जातीय उत्थान पतनके मौलिक कारणान्वेषी गवेषणापरायण पुरुषोंके निकट प्रच्छन्न नहीं रहेगा। गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर जितनी जातियाँ कालसमुद्रके गर्भमें अनन्तकालकेलिये एकबार ही डूब चुकी हैं उनके इतिहासों पर विचार तथा मनन करनेसे स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि अर्थ काम तथा पशुबल (Brute force) के द्वारा कोई भी जाति अपने स्थूलशरीरको स्वतन्त्र कर सकती है किन्तु यदि मन, बुद्धिको आसुरभावसे स्वतन्त्र करनेके लिये उसके पास धर्म्मबल न होगा तथा आत्माको अज्ञानान्धकारसे मुक्त रखनेके लिये उसके पास ज्ञानबल, यथार्थ आत्मबल (Soul force) न होगा तो अर्थकाम और पशुबलकी प्रतिक्रियामें आसुरी उन्माद तथा अनाचार-अत्याचार-दुराचार-व्यभिचारयुक्त पशुभावकी अत्यन्त वृद्धि द्वारा वह जाति थोड़े ही वर्षोंके भीतर अवश्य ही नाशको प्राप्त हो जायगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। दृष्टान्तरूपसे सोच सकते हैं कि गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर वेबिलोनियन्, एसिरियन्, इजिप्सियान्, ग्रीसीयान्, रोमन् आदि अनेक जातियोंका पूर्णरूपसे नाश हो गया है, किन्तु सभीके नाशके मूलमें धर्म्महीन, आत्मज्ञानहीन पशुभावप्रधान अर्थकाम ही प्रबल था। उन जातियोंने प्रधानतः पाशविकबल

(Brute force) के द्वारा अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र किया था और अन्यान्य दुर्बल जातियों पर भी पशुबलके ही प्रभावसे अपना आधिपत्य जमाया था। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे घृताहुत वह्निकी तरह अर्थलालसा और कामलालसा अत्यन्त बलवती होकर राज्याधिकारप्राप्त उन जातियोंको शीघ्र ही मनुष्यसे पशु बना दिया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह कामना उत्तरोत्तर बढ़ने ही लगती है यह बात निश्चित है। संसारमें धर्मकी ही शक्ति इस कामनानलको नियन्त्रित करके इसके प्रबल वेगको शान्त करती है। मेरे पास जितना धन है इससे अधिक धन यदि मैं ठगी, चोरी, झुठाई आदिसे कमा सकूँ तो चित्तकी इस कामनाका रोकनेवाला कौन है? मेरे पास काम भोगके लिये स्त्री आदि जो कुछ सम्पत्ति है, उससे भी अधिक सामानका संग्रह व्यभिचार, बलात्कार आदि द्वारा करनेको मुझे कौन रोकता है? क्यों नहीं मैं यथाशक्ति अन्याय उपायोंके द्वारा मेरी अगुत्तण बलवती विषयलालसा, धनलालसा, कामलालसाको चरितार्थ करूँगा? संसारमें धर्म ही एक शक्ति है जिसने अर्थकामपरायण मनुष्यको इस युक्तिसे रोका है कि यदि वह अन्याय उपायोंसे अर्थ कामका संग्रह करेगा तो वासनाकी अग्नि बढ़ती बढ़ती प्रलयाग्नि बन कर कुछ दिनोंमें उसे ही भस्म कर देगी, उसके मनुष्यत्वका नाश कर उसको पूरा पशु बना देगी और नाना प्रकारके रागद्वेष रोगशोक आदिके निर्यातन द्वारा थोड़े ही दिनोंमें उसको मार देगी। केवल इतना ही नहीं धर्मकी भविष्यत्भेदी ज्ञानमयी शक्ति उसको यह भी बता देगी कि अधर्मसे, अन्याय उपायोंसे अर्जित अर्थ-काम बहुत दिनों तक रहता नहीं है बल्कि उसकी प्रतिक्रियामें आगामी जन्ममें या अत्युत्कट होने पर इसी जन्ममें अर्थकामको ही नाश कर देता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसकी प्रतिष्ठा जिसने शरीर, मन, वचनके द्वारा की है उसको महर्षि पतञ्जलिके कथनानुसार जिस प्रकार सकल रत्नोंकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चोरी, ठगी, झुठाई, प्रवञ्चना आदि अन्याय उपायोंसे धनार्जन करने पर उसकी प्रतिक्रियामें इस जन्ममें या आगामी जन्ममें उस पापीको भीषण दारिद्र्य दुःख भोगना पड़ता है। उसी प्रकारसे परस्त्री-लोभी मनुष्य आगामी जन्ममें स्त्रीहीन या असती स्त्रीके द्वारा दुःख प्राप्त एवं पर-पुरुष-लोभी स्त्री आगामी

जन्ममें पतिहीना या कदाचारी पति प्राप्त होती है। इसीकारण श्रीभगवान् वेदव्यासने कहा है कि—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

धर्मसे ही चिरकालस्थायी अर्थकामकी प्राप्ति होती है, तथापि लोग धर्मसेवा क्यों नहीं करते? तृतीयत: अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे लालसाग्रस्त अतृप्त अर्थकामपरायण मनुष्य दूसरेकी अर्थकामसामग्रीको छीनकर अपनी अर्थकामलालसाको अधिकाधिक तृप्त करना चाहता है, जिसके फलसे द्वेषानल, अन्तर्विवाद और अन्तमें घोर अन्तर्जातीयसंग्राम (Revolution) होकर अर्थकामलोलुप जाति रसातलको चली जाती है। रोमन, ग्रीसीयन, बेबीलोनियन आदि जातियाँ इसी तरहसे नाशको प्राप्त हो गई हैं। पशुबलके द्वारा अर्थकाम तथा स्वराज्य, पराराज्यको संग्रह करके धर्म-बलसे पशुबलको नियन्त्रित तथा आत्माकी ओर दृष्टि न रखने पर समस्त जाति इसी प्रकारसे मनुष्यपदसे च्युत अनाचारी, व्यभिचारी, महापापग्रस्त तथा पशुत्वकी चरम-सीमा पर पहुँच कर अन्तमें नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि दूरदर्शी, तत्त्वदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल अर्थकाम तथा पशुबलके प्रभावसे स्थूलशरीरकी स्वतन्त्रता-को ही स्वतन्त्रता नहीं कही है, किन्तु अर्थ, काम, धर्म मोक्ष चारोंकी सहायतासे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वतन्त्रताको ही यथार्थ स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण कहा है। जीवका मन या बुद्धि यदि विषयोंके परतन्त्र रहे तो केवल स्थूलशरीरकी स्वतन्त्रता अनर्गलतामात्रको उत्पन्न करके जीवको और भी दुर्दशा तथा अधोगतिमें डाल देती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसलिये अर्थकाम तथा क्षात्रशक्तिके द्वारा स्थूलशरीरका स्वाराज्य, धर्मबलसे मन बुद्धिका स्वाराज्य तथा ज्ञानबलसे आत्मा-का स्वाराज्य इस प्रकारसे चारोंकी स्वाराज्यसिद्धिमें ही पूर्ण स्वाराज्य सिद्धि होती है जिसका उपदेश पूज्यपाद महर्षियोंने पृथ्वीपाल ईश्वरपुत्र आर्यजातिके लिये किया है।

वह उपदेश क्या है? अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वाराज्य-सिद्धिके लिये महर्षियोंने क्या क्या उपाय बताया है सो ही अब विचार करने योग्य विषय है। विचार करनेपर पता लगेगा कि आर्यजातिकी चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके द्वारा अनायास ही चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यसिद्धि हुआ करती है और इसीलिये पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णधर्मपर इतना जोर दिया है तथा प्राकृतिक विधिके अनुसार चार वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यको पूर्ण रीतिसे पालन करें, इसका विशेष अनुशासन बताया है। मीमांसाशास्त्रका सिद्धान्त है कि—

कामप्रधानः शूद्रः ।

अर्थप्रधानो वैश्यः ॥

धर्मप्रधानः क्षत्रियः ।

मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः ॥

शिल्पकला, कारीगरी, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि इत्यादि स्थूल कामनापूर्त्तिका सामान प्रस्तुत करके जातिकी शारीरिक सेवामें सहायता करना शूद्रवर्णका प्राकृतिक धर्म है। कृषि वाणिज्य आदि द्वारा यथेष्ट अर्थ-संग्रह करके जातिका स्थूलशरीर बहुमूल्य रत्नोंसे सुसज्जित कर देना तथा जातीय दरिद्रताका एकबार ही आमूल नाश कर देना वैश्यवर्णका प्राकृतिक धर्म है। शिल्पकला, धन, रत्न, भूसम्पत्तिको विदेशी आकर लुण्ठित तथा अधिकृत न कर सकें, इसलिये बाहुबल, अस्त्रबल, सैन्यबल युद्धकौशल द्वारा जातिको विजातीय आक्रमणसे सुरक्षित रखना क्षत्रियवर्णका प्राकृतिक धर्म है। अनर्गल अर्थकाममें या अनर्गल क्षात्रशक्तिमें जो जातीय अवनतिकर उन्मादकी स्वाभाविक स्थिति है, उसको धर्मबलसे रोककर समग्रजातिको आत्मा तथा मोक्षकी ओर नियोजित रखना ब्राह्मणवर्णका स्वाभाविक धर्म है। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकते हैं कि दूरदर्शी महर्षियोंने केवल चार वर्णकी नैसर्गिक व्यवस्थाके द्वारा ही शरीर-मन-बुद्धि-आत्मामय चतुष्पाद पूर्ण स्वराज्यसिद्धिकी पूर्ण अनुशासनविधि बता दी है। वैश्य, शूद्र, क्षत्रियके ऊपर शारीरिक स्वराज्य-प्राप्तिका भार है और क्षत्रिय ब्राह्मणके ऊपर मन-बुद्धि-आत्मा सम्बन्धीय स्वराज्य लाभका भार है। बिना क्षात्रशक्ति तथा ब्राह्मणशक्तिकी समवेत सहायतासे वैश्यशक्ति और शूद्रशक्ति भी निरापद नहीं रह सकती है, इसलिये महर्षियोंकी यह आज्ञा थी कि, क्षात्रशक्ति और ब्राह्मणशक्ति परस्पर सहायक बनकर सबकी रक्षा करें-यथा मनुसंहितामें—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।

ब्रह्म क्षत्रं तु संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥

ब्राह्मणशक्तिके बिना क्षात्रशक्ति उन्नतिको प्राप्त नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके बिना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिगत नहीं हो सकती है। दोनों शक्ति परस्पर मिलकर ही इहलोक परलोकमें सम्यक् वर्द्धित तथा कल्याणकारिणी हो सकती है। जिस प्रकार किसी रोपित वृक्षको पूर्णकलेवर बनानेके लिये केवल वृक्षमूलमें जलसेचन ही यथेष्ट नहीं होता, किन्तु वृक्षके चारों ओर वेष्टनी लगाकर उसे छाग, मेष, महिष, गौ आदिके आक्रमणसे भी बचाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जातिरूप विशाल-

वृत्त क्षत्रियवर्णरूप वेष्टनी द्वारा विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणसे सुरक्षित रहता है और ब्राह्मणवर्णकृत धर्मवारिसिञ्चनसे पुष्टकलेवर बनकर जातिके प्रत्येक व्यक्तिको शान्तिछाया प्रदानमें समर्थ हो सकता है। यही ब्राह्मणशक्ति तथा क्षात्रशक्तिके जातीय उन्नति सम्पादनार्थ परस्पर सहायक बननेका तात्पर्य है। इसके सिवाय धर्म्मशक्ति (ब्राह्मणशक्ति) तथा राज्यशक्ति (क्षात्रशक्ति) के परस्परापेक्षित्वका और भी एक गूढ़ कारण है। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें मनुष्यप्रकृति भी स्वभावतः तीन गुणकी होती है। इस कारण आर्यशास्त्रमें गुणानुसार विभक्त तीनों प्रकृतिके अधिकारियोंके लिये त्रिविध अनुशासन बताये गये हैं। सात्त्विक प्रकृतिके लिये योगानुशासन, राजसिक प्रकृतिके लिये शब्दानुशासन और तामसिक प्रकृतिके लिये राजानुशासन कल्याण तथा उन्नतिप्रद हैं। सात्त्विक प्रकृति ज्ञान तथा प्रकाश प्रधान है, इसलिये उसमें आत्मा अनात्माका प्रभेद मालूम होकर सत्यपन्थाका निश्चय हो जानेसे योगके अनुशासन द्वारा सात्त्विक अधिकारी आत्यन्तिक कल्याणको पा सकते हैं। राजसिक प्रकृति संशयात्मिका होती है, इसलिये उसमें सत्यपन्था क्या है, इस विषयका सन्देह रहता है। उस सन्देहको निवृत्त करके यथार्थ पन्था बताना आचार्य तथा शास्त्रका कार्य है। आचार्योपदेश तथा वेदाज्ञारूप शब्दानुशासन द्वारा राजसिक अधिकारी चित्तका संशय दूर करके उन्नतिपथमें अग्रसर हो सकते हैं। किन्तु तामसिक अधिकारीके लिये न योगानुशासन उपयोगी होता है और न शब्दानुशासन ही यथोचित फलप्रद होता है, क्योंकि उसकी समझ ही उलटी रहती है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

जो बुद्धि अधर्मको धर्म समझे और सब विषयमें उलटी ही समझ रक्खे वह तामसिक है। इस प्रकार बुद्धिवाले मनुष्यको सम्हालकर रखनेके लिये न योगानुशासन ही काम दे सकता है और न आचार्यका उपदेश तथा शास्त्र-वाक्य ही काम दे सकता है। ऐसी प्रकृतिके मनुष्य केवल राजदण्डसे ही ठीक रहते हैं। जो मनुष्य चोरी करता करता पुराना हो गया है या नरहत्या करता करता पाषाणहृदय हो गया है उसको योग बताना या वेदका उपदेश देना व्यर्थ परिश्रममात्र है। उसके लिये तो राजानुशासनके अनुसार कठिन कारावास या फांसी आदि दण्ड ही कथञ्चित् फलप्रद हो सकता है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि सात्त्विक प्रकृतिके लिये योगानुशासन, राजसिक प्रकृतिके लिये शब्दानुशासन और तामसिक प्रकृतिके लिये राजानुशासन विहित है। सत्ययुगमें

मनुष्योंकी प्रकृति सत्त्वप्रधान, त्रेतायुगमें रजःसत्त्वप्रधान, द्वापरयुगमें रजस्तमःप्रधान और कलियुगमें तमःप्रधान होती है। इस विचारके अनुसार अन्यान्य युगोंमें और दो अनुशासन विशेष कार्यकारी होने पर भी तमःप्रधान कलियुगमें राजानुशासन ही विशेष फलप्रद हो सकता है। धर्मशक्ति तथा सामाजिक शक्ति इस युगमें जबतक राजशक्तिकी सहायतासे न चलाई जायगी तबतक मन्दमति जीवोंको अनाचार, अत्याचार, निरङ्कुशता, पापाचरण आदिसे बचा न सकेगी। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि इस समय हिन्दुजातिके व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, जीवनमें कितने ही प्रकारके अनाचार फैले हुए हैं जिनका प्रतिकार विदेशीय तथा अन्यधर्मी राजशक्तिके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता है, क्योंकि विदेशीय होनेके कारण न वह इन बातोंको समझती ही है और न इनका प्रतिकार उनके द्वारा ठीक ठीक हो ही सकता है। इसलिये उन बातोंमें निरपेक्ष (Neutral) रहना ही उनके लिये युक्तियुक्त है। किन्तु समाजकी मार्म्मिक विषयोंके प्रति उदासीनता समाजको दिन व दिन रसातलको लेजाती है यह निश्चय है। प्राचीनकालमें हिन्दुराजा इसलिये धर्मगुरु महर्षियोंकी अनुज्ञासे सामाजिक निरंकुशताके प्रवाहको सदा रोकते थे। आजकल जैसे ब्रह्मचर्याश्रम, संन्यासाश्रम आदिमें कितना ही गड़बड़ हो गया है, विवाह विधि, सामाजिक सदाचार आदिमें कितनी ही कुप्रथायें भी आ गई हैं, मन्दिर, तीर्थ, देवालय आदि स्थानोंमें धर्मके नामसे कितने ही अधर्म होते हैं, ये सब अत्याचार प्राचीनकालमें राजानुशासनके बलसे नहीं होने पाते थे और अब भी हिन्दुजातिके पास धर्मानुकूल राजशक्ति हो तो शीघ्र ही ये सब अत्याचार निवृत्त किये जा सकते हैं। यही कारण है कि इस युगमें जातिको उन्नतिपथमें अग्रसर करनेके लिये धर्मशक्तिके साथ राजशक्ति अर्थात् ब्राह्मणशक्तिके साथ क्षात्रशक्तिके संयोगकी इतनी आवश्यकता है, यही ऊपर कथित मनुवचनका गूढ़ तात्पर्य है।

इस प्रकारसे प्राचीनकालमें ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिकी समवेत सहायतासे धर्म अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुर्वर्गकी सिद्धि तथा शरीर-मन-बुद्धि-आत्मारूपी चतुष्पादसे पूर्ण स्वाराज्यकी प्राप्ति आर्यजातिको हो सकी थी। इन दोनों शक्तियोंमें जब कहीं कुछ विरोध आजाता था तो श्रीभगवान् स्वयं अवतार धारण करके विपथगामी शक्तिकी निरंकुशताको दबाकर पुनः दोनोंका सामञ्जस्य विधान कर दिया करते थे त्रेतायुगमें कार्त्तवीर्यार्जुनप्रमुख क्षत्रियोंकी शक्ति निरङ्कुश तथा अत्याचारी बनकर ब्राह्मणशक्तिके नाशका कारण हो उठी थी, इसलिये श्रीभगवान्‌को ब्राह्मणकुलमें परशुरामरूपमें अवतीर्ण होकर पापी क्षत्रियोंके नाश द्वारा दोनों शक्तियोंका समताविधान करना पड़ा। पुनः जब कुछ वर्षोंके बाद ब्राह्मणशक्ति दुर्वृत्त हो गई और ब्राह्मणवंशमें रावण जैसे

राक्षस उत्पन्न होकर अधर्माचरण करने लग गये तो श्रीभगवान्‌को निरङ्कुश ब्राह्मण-शक्तिके दमनके लिये श्रीरामचन्द्ररूपमें क्षत्रियकुलमें जन्म लेना पड़ा। उन्होंने रावण-वंशका नाश करके ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर किया और आदर्श क्षत्रिय नरपतिका धर्माचरण करके आर्य्यजातिको दीर्घकालव्यापिनी शान्ति प्रदान की। पुनः द्वापरयुगके अन्तमें दोनों ही शक्ति विपथगामिनी हो गई। जिससे देवांशोत्पन्न भीष्म कर्णादि क्षत्रिय वीरगण तथा द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामादि ब्राह्मणकुलभूषण पुरुषगण भी धर्म्मपक्षको छोड़कर पापपक्षानुकूल संग्राममें प्रवृत्त हो गये। अपने सामने कुलवधूको विवस्त्रा होती हुई देखकर भी किसीको विचार नहीं आया, धर्मके सिर पर पापका पदाघात देखकर भी किसीके हृदयमें आघात नहीं लगा, क्षत्रियधर्मको तिलाञ्जलि देकर निरस्त्र अभिमन्युके प्राणहननमें किसीको लज्जा नहीं आई, निद्रित कुमारोंके सिर काटनेमें ब्राह्मणधर्मका अमानुष अपलाप नहीं प्रतीत हुआ, विश्वबन्धननाशकारी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको बाँधनेके लिये भी महापापमय स्पर्धा होने लगी, इधर कंस, शिशुपाल, अघासुर बकासुर, जरा-सन्ध, दन्तवक्र आदि आसुरीशक्तिसम्पन्न क्षत्रियोंके भीषण अत्याचारसे ससागरा धरा विकम्पित होने लगी, तब श्रीभगवान्‌को कृष्णरूपसे पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर दोनों शक्तियोंकी ही उद्दण्डताको दबाकर दोनोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। उन्होंने कुरुक्षेत्रादि महासमरमें पापी क्षत्रियोंका नाश कराकर धर्मराज्य स्थापन कराया और गीता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञानमयी ब्राह्मणशक्तिकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकारसे जब जब दोनों शक्तियोंमें असामञ्जस्य या वैमनस्य फैला तभी श्रीभगवान्‌ने कभी स्वयं आवश्यकतानुसार अंश-कला या पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर और कभी साम्प्रदायिक या राजनैतिक आचार्यादि विशिष्ट विभूतियोंके रूपमें प्रकट होकर वैमनस्यको विदूरित किया और चातुर्वर्ण्यकी धर्मानुकूल व्यवस्था विधान करके अर्थकामका पोषण, अर्थकाम तथा प्रजाकी रक्षा और अर्थकामके धर्मानुकूल विनियोग द्वारा मोक्षमार्गका निष्कंटक राजमार्गकी तरह बना रक्खा। और जबतक इस प्रकार चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यकी सिद्धि रही तबतक आत्मा-सम्बन्धीय स्वाराज्यके साथ-साथ स्थूलशरीर सम्बन्धीय स्वाराज्य भी आर्य्यजातिके भाग्यमें पूर्णरूपसे विराजमान रहा, जिससे यह जाति तथा यह भारतभूमि विजातीय आक्रमण तथा अधिकारविस्तारसे सदा सुरक्षित रही। यही सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके प्रथमचरणांश तक चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्य सम्पादन विधिका गूढ़ तत्त्व है।

पूज्यपाद महर्षियोंकी दूरदर्शितासे सम्प्राप्त चतुष्पादपूर्ण यह स्वाराज्य भाग्यचक्रके विपरीत परिवर्त्तनके कारण आर्यजातिके अधिकारसे कैसे निकल गया, अब यही विचार-णीय विषय है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा भूभारहरणके बाद कुछ दिनोंतक भारत-

वर्षमें शान्ति रही। किन्तु जो भ्रातृविद्वेषरूपी विषवृक्षका बीज भारतीय क्षत्रियभूमिमें एक बार उग चुका था, वह कदापि नष्ट नहीं हो सका। इसलिये पाण्डववंशीय कुछ नरपतियोंके एकच्छत्र साम्राज्य चलानेके बाद भारतवर्षमें एकच्छत्र नरपति कोई भी नहीं रह सके। समग्र भारतमें छोटे-छोटे अनेक राजवंशियोंके राज्य हो गये। इधर बौद्धविप्लवके प्रतापसे ब्राह्मणशक्तिमें बहुत ही दुर्बलता आ गई, जिस कारण परस्पर विद्वेषभावापन्न, संग्रामनिरत उन राजवंशियोंको संग्रामनिवृत्ति, एकता तथा शान्तिप्राप्तिके लिये धर्मानुशासन बतानेवाली ब्राह्मणशक्तिकी विशेष सहायता नहीं प्राप्त हो सकी। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' एकता द्वारा ही कलियुगमें राजकीय शक्ति लाभ हो सकता है, यह श्रीभगवान् वेदव्यासकी भविष्यद्वाणी है। किन्तु भारतके भाग्यमें इसका ठीक विपरीत फल ही हुआ। एक ओर क्षुद्र-क्षुद्र राज्यके अधिपति राजागण एकताकी महिमाको भूलकर पारस्परिक अन्तर्विवादसे दुर्बल होने लगे, दूसरी ओर अन्तःसार-हीन ब्राह्मणशक्ति द्वारा यथेष्ट सहायता न मिलनेके कारण क्षत्रियजातिमें राजसिक शक्तिहीनता और धार्मिक दुर्बलता बढ़ती ही गई। इस प्रकारसे दोनों शक्तियोंके विषम-गामी होनेके कारण शिल्पकलापरायण शूद्रशक्ति तथा धनरत्नप्रसू वाणिज्यपरायण वैश्यशक्तिका यथोचित रक्षक कोई न रहा। इस अवसरको देखकर विदेशसे भारत-वासियोंपर मुसलमानोंका आक्रमण प्रारम्भ हुआ। महम्मद गजनवी, महम्मद गोरी आदि अनेक मुसलमानोंने रत्नप्रसविनी भारतमाताके रत्नभण्डारको खूब लूटा और अन्तमें दुर्बल क्षात्रशक्तिको पराजित करके आर्यजातिपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। जिस प्रकार स्वाधीनता सकल सुख तथा सकल उन्नतिका अद्वितीय निदान है, उसी प्रकार पराधीनता आत्महननका अद्वितीय अमोघ अस्त्र है। इसी अमोघ अस्त्रके निरन्तर आघातसे आर्यजाति दिन ब दिन निर्वीर्य्य, साहसहीन, पराक्रमहीन, प्राणहीन बनने लगी। कलियुगके प्रभावसे तथा धर्मद्वेषी विजातीय अत्याचारके परिणामसे धर्मजीवनमें भी बहुत ही शिथिलता आ गई। लोग अर्थकामप्रिय होकर स्वधर्म छोड़ म्लेच्छसम्बन्ध स्थापनमें भी सङ्कोच नहीं करने लगे। केवल शिशोदीय, राठोर आदि दो-चार वंशके क्षत्रियोंने स्वधर्मपालन द्वारा आत्मरक्षा तथा इस अवनतिकर प्रवाहसे जातिकी यथाकथञ्चित रक्षा की। इधर इन्द्रियपरायणता, अत्याचार, प्रजापीड़न, पर-धर्मविद्वेष, परजातिविद्वेष, प्राणिहिंसा आदि अनेक दोषोंसे यवनशक्ति भी दिन ब दिन हीनबल होने लगी और नरपति औरङ्गजेबमें इन दुर्गुणोंकी पराकाष्ठा होनेके कारण उन्हींके राज्यकालसे यवनजातिका पतन प्रारम्भ हो गया। अकबर आदि मुसलमान सम्राटोंने अपने बुद्धिबल तथा राजनैतिक कौशलसे हिन्दू मुसलमानके भीतर जो कुछ

एकतास्थापन किया था, औरङ्गजेब आदिके परधर्मविद्वेष तथा परजातिविद्वेषके प्रभावसे वह सभी एकता नष्ट हो गई, जिससे हिन्दू-मुसलमानके भीतर निरन्तर संग्राम द्वारा दोनों जातियाँ और भी क्रमशः हीनबल होने लग गईं। इस प्रकारसे हिन्दुशक्ति तथा मुसलमानशक्तिका परस्पर संघर्ष और उसके परिणामरूप दोनोंकी शक्तिहीनताको देखकर पश्चिम देशकी कुछ जातियोंने वाणिज्यके ब्याजसे भारतवर्षमें प्रवेशाधिकार लाभ किया। चूँकि उन जातियोंका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह वाणिज्यशक्तिके साथ राजशक्तिको मिलाये रखती है (Flag follows the trade) इसलिये उन्होंने हिन्दुजाति तथा मुसलमान जातिके भीतर वाणिज्यशक्तिके साथ धीरे-धीरे राजशक्तिका भी प्रवेश कराना प्रारम्भ कर दिया, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ, कि दोनों शक्तियोंकी क्रमदुर्बलताको देखकर पश्चिमीय उन जातियोंमेंसे किसी एक राजनैतिक कलाकुशल जातिने भेदनीतिके अवलम्बनसे दोनों जातियोंपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। आर्यजातिका गौरवरवि तो पहिले ही अस्तमित हो चुका था, अब मुसलमान जातिका भी गौरवसूर्य चिरकालके लिये कालसमुद्रमें निमग्न हो गया।

जिस जातिने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियोंपर शासनाधिकार विस्तार किया है, उसकी राजनैतिक चतुरता बहुत ही विचित्र है। उस समुद्रके ऊपरकी लहरें ऐसी मनोमुग्धकर हैं, कि भीतर कितने मकर नक्रादि जलजन्तु हैं, इसका न पता लगता है और न पता लगानेकी एकाएक इच्छा ही होती है, केवल लहरोंके शुभदर्शनसे मुग्ध होकर समुद्रमें गोता लगानेकी ही तीव्र इच्छा होती है। हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियोंने वर्षों खूब गोता लगाया, लवणाक्त कितना ही जल पेटमें जाकर पेटको बिगाड़ा तथा शरीरको अस्वस्थ कर दिया। फिर भी जबतक वे जलमें गोता खाते रहें, तबतक उन्हें कुछ भी पता न चला। राजनीतिकुशल शासकजातिने शासितजातिको विजातीय शिक्षा द्वारा कुछसे कुछ कर दिया। सबसे पहिले उन्हें यही शिक्षा मिली, कि वह इस देशका नहीं है, उसका प्राचीन घर भारतवर्ष नहीं है, वह किसी समय मध्यएशियामें कास्पियनह्रदके पास निवास किया करता था, पीछेसे जब शासकजातिके लोग पश्चिमकी ओर चले गये, तो वह पूर्वकी ओर आकर भारतभूमिमें उपनिविष्ट (Colony) हो गया। अब वे भी यहीं आ गये हैं। अतः भारतको अपना घर कहना मिथ्या है। भारतमाता उसकी माता नहीं है। और वह जो अपने पिताको आर्य कहकर दूसरेको अनार्य कहता है, वह भी सिद्धान्त मिथ्या है। क्योंकि दोनोंका ही काकेसियन मुख होनेसे दोनों ही आर्य हैं। उसके पुराने इतिहासमें कोई वीर या उत्तम पुरुष हुए ही नहीं हैं। उसके राम, कृष्ण आदि असभ्य, चरित्रहीन, बुद्धिहीन लोग थे। उसके पौराणिक भीष्म,

अर्जुन, भीम आदिकी कथा उपकथामात्र है, सत्य बात नहीं है, क्योंकि भीम, अर्जुन आदि नामके कोई पुरुष हुए ही नहीं, इत्यादि-इत्यादि शिक्षाके द्वारा आर्यजाति अपने गृह तथा पिता-माता सभीको भूल गयी। किन्तु सब कुछ भूलनेपर भी जबतक जातीयभाव तथा जातीय अभिमान है, तबतक जातिका नाश कोई भी नहीं कर सकता है। जातीय भावके प्रकट करनेके लिये तीन वस्तु है, यथा—जातीय भाषा, जातीय वेश और जातीय धर्म। लौकिकजगत्में देखा जाता है, कि जिसके भीतर जो भाव होता है, उसके मुखसे शब्द भी ऐसे ही निकलते हैं, उसका रूप भी ऐसा ही बन जाता है और धर्म भी वह वैसा ही देखाता है। भीतर क्रोधका भाव होनेसे शब्द क्रोधके निकलते हैं, रूप क्रोधीकी तरह भीषण बन जाता है और आचरण भी क्रोधी जैसा ही होने लगता है। भीतर प्रेम या भक्तिका भाव होनेसे शब्द प्रेमभक्तिपूर्ण निकलते हैं, मधुररूप प्रेमीभक्तके बन जाते हैं और धर्माचरण भी प्रेमीभक्तका ही होने लगता है, इत्यादि इत्यादि। अतः सिद्ध हुआ, कि शब्द, रूप और धर्मके द्वारा ही भाव प्रकट होता है। इस कारण यदि किसी जातिके भावका नाश करना हो, तो उसकी भाषा, उसका वेश तथा उसके धर्मका नाश करना चाहिये। भाग्यचक्रसे आर्यजातिको तीनोंका ही नाश देखना पड़ा है। उसकी भाषा देववाणी मृतभाषा बनाई गई है, उसका जातीय वेश, जातीय खान-पान, जातीय रूप बिगड़कर विजातीय हो चला है और उसका अनादि प्रसिद्ध सनातनधर्म आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञान (Godless material science) के भंवरमें पड़कर डूबता ही जा रहा है। अब जब इतना तक हो गया, कि आर्यजाति गृहत्यागी, मातृत्यागी, पितृत्यागी, भावत्याग, भाषात्यागी, वेशत्यागी, धर्मत्यागी हो गई, तो बाकी छोटी-मोटी बातोंके त्यागनेमें क्या देर लगती है। इसलिये शूद्रोंने कर्णकी तरह वृद्धांगुलि गुरुदक्षिणामें चढ़ाकर शिल्पकलाको परित्याग किया। वैश्योंने वाणिज्यलक्ष्मीको छोड़कर मन ही मन सन्तोषव्रत धारण कर लिया। क्षत्रियोंने रक्षाधर्मके पालनका प्रयोजन न देखकर अस्त्र शस्त्रोंका परित्याग कर दिया और ब्राह्मणोंने ब्रह्मपूजनको छोड़कर अर्थकाम सेवामें ही मन प्राणको सौंप दिया। इस प्रकारसे आर्यजातिको चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यके स्थान पर षोड़शकला सम्पूर्ण पराधीनता ही मिल गई है। इसके अतिरिक्त अपने स्वरूपको भूलकर चिर उदार आर्यजातिने स्वधर्म-विद्वेषी और स्वजाति-विद्वेषी बन अपनी पराधीनता शृङ्खलाको और भी कठिन बना लिया है।

किन्तु अन्तर्यामी विधाताके विधानको कौन रोक सकता है? गत यूरोपीय महासमरमें पाश्चात्यसभ्यताके कुपरिणामको देखकर आर्य्यजाति तथा समस्त संसार चौंक उठा है और आर्यजातिको यह मालूम हो गया है कि, पाश्चात्यसभ्यताके ऊपरी

चमत्कारमें मुग्ध होकर महर्षिप्रणीत प्राचीन आर्य्यसभ्यताके प्रति उपेक्षा करना उसकी भूल थी। यूरोपीय महासमरमें मन प्राण शरीर आत्मीयस्वजन सभीके समर्पण करने पर भी—उसके बदले जो कुछ मिला है उससे भी आयर्लैंडजातिकी आँखें खुल गई हैं। यही सिद्धान्त निश्चय हो गया है कि, संसार स्वार्थपरता, नीचता, कृतघ्नता तथा पशुभावसे भरा हुआ है, यदि कोई जाति अपनी उन्नति करना चाहे तो दूसरी जातिका मुखापेक्षी न होकर स्वावलम्बनकी सहायतासे अपने ही पाँवपर खड़ा होनेका पुरुषार्थ करना ही यथार्थतः उन्नतिलाभ करनेका उपाय है। वास्तवमें भिखारीकी तरह दूसरेके कृपाकटाक्ष-भिक्षु होनेकी अपेक्षा अपने आत्मबलिदान द्वारा जगन्माताको प्रसन्न करके मातृभूमिसे शक्तिमान् होना ही उन्नतिका मूलमंत्र है। अब राजनैतिक चक्रकी गति प्रजातन्त्रकी (Republic) ओर प्रबलवेगसे हो रही है। यह भी प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है कि, एक दो को छोड़कर पृथ्वीके जितने महादेश हैं, वे सभी राजतन्त्रप्रणालीको छोड़कर प्रजातन्त्र प्रथाको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा अकस्मात् क्यों हुआ इसका मूलान्वेषण करनेसे अनेक हेतु—देखतेमें आते हैं। उनमेंसे तीन हेतु-विशेष प्रबल हैं यथा पश्चिमी सभ्यता (Western Civilization) का अवश्यम्भावी परिणाम (२) राजाओंमें राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपस्यानाश तथा राजोचित गुणावलीका अभाव। (३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपः सञ्चय, और भगवत्कृपालाभ। नीचे इन तीनोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

(१) पश्चिमी सभ्यताका अवश्यम्भावी परिणाम। (क) पश्चिमी सभ्यताके भौतिक विज्ञान (Material Science) मूलक होनेसे उसके द्वारा संसारका-सामञ्जस्य बिगड़ता है। संसार यदि एक ओर सौ-दो-सौ करोड़पतियोंके द्वारा और दूसरी ओर दस-बीस करोड़ अतिदरिद्र मजदूरोंके द्वारा पूर्ण हो जाय, तो, संसार कभी यथार्थ सभ्यताके शिखर पर चढ़ नहीं सकता। मध्यवित्त लोगोंके द्वारा ही संसारमें सकलप्रकारकी जातीय उन्नति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उनको मजदूरोंकी तरह अन्नचिन्ता भी नहीं रहती और करोड़पतियोंकी तरह धनमद भी नहीं रहता है। वे दोनों असामञ्जस्यकी आशङ्कासे बचकर व्यक्तिगत तथा जातिगत जीवनकी यथार्थ उन्नतिके लिये विशेष पुरुषार्थ कर सकते हैं। किन्तु भौतिक विज्ञानका जो मूलतत्त्व है उससे संसारमें मज़दूर दल (Labour Class) और धनीदल (Capitalist) ही बढ़ते हैं, मध्यवित्त-लोग (Middle Class) घट जाते हैं। किसी एक कारखाने या मिल आदिके दृष्टान्तसे इस विचारको मिलाकर देख सकते हैं। एक वस्त्रकी या आटेकी मिल चलनेपर क्या होता है ? जिस धनीकी मिल है, वही करोड़पति बनता है, बाकी उसमें काम करनेवाले

मजदूर लोग चिरदरिद्र ही रहते हैं। एक मिलमें अनेक वस्त्रादि प्रस्तुत होनेके कारण मध्यवित्त लोगोंके लिये श्रमविभाग (Distribution of Labour) का सिलसिला एकबार ही नष्ट हो जाता है। वे स्वतन्त्ररूपसे शिल्पकलाका अभ्यास या उन्नतिसे वञ्चित होकर केवल दुकानदार या नौकरी करनेवाले ही रह जाते हैं। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञान द्वारा श्रमसामञ्जस्य तथा अर्थसामञ्जस्य बिगड़कर एक ओर तो मध्यवित्त श्रेणी नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर मजदूर तथा धनियोंमें संग्राम शुरू हो जाता है। क्योंकि परिश्रम करें मजदूर, फायदा उठावें आलसी प्रमादी धनी, इससे मजदूरोंका चित्त बिगड़ता है, वे धनियोंके प्रति द्वेष तथा ईर्ष्यापरायण होकर संग्राम करने लगते हैं, जिसका अवश्यम्भावी फल अन्तर्विवाद (Civil war) और एकाकारिता (Bolshevism) है जो आज संसारके सामने प्रत्यक्ष दीख रहा है। आज जो समस्त यूरोपमें मजदूरदल और धनीदलोंमें भीषण संग्राम चल रहा है और बोलशेविजमका प्रभाव बढ़कर धनियोंके धन लूटे जा रहे हैं, प्रताप घटाये जा रहे हैं, इसका आदिकारण भौतिक-विज्ञानप्रधान पश्चिमी सभ्यता ही है। किन्तु दुःख इस बातका है कि, इस प्रकार अशान्ति तथा जातीय संग्रामको मिटाकर शान्ति स्थापन करनेकेलिये पश्चिमी सभ्यताने अभी तक कोई स्थायी उपाय नहीं सोचा है, उलटा संग्राम, अशान्ति, नर-हत्या, जीवहत्या, आदि की पुष्टिके लिये मेशिनगन, जेप्लिन, हवाई जहाज, पनडुब्बी आदि नाशके ही सामान (Engines of destruction) तैयार किये हैं। इसका अन्तिम परिणाम यही होगा कि छोटे बड़ेको नहीं मानेंगे, प्रजा राजाको नहीं मानेगी, राजा-प्रजामें भीषण संग्राम छिड़ जायगा और अन्तमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्यप्रणाली चल जायगी और इसके परिणाममें एकाकार बोलशेविज्म फैल जानेकी आशङ्का हो जायगी। इन्हीं बातों पर विचार करके पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षिगण भौतिक विज्ञानको ही जातीय उन्नतिका एकमात्र निदान नहीं समझते थे और मिल आदिकी सहायतासे वाणिज्यश्रीको न बढ़ाकर गृहशिल्प (Home Industries) की सहायतासे उसे पुष्ट करके श्रमसामञ्जस्य (Balance of labour) मध्यवित्त श्रेणीकी उन्नति तथा अर्थसामञ्जस्य विधान करते थे। अतः विचार द्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि पश्चिमी सभ्यताका कुपरिणाम ही राजतन्त्र नाशका एक कारण है।

(ख) पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिकविज्ञान (Godless Material Science) मूलक होनेसे इसकी जितनी वृद्धि होती है, मनुष्य हृदयसे आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, देवताओं पर भक्ति, सूक्ष्मजगत् पर विश्वास तथा स्थूलजगत्‌को ही सब कुछ न समझनेकी बुद्धि उतनी ही नष्ट हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि, ईश्वर

तथा देवताओंकी विभूतियोंपरसे भी प्रजाकी श्रद्धा भक्ति उठ जाती है। स्वधर्मसेवी यथार्थ राजामें ईश्वर तथा देवताओंकी विभूति है।

"अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः ।"

यह आर्यशास्त्रका सिद्धान्त ही है। इसलिये राजभक्ति ईश्वरभक्तिमूलक है। ईश्वरभक्ति जितनी नष्ट होगी, राजभक्ति भी उतनी ही नष्ट होगी। अतः ईश्वरभक्तिहीन भौतिक विज्ञानके प्रभावसे संसारमेंसे राजभक्ति अवश्य ही उठ जायगी और राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र प्रथा चल जायगी यह निश्चय है। पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिकविज्ञानमूलक है, अतः पश्चिमी सभ्यता ही राज्यतन्त्रका नाश करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापनका मूल कारण है।

(ग) पश्चिमी सभ्यता अर्थकामके ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें धर्ममोक्षका नाम मात्र नहीं है, धर्महीन अर्थकाम किस प्रकारसे वासनाको बढ़ाकर मनुष्यको उन्मत्त कर देता है, इसका वृत्तान्त पहले ही कह चुके हैं। इस कारण यह बात निश्चय है कि, जिस जातिमें धर्महीन अर्थकामकी वृद्धि होगी उसमें वासनाका अन्त न रहेगा, मनुष्य वासनाको बढ़ाता हुआ चक्रवर्ती राजाकी पदवी तक पानेको ललचायेंगे जिसका फल यह होगा कि राजाकी राजसम्पत्तिको देख ईर्ष्या द्वेषसे जल मरेंगे और राजाको बड़ा न मानकर स्वयं राजा बननेकी इच्छा करेंगे और इससे यह भी परिणाम निकलेगा कि, सावधान न होनेपर प्रजाओंमें दिन ब दिन निरङ्कुश स्वाधीनताप्रवृत्ति बलवती हो जायगी। अतः देखा गया कि धर्ममोक्षहीन पश्चिमी सभ्यताके परिणामसे राजतन्त्रकी प्रधानता नष्ट होकर प्रजातन्त्रप्रथा अवश्य ही प्रतिष्ठित हो जायगी।

(२) राजाओंमें राजभक्तिके अपलाप द्वारा तपोनाश। जगन्नियन्ता श्रीभगवान्‌का नियम ही यह है कि, इस संसारमें अनावश्यक कोई भी पदार्थ रहने नहीं पाता। प्रकृतिमाता अनावश्यक वस्तुको शीघ्र ही प्रलयके गर्भमें डूबा देती है। इस नियमके अनुसार मनुष्योंमें भी यदि भगवान्‌के द्वारा प्राप्त किसी वस्तुका उपयोग न हो या दुरुपयोग हो तो वह वस्तु पानेवालेके पास बहुत दिनों तक नहीं रहेगी या आगे जन्ममें वह उससे शून्य होकर उत्पन्न होगी। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, इस जन्ममें धन पाकर जो अच्छे कार्यमें उसका उपयोग नहीं करेगा या पापकार्यमें उसका दुरुपयोग करेगा वह तीव्र पापसे इसी जन्ममें या साधारणतः आगामी जन्ममें निर्धनताको प्राप्त हो जायगा। चक्षुको पाकर उसका अपव्यवहार करनेवाला नेत्रशक्तिसे हीन होकर उत्पन्न होगा। बुद्धि पाकर उसका दुरुपयोग करनेवाला निर्बुद्धि होकर जन्मेगा। यह

सब क्रिया प्रतिक्रियामय प्राकृतिक नियम है। पूर्वजन्मकी सकाम तपस्याके फलसे मनुष्यको राज्य मिलता है। तपस्याके प्रभावसे अपूर्व उत्पन्न होनेके कारण राजाके शरीरमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, यमादि आठ देवताओंकी विभूति प्रकट हुआ करती है। किन्तु, यदि राजा इन दैव-विभूतियोंका उपयोग न करे या दुरुपयोग करे—यथा—सूर्यका अंश पाकर भी प्रजाओंमें प्रकाश विस्तार न करके अज्ञान या अन्धकारका ही विस्तार करे और कूट राजनीतिकौशल द्वारा प्रजाका अर्थ तथा काल नष्ट करके प्रजाके जीवनको चिर दारिद्र्य तथा चिर दुःखमय बना देवे और इस प्रकारसे विद्यादानके साथ कूट राजनीतिका सम्बन्ध मिलाकर राजशक्तिका अपलापरूप तपःक्षय या पापाचरण करे, चन्द्रका अंश पाकर भी प्रजाको निजगुणसे आनन्द न देकर निजस्वार्थसिद्धिके लिये दुःख ही देवे, वरुणका अंश पाकर भी धनदानद्वारा प्रजाको पुष्ट न करके दुर्भिक्षके कराल ग्रासमें पातित करे और प्रजाशोषणसे धनोपार्जन द्वारा अपने ही ऐश्वर्य, सुख, गौरवकी वृद्धि करे अथवा राज्यमें व्ययाधिक्यनीति चलाकर राज्यको दुर्बल तथा प्रजाको दारिद्र्य दुःखसे पीड़ित करे; यमराजका अंश पाकर भी न्यायानुसार विचार न करके अन्याय तथा पक्षपातके साथ विचार करे और विचारविभागमें भी कूटराजनीतिको काममें लाकर अत्यन्त पापाचारी बने तो इस प्रकार देवांशके दुरुपयोगके फलसे राजामें से दैवविभूतियाँ नष्ट हो जायँगी और उनमें राक्षसका अंश प्रकट होकर भीषण प्रजा-पीड़नका कारण हो जायगा जैसा कि शुक्रनीतिमें—

> यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
> अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्॥

धर्मानुसार प्रजापालक राजामें देवांश प्रकट होता है; अन्यथा राक्षसांश प्रकट होकर राजाको प्रजापीड़क बनाता है और इसी प्रजापीड़नरूपी पापसे राजाकी क्या दुर्गति होती है सो भी महर्षि याज्ञवल्क्यजीने बताया है यथा—

> प्रजापीड़नसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
> राज्यं कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्त्तते॥

प्रजापीड़नजन्य सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाके राज्य, वंश, सम्पत्ति और प्राणके जलाये बिना निवृत्त नहीं होती है। इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे ऐसा ही मालूम होता है। नहुष इन्द्र बनकर भी प्रजापीड़न पापसे ही गिर गया था। वेण, दुर्योधन, कंस आदिका नाश भी इसी प्रकारसे हुआ था। वर्त्तमान समयमें भी समस्त जगत्के राजाओंमें दैवविभूतियोंका विरल ही विकाश देखनेमें आ रहा है। उलटा आसुर या

राक्षस विभूतिके विकाश द्वारा प्रजापीड़न तथा तज्जन्य पापसे राजाओंका तप:क्षय हो रहा है। यह पूर्वजन्मकी तपस्या जब तक थोड़ी बहुत बाकी है तबतक तो उनका राज्य चलेगा, उसके बाद सम्पूर्ण तपस्याके नाश होते ही वे सब नष्ट हो जायेंगे और संसारमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्य हो जायगा, यही वर्त्तमान समयमें राजनैतिक जगत्के अदृष्टचक्रका परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हो रहा है।

(३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तप: सञ्चय और भगवत् कृपा लाभ। एक ओर तो राजागण पापचरण, प्रजापीड़न, दुर्व्यसन आदिके द्वारा पूर्वतपस्याको खोकर शक्तिहीन हो रहे हैं और दूसरी ओर प्रजा त्यागी, सच्चे धार्मिक नेताओंकी वशवर्त्तिनी होकर धैर्य्यके साथ अन्यायी राजाके अत्याचारोंको सहन करती जाती है और धैर्य्य, त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणोंके प्रभावसे विशेष तप:सञ्चय तथा दैवकृपालाभ कर रही है। इसका फल क्या होगा सो अनायास ही मालूम हो सकता है। राजाकी ओरसे भगवत्कृपा हट जायगी और प्रजाके ऊपर करुणानिधान भगवान्की कृपादृष्टिकी वृष्टि होगी। संसारमें सहनशीलता त्याग और आत्मबलिदानके द्वारा ही निखिल शक्ति प्राप्त होती है। वसुदेव देवकी यदि कंसके अत्याचारको सहन न करते तो श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र उनके पुत्र बन, संसारमें प्रकट तथा उनका दु:खनाश व कंसविनाश न करते। द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय यदि पाण्डवगण धैर्य्य और धर्मको न रखते, तो श्रीभगवान्की कृपा तथा कुरुक्षेत्रयुद्धमें उनको जयश्री नहीं प्राप्त होती। महात्मा ईसामसी यदि यहूँदियोंके मरणान्त अत्याचारको सहन न करते, तो ईसाईधर्म आज समस्त संसारमें इतना विस्तृत न हो जाता। अत: सहिष्णुतासे तपोलाभ और उससे दैवकृपा, भगवत्कृपालाभ तथा अन्तमें तपस्याके फलसे राज्य-लाभ विधाताका अवश्यम्भावी विधान है। इन्हीं तीन विशेष कारणोंसे राजनैतिक जगच्चक्रकी गति कलियुगके इस अंशमें प्रजातन्त्रकी ओर चल रही है यही विचार तथा अनुभवसिद्ध सत्य जान पड़ता है।

जिस प्रकार प्रजातन्त्रकी ओर गति आजकल समस्त जगत्में हो रही है, यद्यपि प्राचीन हिन्दु-राज्यके समय ऐसी प्रजातन्त्रप्रथा नहीं थी, तथापि राज्यशासनमें प्रजामत और बहुमतका बड़ा ही सम्मान था और प्रकारान्तरसे प्रजातन्त्र ही था। इसके उदाहरणके लिये बहुत दूर तक ढूँढ़ना नहीं पड़ेगा। आदर्श क्षत्रियनरपति रामचन्द्रके राज्यतन्त्र पर विचार करनेसे ही सिद्धान्त निर्णय हो जायगा। श्रीरामचन्द्रके राज्याभिषेकके समय दशरथने प्रजाओंके भिन्न भिन्न पक्षोंकी सम्मति लेकर तब गुरु वशिष्ठसे अभिषेक कार्य कराया था, ऐसा रामायणमें लिखा है। श्रीरामचन्द्र अपने राज्य-

कालमें प्रजामतको कितना मानते थे सो रामायणके पत्र पत्रमें स्पष्ट है। यह उनके प्रजा-मतके माननेका ही पूर्ण निदर्शन था कि—बहुबार परीक्षा द्वारा संसारके सम्मुख सम्पूर्ण निर्दोषा प्रमाणित होनेपर भी—परमसती सीताका केवल प्रजा-सन्तोषके लिये उन्होंने वनवास कराया था। प्रजामत माननेका एतादृश दृष्टान्त जगत्के इतिहासमें अतीव दुर्लभ है। प्राचीन आर्यमतानुसार क्षत्रियवर्णमेंसे ही नरपति हो सकते थे, अन्य-वर्णोंमेंसे राजा नहीं हो सकते थे। इसका हेतु यह है कि, सत्त्वगुणमें क्रियाशक्तिका अभाव होनेसे सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण वर्णमेंसे राजा नहीं हो सकते। तमोगुणमें प्रमाद अधिक होनेसे तमोगुणप्रधान शूद्रवर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते। वैश्यवर्णमें क्रिया-शक्तिमूलक रजोगुण होनेपर भी उसकी प्रवृत्ति तमोगुणकी ओर है इस कारण वैश्य वर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते। केवल सत्त्वगुणकी ओर झुकते हुए रजोगुणसे युक्त क्षत्रियवर्णमेंसे ही आर्यशास्त्रानुसार राजा हो सकते हैं। उनमें रजोगुणके कारण क्रियाशक्ति, युद्धशक्ति आदिका प्राचुर्य रहेगा और सत्त्वगुणके कारण धर्मभावका आधिक्य होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकर्म सञ्चालन हो सकेगा। इसी प्रकारसे राजतन्त्रप्रणाली सञ्चालनका भार प्राचीनकालमें क्षत्रिय जातिपर था। किन्तु कोई भी तन्त्र स्वतन्त्र या निरंकुश नहीं था, दोनों ही तन्त्र धर्मतन्त्रके द्वारा नियमित था, जिससे राजतन्त्रकी स्वेच्छाचारिता तथा प्रजातन्त्रकी निरंकुशता किसीकी भी सम्भावना न थी और उस धर्मतन्त्रकी व्यवस्थाका भार सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी त्यागी प्रजा-दूरदर्शी महर्षियों पर था। निर्लोभ अरण्यवासी, तपस्वी महर्षिगण समस्त प्रजाके प्रतिनिधिरूप होकर ज्ञानदृष्टि तथा धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार राज्यशासनकी प्रक्रिया क्षत्रिय नरपतिको बताया करते थे और इसीप्रकारसे धर्मतन्त्रके अधीन होकर नरपति प्रजामतके अनुसार राज्य चलाया करते थे। जहाँपर कभी किसी राज्यके द्वारा धर्मतन्त्रकी अवमानना या अवहेलना होती थी, प्रजामतके प्रतिनिधि महर्षिगण उसी समय निरंकुश राजाको सावधान कर दिया करते थे। धर्मतन्त्रके पूर्णनाशकी आशङ्का देखनेपर अन्यायी अधार्मिक राजाको गद्दीसे उतारकर योग्य धार्मिक क्षत्रिय वीरको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करते थे। यही प्राचीनप्रथानुसार धर्मतन्त्र द्वारा राजतन्त्र और प्रजातन्त्रका सामञ्जस्य तथा क्षत्रिय नरपतिका धर्मानुकूल राज्यशासन व्यवस्था है। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि, प्राचीन कालमें राजतन्त्र-प्रथा प्रचलित रहनेपर भी वह वस्तुतः एक प्रकारसे प्रजातन्त्र ही था, जिसके निम्नलिखित लक्षणपर विचार किये जा सकते हैं।

(क) उस समय ग्राम ग्राम नगर नगरमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र पञ्चायतें थीं, जिसका

प्रमाण मध्ययुगके इतिहाससे भूरि भूरि मिल सकता है। (ख) धर्मपरिषद्की व्यवस्था-की दृढ़ आज्ञा स्मृतिशास्त्रमें है जिसके अनुसार उस राजकीयसभाके सभासद् प्रजाओंमेंसे चुने जाते थे। (ग) राजधर्म तथा प्रजाशासनप्रणालीके निर्णयमें राजागण निरङ्कुश होने ही नहीं थे, पाते क्योंकि अरण्यवासी ज्ञानी तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा वे सब नियम बनाये जाते थे। जिससे पञ्चायतकी कोई भी सम्भावना न थी जैसा कि आजकल बहुमत-से राजसभाओंमें होता है। ब्राह्मणगण निःस्वार्थव्रतधारी तथा तपोधन होनेके कारण और विशेषतः उनमें अन्तर्दृष्टि रहनेसे उनके सिद्धान्त दोषरहित, सर्वजीवहितकारी और दूरदर्शितासे पूर्ण होते थे। अतः उस समय नवीन प्रजातन्त्रप्रणाली न रहने पर भी वस्तुतः वह प्रजातन्त्र ही थी, केवल उसमें विलक्षणता यह थी कि, उस प्रणालीमें राजा प्रजा दोनों ही निरङ्कुश नहीं होने पाते थे। प्रजा राजाकी सन्तति समझी जाती थी और राजा अपनेको भगवान्‌की ओरसे राजसम्पत्तिके रक्षक तथा आश्रयदाता समझते थे।

कालके प्रभावसे अब इस प्रकार सर्वहितकर राजप्रणाली नष्टप्राय हो गई है। न ऐसे धर्मपरायण वीर क्षत्रिय नरपति ही रहे और न उसप्रकार धर्मतन्त्रकी सम्भावना ही रही। अब तो सर्वत्र अर्थकामका दोर्दण्डप्रताप, स्वार्थपरता, प्रजापीड़न, प्रजाका धनरत्नलुंठन, अविचार, अनाचार ही देखनेमें आ रहा है। आर्यजाति स्वधर्मविद्वेष-वह्निसे दग्ध होकर जब भारतसाम्राज्यको खो बैठी थी, तब श्रीभगवान्‌ने आर्यजातिको स्वधर्मप्रेमशिक्षामें सहायता देनेके लिये स्वधर्मप्रेमी मुसलमानजाति पर भारतसाम्राज्यका शासनभार सौंपा था। किन्तु कुछ वर्ष राज्य करनेके बाद औरङ्गजेब प्रमुख यवननर-पतियोंने आर्यजातिका स्वधर्मप्रेम न रखकर जब आर्यधर्मके मूलमें ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया तो भगवदिच्छाके विरुद्ध होनेसे भारतवर्षमेंसे मुसलमान-राज्यका नाश हो गया। तदनन्तर आर्यजातिमें स्वजातिविद्वेषवह्निको प्रबल देखकर श्रीभगवान्‌ने आर्यजातिको स्वजातिप्रेमशिक्षामें सहायतादेनेके लिये स्वजातिप्रेमी अङ्गरेजजाति पर भारतका शासनभार सौंपा था। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतवासीको स्वजातिप्रेमकी शिक्षा नहीं मिली, उलटा हिन्दुजातिमें भ्रातृविद्वेष, अनैक्य, स्वजातिविद्वेषका बीज बोना प्रारम्भ हो गया है। अतः जिस उद्देश्यसे श्रीभगवान्‌ने उनको यहाँ पर भेजा था वह पूर्ण न हो सका। इधर ऊपर कथित तीनों कारणोंसे धर्मतन्त्रका नाश, तपस्याका नाश तथा सहनशील प्रजाओंमें दिन दिन तपोवृद्धि हो रही है। अतः कालचक्रकी गतिपर अनुसन्धान कर देखनेसे यही अनुभवमें आता है कि, अब कलियुगके आगामी कुछ वर्षों तक संसारमें प्रजातन्त्रका ही जोर रहेगा और इस प्रकारसे नानाजाति तथा राज्यका

उत्थान पतन होते होते कलियुगके अन्तकालमें वही होगा जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवतके १२ स्कन्धमें कहा है—

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥

सूर्यवंशीय मरुराजा और चन्द्रवंशीय देवापि राजा अतीन्द्रिय योगशरीरमें कलापग्राममें निवास करते हुए अभीसे योग तथा तपस्याचरण कर रहे हैं। कलियुगके अन्तमें जब श्रीभगवान् कल्किरूपमें ब्राह्मणवंशमें अवतार धारण करेंगे और पापी म्लेच्छोंका नाश करके धर्मतन्त्रकी व्यवस्था करेंगे उससमय देवापि और मरु-कल्कि-भगवान्की आज्ञानुसार आर्यजातिके अधिपति होकर भारतवर्षका शासनभार अपने हाथमें लेंगे और उसी समयसे पुनः वर्णाश्रमानुकूल धर्मानुकूल राजतन्त्रकी प्रतिष्ठा होगी। अतः हिन्दुजातिको वर्तमान राजनैतिक जगच्चक्रकी गतिके अनुसार आत्मरक्षा तथा चतुष्पाद-पूर्ण स्वाराज्यलाभके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और श्रीभगवान् वेदव्यास कथित भावी शुभ समयकी शुभ उदय आकाङ्क्षासे आर्यशास्त्रसम्मत पवित्र वर्णाश्रमधर्मकी बीजरक्षा करनी चाहिये यही दूरदर्शी मुनिगणका अकाट्य सिद्धान्त है।

भविष्यद्वाणीका अवश्यम्भावी फल जबतक भारतगगनमें नवोदित सूर्यकी तरह प्रकाशित नहीं होता है, तबतक आर्यजातिको पाश्चात्यराजनीतिव्यवस्था तथा कौशलका ही आश्रय लेना पड़ेगा और ऐसा लेना अनेक कारणोंसे अपरिहार्य जान पड़ता है। पाश्चात्य राजनैतिक शैलीकी पर्यालोचना करनेसे तथा उस देशके इतिहास पर मनन करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि, यद्यपि भारतकी सभ्यताने ही प्रथमावस्थामें समस्त पृथ्वीको सभ्यतालोकसे आलोकित किया था और यहाँ के आदर्शपर ही अन्य देशोंमें भी राजतन्त्रका प्रचार बना रहा था, परन्तु उत्तरकालमें उन उन देशोंकी सामाजिक उच्छृङ्खलताके कारण वहाँकी राजतन्त्रप्रणाली धर्मतन्त्रच्युत होकर बहुत ही निरङ्कुशताको प्राप्त हो गई थी जिसका नमूना अभी कुछ दिन हुए रूसके जार (Czar) और तुर्कके सुलतानके राजचरित्रके देखनेसे ही प्रकट हो जाता है। एक ओरकी निरङ्कुशताका यह आदर्श और दूसरी ओरके प्रजातन्त्रकी निरङ्कुशताका आदर्श वर्त्तमान यूरोपकी सार्वसामाजिक प्रजातन्त्र (Communionist republic) है। वस्तुतः यूरोपकी रोमन जातिको ही दोनों श्रेणियोंकी राजतन्त्र-प्रणालीका शिक्षागुरु कह सकते

हैं। वर्त्तमान समयमें निरङ्कुश राजतन्त्र-प्रणालीका नाश भगवत्कृपासे पृथिवीभरके सभ्यसमाजसे हो गया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु जितने प्रकारकी राजशासन-प्रणाली पृथिवी भरमें प्रचलित है उनको तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम नियमित राजतन्त्रप्रणाली (Limited Monarchy) जिसके उदाहरण ब्रिटिश सम्राट् तथा जापान सम्राट् हैं। द्वितीय साधारण प्रजातन्त्रप्रणाली (Democratiarce Rpublic) जिसका उदाहरण फ्रांस तथा यूनाइटेड्स्टेट्स है और तृतीय सार्व-सामाजिक प्रजातन्त्रप्रणाली (Ccommunionist) जिसका उदाहरण वर्त्तमान रूसकी प्रजातन्त्र प्रथा है। इन सभी प्रणालियोंमें यद्यपि निरङ्कुशता निवारणार्थ प्रजाकी ओरसे भी राजसभाएँ चुनी जाती हैं यथा—साधारणसभा और वृद्धसभा, किन्तु इस चुनावमें कुछ विशेषता नहीं है, क्योंकि वृद्धसभाका चुनाव कहीं धनसम्पत्तिके विचारसे होता है जैसे इङ्गलैण्डमें हाऊस आवलार्डस, कहीं साधारण प्रजामतसे ही होता है और कहीं प्रथमसभाके सभ्य ही दूसरी सभाको चुन लेते हैं, जैसा कि फ्रान्स आदि देशोंमें होता है। दोनों ओरकी शक्तिका सामञ्जस्य दर्शानेकेलिये इस वृद्ध-सभाके सङ्गठनमें और भी कुछ विशेषता होनी चाहिये और वह विशेषता उक्त वृद्ध-सभाके सभ्योंकी योग्यताके सम्बन्धसे होनी चाहिये। विद्वान् तथा प्राचीन राजनीति-कुशल नेतागण ही इसमें लिये जानेका नियम रहे तो और भी सावधानता होगी। आर्यजातिकी प्राचीन राजसभाके संगठनमें प्रवीणता, विद्या आदिका ही विचार रखनेका नियम था। मनुष्यकी उद्दामप्रवृत्ति स्वभावतः ही उसे नीचेकी ओर ले जाती है और यही कारण है कि जिस जातिके सामाजिक जीवनकी सुव्यवस्था नहीं है, ऐसी जातियाँ या तो कालकवलमें कवलित हो जाती हैं या असभ्यताके अन्धकूपमें डूब जाती हैं। प्राचीन रोमन इजिप्सियन आदि पूर्वकथित जातियोंका इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वर्त्तमान राजनैतिक व्यवस्थाके संगठनमें पूर्वकथित दोनों सभाओंके अतिरिक्त एक तीसरी सभा और भी होनी चाहिये और ऐसी सभाका होना हमारे प्राचीन भार-तीय सभ्यता तथा दूरदर्शिताके अनुकूल होगा। राजा तथा मन्त्रिसभाके चुनावके द्वारा इस तीसरी सभाका संगठन होवे जिसमें सब धर्मावलम्बी प्रजाकी संख्याके अनु-सार उक्त धर्म माननेवाले विद्वान् और स्वधर्मनिरत तपस्वी उदार धर्माचार्य या धर्म-व्यवसायी ही चुने जायँ और जिनके चुननेमें विद्या, तप, उदारता, चरित्रबल और निज निज धर्मके ज्ञानका विचार रक्खा जाय। सब बड़े बड़े विषयोंमें इनकी सम्मति ली जाय। विशेषतः सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी विषयोंमें इस सभाको हस्तक्षेप करनेका अधिकार रहे। इस प्रकारसे प्रजाओंकी सभा, वृद्ध राजनैतिकोंकी

सभा और धार्मिक सभा इन तीन सभाओंका यथावत् संगठन होनेसे देश और प्रजाकी अधोगतिमें अवश्य ही बाधा होगी और कार्य भी अपेक्षाकृत ठीक चलेगा। यही इस समयके उपयोगी राजनैतिक व्यवस्थाका दिग्दर्शन है। नवीन भारतके इस परिणाम-शील समयमें प्रवीण पिता-पितामहकी दूरदर्शितासे लाभ उठाकर यदि हमारे राजनैतिक नेतागण कार्यक्षेत्रमें अग्रसर होंगे तो भारतवर्ष तथा समस्त संसारके लिये शान्ति और सुधारका सन्मार्ग अवश्य ही प्रकाशित होगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अष्टम काण्डकी सप्तम शाखा समाप्त हुई।

उन्नतिका आदर्श।

पूर्ववर्त्ती अनेक प्रबन्धोंमें सनातनधर्म सम्बन्धीय विविध विषयोंका प्रचुर वर्णन करके अब अन्तिम दो प्रबन्धों द्वारा आर्यजातीयजीवन में उन सबका समावेश बताया जाता है।

आर्य्यजातिके लिये परम सौभाग्यका समय आया हुआ है कि आजकल प्रत्येक आर्य्यसन्तानके हृदयमें अपनी तथा अपनी जातिकी सर्वाङ्गीण उन्नतिकी चिन्ता सदैव हो रही है और अपने अपने अधिकारके अनुसार सभी लोग जातीय उन्नतिकेलिये पुरुषार्थ करनेमें भी प्रवृत्त हो रहे हैं। बिना लक्ष्य निर्णय किये पुरुषार्थ विपथगामी हो सकता है, इस कारण जातीय उन्नतिकेलिये पुरुषार्थ करनेसे पहिले आर्य्यजातिका स्वरूप, जातिगत मौलिकता तथा यथार्थ उन्नतिका आदर्श निर्णय करना अवश्य कर्त्तव्य है। आर्य्यजातिकी यथार्थ उन्नति किस प्रकारसे हो सकती है, इस विषयमें जितने मतवाद नवीनभारतमें चल रहे हैं उन सबको प्रधानतः दो भागमें विभक्त कर सकते हैं। एक मतवाद यह है कि प्राचीन महर्षिगण आर्य्यशास्त्रमें जो कुछ धर्मानुशासन बता गये हैं चाहे देशकाल पात्र कैसा ही हो, उन्हीं धर्मानुशासनोंका पूर्वयुगोंकी तरह पूर्णरूपसे प्रतिपालन होना चाहिये, उसमें वर्त्तमान देश काल तथा पात्रके अधिकार पर विचार करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वे सब धर्मानुशासन सकल अवस्थामें ही हमारे कल्याणकारक हैं। दूसरा मतवाद यह है कि प्राचीन महर्षियोंके अनुशासन अत्यन्त प्राचीन तथा नवीन सभ्यताके प्रतिकूल होनेके कारण एक वार ही परित्याज्य हैं, उनसे वर्त्तमान देशकालमें हमारी अवनतिके सिवाय उन्नति कदापि नहीं हो सकती है और देश तथा जातिकी उन्नतिके विचारसे तो वे सब अनुशासन बहुत ही हानिजनक हैं। इसलिये प्राचीन समस्त रीतिनीतियोंको तोड़कर नवीनभारतके उपयोगी पश्चिमी सभ्यताके आदर्श पर जब तक आर्य्यजातिकी सामाजिक, व्यावहारिक तथा राजनैतिक व्यवस्था न बाँधी जायगी तब तक वर्त्तमान देशकालमें आर्य्यजातिकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती है। इन दोनों परस्पर विरुद्ध मतवादके तीव्र संघर्षसे वर्त्तमान सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र बहुत ही डावांडोल हो रहा है और इसका प्रबल प्रतिघात आर्य्य-

जातिके हृदयको सदा ही विकम्पित कर रहा है, इसलिये नवीन भारतके ऊपरकथित दोनों मतवादोंके सत्यासत्य पर विचार करते हुए उनका यथासम्भव देशकालानुसार सामञ्जस्य किया जाता है।

प्रथम मतवादके विषयमें वक्तव्य यह है कि युगानुसार देश-काल तथा मनुष्य-प्रकृति पर विचार न करके अन्य युगोंमें प्रवर्त्तित अनुशासनोंका जैसा का तैसा इस कलियुगमें विधान करना, जब कि धर्मके ४ पादोंमेंसे एक ही पाद रह गया है, विचार, दूरदर्शिता तथा पूज्यपाद महर्षियोंके गम्भीर सिद्धान्तोंके भी अनुकूल नहीं है। जिस युगमें धर्मका जितना पाद अवशिष्ट रहता है, युगोत्पन्न मनुष्यकी प्रकृति भी उसीके अनुकूल होती है, इसीकारण मनुष्यकी प्रकृति तथा अधिकारपर विचार करके ही ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षिगण भिन्न भिन्न प्रकार धर्मानुशासन तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विधान कर गये हैं। पृथक् पृथक् अनेक स्मृतियाँ तथा उनमें पृथक् पृथक् विधिव्यवस्था विधानके मूलमें भी यही गूढ़ तथ्य निहित है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि कन्याके विवाह-काल के विषयमें "रजोदर्शनसे पहले विवाह होना चाहिये" इस सिद्धान्त पर कोई मतभेद न होने पर भी आयुके विषयमें ऋषियोंने भिन्न भिन्न स्मृतियोंमें अनेक मतभेद बताये हैं इसका कारण युगधर्म ही है। इसी प्रकार धर्मके अनेक अङ्ग प्रत्यङ्ग होने पर भी किस अङ्गके द्वारा किस युगमें कल्याणलाभ हो सकता है इसके विषयमें भी श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

सत्ययुगमें धर्मका तपरूपी अङ्ग ही प्रधान कल्याणदायक है, त्रेतायुगमें ज्ञानरूपी अङ्ग प्रधान कल्याणप्रद है, द्वापरयुगमें यज्ञ और कलियुगमें दान ही प्रधान अवलम्बनीय है। श्रीभगवान् मनुके इसप्रकार युगधर्म निर्णयके मूलमें ऊपर कथित जीवप्रकृति तथा जीवाधिकार पर ही विचार किया गया है। तपस्यामें सफलता लाभ करनेके लिये स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंके ही सबल तथा द्वन्द्वसहिष्णु होनेकी आवश्यकता है। सत्ययुगमें मनुष्य विशेष धार्मिक थे, उस समय गर्भाधान संस्कार भी पूरा था, इसलिये पिता माता धर्मभावसे प्रेरित होकर ही धार्मिक सन्तति उत्पन्न करते थे, इस प्रकार धार्मिक सन्ततिके स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर द्वन्द्वसहिष्णु तथा तपस्याके अनुकूल होते थे; इसी कारण सत्ययुगमें तपोधर्म चल सकता था और उसके द्वारा सिद्धिलाभ हुआ करता था।

कलियुगमें लोग बहुधा अधार्मिक तथा विषयी हो गये हैं, गर्भाधान संस्कार नष्टप्राय है, पिता माता काममुग्ध होकर कामजसन्तति उत्पन्न करते हैं, उनके कामज शरीर निम्नाधिकारके होनेसे तपस्याके अनुकूल नहीं होते इसीकारण कलियुगमें श्रीभगवान् मनुजीने तपोधर्मकी प्रधानता नहीं बताई है। इसप्रकारसे त्रेतायुगमें जो ज्ञानधर्मको मुख्य और कलियुगमें उसका निषेध किया गया है उसका भी यही कारण है कि बिना आधाररूपी सात्त्विक शरीर तथा सात्त्विक मन बुद्धिके प्राप्त किये उसमें यथार्थ ज्ञानका विकाश नहीं हो सकता। त्रेतायुगमें ऐसा सात्त्विक आधार था किन्तु कलियुगमें विरल ही ऐसा आधार देखनेमें आता है। इसी कारण त्रेतायुगकेलिये ज्ञानकी मुख्यता और कलियुगकेलिये उसकी गौणता बताई गई है। इसी प्रकार द्वापर युगके लिये यज्ञधर्मकी मुख्यता और कलियुगमें उसकी गौणता बताई गई है। यज्ञमें इप्सितफललाभके लिये द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि तथा मन्त्रशुद्धिकी आवश्यकता होती है। इसके बिना यज्ञमें सुफल प्राप्ति नहीं होती है और कहीं कहीं कुफलका भी उदय हो जाता है। द्रव्यशुद्धिमें यज्ञीय घृत आदि हवन सामग्रियोंको समझना चाहिये, सो इस समय शुद्ध घृतादि मिलना ही दुर्लभ है, अतः द्रव्यशुद्धि कलियुगमें होना बहुत ही कठिन है। मन्त्रशुद्धिके विषयमें पहिले ही लिखा है कि यज्ञमें वैदिक मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण न होनेसे वह मन्त्र यज्ञमें सिद्धि न देकर वज्रकी तरह यजमानका हनन करता है, वैदिक मन्त्रके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरभेद तथा लाघव गौरवके अनुसार ठीक ठीक उच्चारण करनेके लिये प्राणशक्तिके परिपोषणकी आवश्यकता विशेष होती है। बिना ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके प्राणका पोषण नहीं होता है। कलियुगके याज्ञिकोंमें इसका अत्यन्त अभाव है इसलिये मन्त्रोच्चारणमें स्वर या वर्णका दोष होना ही अत्यन्त सम्भव है, अतः इस युगमें मन्त्रशुद्धि होना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार क्रियाशुद्धिकेलिये भी क्रिया करनेवाले याज्ञिकोंमें मनःसंयम; जितेन्द्रियता, आस्तिकता, एकाग्रता, कर्मनिष्ठता आदि गुणोंका विशेष प्रयोजन है, सो कलिमलदूषित अन्तःकरणमें विरल ही देखनेमें आते हैं। अतः द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और क्रियाशुद्धि तीनोंमें ही जब असम्पूर्णता है तो यज्ञमें इस समय पूर्णफल प्राप्ति बहुत ही कठिन है और इसीकारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न श्रीभगवान् मनुजीने यज्ञधर्मको कलियुगमें मुख्य नहीं बताया है। इस प्रकारसे जब तपोधर्म, ज्ञानधर्म तथा यज्ञधर्म तीनोंकी ही गौणता हुई तो सबसे सरल, सहजसाध्य दानधर्म ही अवशिष्ट रह गया और इसी कारण "दानमेकं कलौ युगे" कहकर मनुजीने कराल कलियुगके लिये सहजसाध्य दानधर्मकी ही मुख्यता बताई है। दानधर्मके अनुष्ठानके लिये न तो स्थूलशरीरके सबल होनेकी ही आवश्यकता है और न अधिक सूक्ष्मशरीरके बलका ही प्रयोजन है,

केवल अपनी वस्तुको उसके प्रति ममत्व छोड़कर दूसरोंको दे देनेसे ही दान हो जाता है। इसलिये दानधर्म अति अनायाससाध्य तथा कलियुगके देश काल प्रकृतिके अनुकूल है। अतः ऊपर कथित समस्त विचारोंसे यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि सकल युगोंमें एक ही प्रकारके धर्मानुशासन नहीं चल सकते, किन्तु देश-काल तथा युगोत्पन्न मनुष्योंके अधिकार विचारसे धर्म्मलक्ष्यको अटूट रखकर भिन्न भिन्न युगोंमें धर्म्मव्यवस्था अवश्य ही बदलती रहती है। अतः प्रथम मतवाद उदार, दूरदर्शितापूर्ण तथा प्रवीण महर्षियोंके सिद्धान्तानुकूल नहीं है यही सिद्ध हुआ।

प्रथम मतवादकी असम्पूर्णता तथा अदूरदर्शिताके द्वारा द्वितीय मतवाद पुष्ट नहीं होता है और यह नहीं माना जा सकता है कि प्रवीण भारतकी सभी व्यवस्था दोषयुक्त तथा जातीय अवनतिकर है अतः देशोन्नतिके लिये सर्वथा परित्याज्य है; क्योंकि अतीतके संस्कार पर ही भविष्यत्का भाग्य निर्भर करता है। अतीत जीवनके गौरवकी सहायतासे ही भविष्यत् जीवनको गौरवमय बनाना सहजसाध्य तथा स्वाभाविक है। जिस जातिका अतीत जीवन गौरवमय नहीं है, उस जातिके भविष्यत् जीवनको गौरवमय बनाना बहुत ही कठिन हो जाता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" जो वस्तु है नहीं उसकी सत्ता भी बन नहीं सकती और जिसकी सत्ता है उसका अभाव या नाश भी नहीं हो सकता है। इसलिये जिस जातिमें जो संस्कार नहीं है, जिसप्रकारका जीवन नहीं है, संस्कार या जीवन उसमें प्रतिष्ठित करना असम्भव या बहुत ही कठिन हो जाता है। अन्य जातीय सधवा या विधवा स्त्रियोंको सतीधर्मकी महिमा सिखाना उतना सहजसाध्य नहीं है, जितना आर्य्य-जातीय सधवा विधवा स्त्रियोंको सतीधर्म्मकी महिमा सिखाना सहज है; क्योंकि इस जातिके अतीत जीवनमें सीता, सावित्री, मदालसा आदि सती माताओंके उज्ज्वल पातिव्रत्य संस्कार दृढ़मूल हैं। अन्य जातीय युवकोंको ब्रह्मचर्य्यकी शिक्षा देना उतना सरल कार्य नहीं है; जितना आर्य्यजातीय युवकोंको ब्रह्मचर्य्यकी शिक्षा देना सरल है; क्योंकि आर्य्यजातिके अतीत जीवनमें भीष्मपितामह, भगवान् शंकराचार्य आदि पूज्य पुरुषोंके नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संस्कार परिपूर्ण है। अन्यजातीय मनुष्योंको योग तपस्या तथा निर्गुण ब्रह्मका उपदेश करना उतना सहज नहीं है, जितना आर्यजातीय सत्पुरुषोंको योग, तपस्या तथा निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बताना सहज है, क्योंकि आर्यजातिके अतीत जीवनमें योगी याज्ञवल्क्य, ब्रह्मनिष्ठ गुरुवशिष्ठ तथा परम तपस्वी महर्षियोंके मधुर जीवनका संस्कार विद्यमान है। अतः सिद्ध हुआ कि अतीत जीवनके गौरवपर ही भविष्यत् जीवनकी गौरव प्रतिष्ठा स्वाभाविक तथा अनायास साध्य है। इन्हीं बातोंपर विचार

करके विद्वान् म्येक्समूलर साहबने अपने ग्रंथमें लिखा है *—"जो जाति अपने अतीत जीवनके गौरवको भूल जाती है वह अपने जातीय चरित्रके प्रधान अवलम्बनको खो डालती है। जिस समय जर्मनजाति राजनैतिक अवनतिके अन्धकूपमें डूबी हुई थी, उसने कोई भी उपाय न देखकर अपने अतीत इतिहास पर ही ध्यान दिया और उसीके सहारे भविष्यत् जातीय उन्नतिकी आशा उसके हृदयमें प्रतिष्ठित हो गई।" किसी नवीन जातिको उन्नत करना और वस्तु है, और किसी पुरानी गिरी हुई जातिको उन्नत करना कुछ और वस्तु है। नवीन जाति नवीन कल्पित अथवा किसी पुरानी जातिसे संगृहीत यथासम्भव प्रकृति अनुकूल नवीन संस्कार द्वारा उन्नतिलाभ कर सकती है; किन्तु जिस जातिके रक्त मांस मज्जातकमें तथा रोम रोममें प्राचीन संस्कार समाया हुआ है और उन्हीं प्राचीन संस्कारोंके परिपाकका अभाव होनेसे जो जाति हीनप्रभ हो रही है, उसकी उन्नति उन प्राचीन संस्कारोंको नष्ट करके नवीन संस्कारोंके सन्निवेश द्वारा कदापि नहीं हो सकेगी; क्योंकि मज्जागत प्राचीन संस्कारोंको नाश करनेकी चेष्टासे वह जाति ही नष्ट हो जायगी। अनादिकालसे प्रतिपालित संस्कार जातिका प्राणरूप हो जाता है। सुतरां उसके नाशसे जातिका प्राण ही नष्ट हो जाता है। Put new wine in the old bottle; the bottle will burst अर्थात् पुरातन पात्रमें नवीन आसवके रखनेसे पात्र फट जाता है, इसको सब ही लोग जानते हैं। अतः प्राचीन संस्कारसे जकड़ी हुई प्राचीन जातिकी उक्त संस्कारके नाश तथा नवीन संस्कारके संयोग द्वारा उन्नति नहीं हो सकती है, किन्तु प्राचीन संस्कारोंके पुनः प्रवर्त्तन द्वारा ही उन्नति हो सकती है। इसलिये नवीन मतवादियोंका सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है। किन्तु नवीन मतवादियोंका सिद्धान्त समीचीन न होनेपर भी देश-काल-पात्रका विचार करना पूर्व वर्णनानुसार अवश्य ही युक्तियुक्त है। इस कारण दोनों मतवादोंका इस प्रकारसे सामञ्जस्य करना होगा कि आर्य्यजातीय लक्ष्य, आर्य्यजातीय संस्कार तथा आर्य्यजातीय आदर्श अटूट रहे किन्तु वर्त्तमान देश-काल तथा अधिकारके अनुसार उन सभोंका सामञ्जस्य हो। ऐसा होनेपर ही प्रवीण पूज्यपाद महर्षियोंके आज्ञानुसार

---

* A nation which forgets the glory of its past loses the mainstay of its national character. When Germany was in the depth of political degradation she turned back upon her ancient literature and drew hope for the future from the study of the Past. Prof. Maxmuller.

नवीन देश कालमें आर्य्यजातिका अधिकारानुसार योग्य कल्याण तथा उन्नतिलाभ हो सकता है।

आर्य्यजातिकी उन्नतिका आदर्श निर्णय करनेसे पहले जाति और उन्नति इन दोनों शब्दोंके लक्षणोंपर अवश्य विचार करना चाहिये। समस्त संसारमें जो नाना-प्रकारकी प्रकृतिसम्पन्न नानाप्रकारकी जातियाँ देखने में आती हैं, इन सबकी उत्पत्ति कैसे हुई इस बातपर विचार करनेसे गवेषणापरायण मनुष्य अवश्य ही सिद्धान्त कर सकेंगे कि प्रकृतिका त्रिगुणवैचित्र्य ही विविध विचित्र जातिसृष्टिविकाशका आदि निदान है। स्थूलप्रकृतिकी जिस भूमिमें जिस प्रकार गुणविलास प्राकृतिकरूपसे प्रकट होता है, वहाँ पर उसी गुणानुरूप जातिका भी जन्म होता है। जिस भूमिमें प्रकृतिका पूर्ण विकाश होनेके कारण त्रिगुणका भी पूर्ण प्राकट्य है वहाँ पर पूर्ण प्रकृतियुक्त जातिका नैसर्गिक-रूपसे ही जन्म होगा। जहाँ पर प्राकृतिक पूर्णताके न होनेसे तीनोंमेंसे किसी एक गुण या दो गुणका विकाश रहेगा वहाँ ऐसी ही प्रकृतिवाली जातिका जन्म होगा। महा-प्रलयके अनन्तर समष्टि सृष्टिके पूर्वकथित विज्ञानानुसार प्रथम सृष्टिमें जब शुद्ध सत्त्व-गुणका विकाश रहता है तब सत्त्वगुणमय आर्य्यजाति और उसमें भी शुद्धसत्त्वगुणमय ब्राह्मणोंका जन्म पूर्णप्रकृतियुक्त भारतभूमिमें होता है, जिसका रहस्य पूर्व अध्यायमें भली भाँति बताया जा चुका है। तदनन्तर समष्टि सृष्टिकी गति निम्नाभिमुखिनी होनेके कारण सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, तमोगुणका जितना जितना विस्तार होने लगता है उतना ही भारतवर्षमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सृष्टि और पृथिवीके रजस्तम आदि गुण-प्रधान नानादेशोंमें रजस्तमआदि गुणयुक्त, अपूर्ण आचार तथा अनाचार परायण अनेक जातियोंका जन्म या भारतादि देशान्तरोंसे जाकर उपनिवेशस्थापन द्वारा विस्तार हो जाता है। इस प्रकारसे समष्टिसृष्टिके निम्नगामी क्रमानुसार समस्त पृथिवीमें प्रथमतः आर्यजातिकी उत्पत्ति और तदनन्तर क्रमशः अन्यान्य जातियोंकी उत्पत्ति होती है।

ऊपर कथित विचारसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृतिके त्रिगुण तारतम्या-नुसार ही पृथिवीके भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी जातियोंका जन्म होता है। जाति व्यक्तिकी ही समष्टि है, अतः जिस गुणप्राधान्यसे जाति बनेगी उसके उपादान-भूत व्यक्तिमें भी उस गुणका प्रभाव अवश्य रहेगा और इस प्रकारका प्रभाव रहनेसे ही व्यक्ति या उसके समष्टिभूत जातिके बाह्य आभ्यन्तर सकल भावोंमें उस गुणका अभि-निवेश रहेगा। बल्कि ऐसा अभिनिवेश ही एक जातिसे अन्य जातिका पार्थक्यनिर्णायक होगा। अतः सिद्ध हुआ कि बाह्य आभ्यन्तर लक्षणोंकी समानता ही जातिका द्योतक है। इस समानता या सादृश्यका विकाश भावसादृश्य, संस्कार सादृश्य, चिन्तासादृश्य,

लक्ष्यसादृश्य, सामाजिक व्यवहार सादृश्य, राजनैतिक व्यवस्थासादृश्य, आचार सादृश्य, भाषासादृश्य, रूपसादृश्य तथा, गुणसादृश्यके द्वारा हुआ करता है। आर्य्यजातिमें जिस गुणका प्राधान्य है, आर्य्यजातिका संस्कार, लक्ष्य, आचार, सामाजिक रीतिनीति, भाषा, भाव, रूप आदि सभी उसी गुणानुसार ही व्यक्त होगा। मुसलमान जातिमें जिस गुणका प्राधान्य है मुसलमानजातिका संस्कार, धर्मलक्ष्य, आचार, सामाजिक व्यवस्था आदि सभी उसी गुणानुकूल अवश्य होगा। अङ्गरेजजातिमें जिस गुणका प्राधान्य है अँग्रेजजातिका संस्कार, धर्मलक्ष्य, आचार, सामाजिक रीति नीति सभी उसी गुणानुसार होगा। इस प्रकार जातिगत विशेषत्व ही जातिकी मौलिकताका रक्षक है, यही जातिकी जातीयता है। यह जातीयता या जातिगत विशेषता चाहे किसी कोटिकी या किसी गुणकी हो, इसीको जब तक जाति निबाहेगी तभी तक संसारमें जातिका अस्तित्व रहेगा। जातिगत विशेषताको नष्ट करके या दूसरी जातिमें लय करके जाति उन्नत नहीं होती है, परन्तु काल समुद्रमें डूब जाती है; क्योंकि विशेषता ही जातिका जीवन है। जिस गुणके प्राधान्यसे आर्य्यजातिका जन्म हुआ है, उसीके अनुसार आर्य्यजातिका लक्ष्य, सामाजिक रीति नीति, आचार, भाषा, भाव, सभी नैसर्गिकरूपसे प्रकट हुए हैं। अतः यही सब आर्य्यजातिकी जातीयता तथा जातिगत मौलिकताका रक्षक है। ये सब मौलिकता अंग्रेजजाति या मुसलमानजातिकी जातिगत मौलिकतासे उत्कृष्ट या निकृष्ट है इसके विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब प्राकृतिक विधिके अनुसार अनादिकालसे आर्य्यजातिकी इसप्रकार जातिगत मौलिकता देखनेमें आती है और जातिकी मज्जा-मज्जामें संस्काररूपसे जकड़ी हुई है तो इस मौलिकताकी रक्षा द्वारा ही आर्यजाति जीवित रह सकेगी और इसकी उन्नति द्वारा आर्यजाति उन्नति कर सकेगी। मौलिकताको नष्ट करनेसे या किसी उन्नत या अवनत जातिमें उसे लय कर देनेसे आर्यजाति मर जायगी उन्नति नहीं करेगी। अतः आर्यत्वकी रक्षा ही आर्यजातिकी रक्षा है, उसकी पुष्टि ही आर्य्यजातिकी उन्नति है। इसीलिए श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्" उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मसे साधारणरूपसे अनुष्ठित स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसी स्वधर्मकी उन्नतिसे ही जातिकी उन्नति क्रमशः होती है, क्योंकि स्वधर्म होनेसे वह नैसर्गिक है अतः उन्नतिका प्राकृतिक सहायक है, स्वधर्मसे उत्तम या अधम कोई भी परधर्म उन्नति साधक नहीं हो सकता है। अश्वत्व यदि गर्दभत्वमें लय हो जाय तौ भी उसकी उन्नति नहीं है और यदि सिंहत्वमें लय हो जाय तौ भी उसकी उन्नति नहीं है। क्योंकि दोनों दशामें ही अश्वत्वका नाश है। अतः जातिके प्राणस्वरूप जातीय मौलिकताकी रक्षा तथा उन्नति

द्वारा ही जातिकी उन्नति हो सकती है। उसके नाशसे या किसी अपेक्षाकृत उन्नत या अवनत जातिमें उसको लय कर देनेसे जातिकी उन्नति नहीं हो सकती है। मुसलमान जाति अपनी जातीय मौलिकता अर्थात् मुसलमानपनको अक्षुण्ण रखकर ही उन्नति कर सकती है। उसको आर्यजातिमें, अंग्रेजजाति या और किसी तीसरी जातिमें लवलीन करके उन्नति नहीं कर सकती है। उसी प्रकार अंग्रेजजाति भी अपने अंग्रेजपनको रखकर ही उन्नति कर सकती है, उसको खोकर उन्नति नहीं कर सकती है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि समानलक्षणाक्रान्त व्यक्तियोंकी समष्टिका नाम जाति है, जिस जातिमें उसी समानताके अनुसार जो जो विशेषता है, वही उस जातिकी जातीय मौलिकता है, मौलिकगुण होनेसे विशेषता ही जातिका प्राण है, उसी प्राणकी रक्षा तथा पोषणद्वारा जातिका प्राण पुष्ट तथा जाति उन्नत हो सकती है, विशेषता या जातीय मौलिकताके नाश या जात्यन्तरमें विलयसाधन द्वारा जातिकी कदापि उन्नति नहीं हो सकती है।

जातिके लक्षणपर विचार करके अब 'उन्नति' के लक्षणपर विचार किया जाता है। उन्नति किसको कहते हैं और कैसे होती है, इस पर अनुधावन करनेसे पता लगेगा कि सभी उन्नति बीजवृक्षन्यायसे भीतरसे बाहर की ओर होती है। जिस प्रकार बीजमें भावी वृक्षका समस्त उपादान पहलेसे ही विद्यमान रहता है, केवल रसादिके सञ्चार द्वारा उसी उपादानको परिस्फुट करनेसे ही बीजसे वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार सभी उन्नति भीतरसे बाहरकी ओर हुआ करती है। (To grow is to evolve, every growth is from the inside) आमके बीजमें भावी आम्रवृक्षके सभी उपादान पहलेसे विद्यमान रहते हैं। उन्हीं उपादानोंको रसादि द्वारा परिपुष्ट तथा पूर्णाकारमें परिवर्धित किया जाता है, उसीसे आम्रबीजसे पूर्णायतन आम्रवृक्ष बन जाता है। उसमें नवीन किसी उपादानके संयोगकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल बीजमें विद्यमान उपादानके परिस्फुट करनेकी ही आवश्यकता होती है और इस प्रकारसे पूर्ण परिस्फुट बीजसे ही पूर्णोन्नत वृक्ष उत्पन्न होता है। अतः सिद्ध हुआ कि व्यक्ति या जातिगत बीजमें प्रच्छन्न उपादान शक्तिका पूर्णविकाश साधन ही उन्नति है किसी नवीन वस्तुका संयोग उन्नति नहीं है। आमके बीजसे आमका वृक्ष उत्पन्न करके उसमें पूर्णावयव तथा पूर्णरसयुक्त आम पैदा करना ही आमकी उन्नति है, किन्तु यदि दैववशात् आमके बीजसे आम्रवृक्ष न बनकर अश्वत्थवृक्ष बन जाय और वह अश्वत्थवृक्ष आम्रवृक्षसे २० गुणा लम्बा-चौड़ा बने तथापि वह आमकी उन्नति नहीं कहलावेगी, बल्कि उसका नाश ही कहलावेगा। उसीप्रकार अश्वमें जो अश्वत्वका उपादान विद्यमान है उसीको परिस्फुट करना ही अश्वकी उन्नति कहलावेगी, उस उपादानको नष्ट करके अश्वको बलवान् खचर बनाना

अश्वकी उन्नति नहीं कहलावेगी। जिसमें जो मौलिक सत्ता है उसकीका पूर्ण विकाश कराना ही उसकी उन्नति कराना है। वह मौलिक सत्ता किसी अन्य वस्तुकी मौलिक सत्तामें किसी अंशमें उत्तम या अधम हो सकती है, किन्तु उसका विचार करनेसे उन्नतिका तत्त्व नहीं निकलेगा। उन्नति वस्तुगत मौलिक सत्ताकी पूर्णता द्वारा ही पूर्ण हो सकेगी। श्वानकी उन्नति पूर्ण श्वान बनके ही है, घोड़ा या सिंह बनके नहीं है, मानवकी उन्नति पूर्णमानव बनके ही है, अतिमानव या अमानव बनके नहीं है। ब्राह्मणकी उन्नति पूर्णब्राह्मण बनके ही हो सकती है, अतिब्राह्मण या अब्राह्मण बनके नहीं हो सकती है, आर्यजातिकी उन्नति पूर्ण आर्य बनके ही हो सकती है, अनार्य बनके नहीं हो सकती है, मुसलमानकी उन्नति पूर्ण मुसलमान बनके ही हो सकती है, मुसलमानपनको खोकर ईसाई या हिन्दु बनके नहीं हो सकती है, अङ्गरेजकी उन्नति अङ्गरेजपनको पूर्णरूपसे कायम रखकर ही है, उसको खोकर मुसलमान जाति या आर्यजाति या और किसी जातिमें अपनी सत्ताको नष्ट करके नहीं है। यही 'उन्नति' शब्दका लक्षण तथा भावार्थ है। यदि आर्य अपने आर्यभावको खोकर अनार्य हो जाय और ऐसा होकर भौतिक उन्नतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच जाय तो भी वह उन्नति आर्यदृष्टिसे कुछ भी नहीं कहलावेगी, बल्कि अवनति तथा अपनी सत्ताका नाश ही कहलावेगा। हम यदि हम ही न रहे तो हमारी उन्नति क्या हुई? मरकर उन्नति करना उन्नति नहीं है। भारत अभारत होकर, अमेरिका होकर या इङ्गलैण्ड होकर उन्नति नहीं कर सकता है, भारत सच्चा भारत रहकर ही उन्नति कर सकता। हमारी सन्तान ऋषि बनकर ही उन्नति कर सकती है। हम ऋषिकी सन्तान ऋषि बनकर ही उन्नति कर सकते हैं हमारी उन्नति सेक्सपीयर बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु वेदव्यास बनकर हो सकती है; हमारी उन्नति मिल्टन, शेली, बायरन बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु कश्यप, भरद्वाज, शाण्डिल्य बनकर हो सकती है, हमारी उन्नति वाशिंटन, क्लाईव, नेपोलियन बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु भीष्म, अर्जुन, महाराणा प्रताप बनकर हो सकती है, हमारी माताओंकी उन्नति एलिजाबेथ, क्लिओपेट्रा बनकर नहीं हो सकती है, किन्तु सीता, सावित्री, मैत्रेयी बनकर हो सकती है। यही जातीय मौलिकताके विचारसे प्रत्येक जातिकी उन्नतिका गूढ़ लक्षण है।

ऊपर लिखित विचारोंसे कोई ऐसा न समझे कि किसी अन्यजातिमें कोई सद्गुणका आदर्श होनेपर भी उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्ति या जातिको मधुकरकी नांई सभी स्थानोंसे अच्छी वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये। परन्तु इसमें इतनी सावधानता अवश्य ही होनी चाहिये कि दूसरी जातिसे किसी

वस्तुके लेनेमें अपनी जातीय विशेषता नष्ट न हो जाय और लेनेके बाद ऐसी सावधानता तथा बुद्धिमत्तासे उसका परिपाक (Assimilation) होना चाहिये कि उससे अपनी जातीय विशेषता नष्ट न होकर और भी पुष्ट हो सके, तभी मधुकरवृत्तिकी सफलता तथा चरितार्थता होगी। अन्यथा दूसरेसे लेनेके उद्योगमें पड़ कर अपना खो देने तथा दूसरेके बन जानेकी अपेक्षा दूसरेका न लेना ही अच्छा होगा। इस प्रकारसे पराई वस्तुको सामञ्जस्यके साथ अपना बनाकर अपनी जातीय-विशेषता तथा मौलिकताका देशकालानुसार सामञ्जस्य करना होगा। क्योंकि उत्तमसे उत्तम जातीय विशेषता भी यदि देशकाल तथा युगधर्म्मके प्रतिकूल हो तो चल नहीं सकती। अतः जाति और उन्नति इन दोनोंके लक्षणोंपर विचार करते हुए जब ऊपर लिखित सब बातोंपर ध्यान रक्खा जायगा तभी जातिका यथार्थ कल्याण संसाधित हो सकेगा।

पहिले ही कहा गया है कि जातीय विशेषता ही जातिका प्राण है। अब वह प्राणरूपी जातीय विशेषता किन किन विषयों पर प्रतिष्ठित है सो विचार किया जाता है। 'विशेष' शब्द 'साधारण' शब्दका व्यावर्त्तक है; अर्थात् विशेष कहनेसे ही यह मालूम होता है कि वह 'साधारण' नहीं है, वह कुछ ऐसी खास वस्तु है जो उसीके भीतर है और अन्य किसीके भीतर नहीं हो सकती। किन्तु इसमें इस प्रकार शंका हो सकती है कि कोई दुर्गुण या दुराचार भी यदि किसी जातिके भीतर खास तौर पर रहे तो क्या उसको भी जातीय विशेषता समझना होगा और ऐसा समझकर उस दुर्गुण या दुराचारका पक्षपात करना होगा? कदापि नहीं। इसलिये केवल अनन्यसाधारणत्व ही विशेषताका लक्षण नहीं है, किन्तु जातीय गुणगत प्राकृतिक संस्कार तथा जातीय जीवनके साथ अच्छेद्य सम्बन्धवत्ता भी जातीय विशेषताका लक्षण है। वस्तु अनन्यसाधारण अर्थात् खास हो, अन्यजातिमें वह न मिलती हो और जातीय जीवनके अस्तित्व तथा उत्थानपतनके साथ उसका नैसर्गिक सम्बन्ध हो तभी वह जातीय विशेषता या मौलिकता कहलावेगी, इस प्रकारकी जातीय विशेषता ही जातिका जीवन है। अर्थात् जब तक जाति इस विशेषताको बनाये रखती है, उसके प्रति जातिका आन्तरिक अनुराग बना रहता है, उसमें कौनसी प्राणप्रद सत्ता है इसका ज्ञान जातिके हृदयमें विद्यमान है और इस कारण विशेषताकी मर्य्यादाके प्रति पूर्ण पूज्यबुद्धि जातिके अन्तर्गत व्यक्तिमात्रके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित है और इतनी प्रतिष्ठित है कि मौका आने पर उसकेलिये प्राण तकके न्यौछावर करनेमें जातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं होता है, तभी तक जाति हजारों भिन्न-भिन्न लक्षणाक्रान्त अन्य जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताके दृढ़ रखनेमें समर्थ हो सकती है। जिस दिनसे जातीय विशेषताकी मर्य्यादा जातिके हृदय-

से लुप्त होने लगती है, उसके प्रति अनुराग भी मन्दीभूत होने लगता है तथा अन्य किसी जातिके आदर्शके अनुकरणकार्य्यमें अपनी जातीय विशेषताके नष्ट करनेमें सङ्कोच या दुःख प्रतीत नहीं होता है, जानना चाहिये कि उसी दिनसे वह जाति मृत्युकी ओर अग्रसर होने लगी है और यदि इस वेगके रोकनेका कोई कारण न हो तो कुछ दिनोंमें निश्चय ही वह जाति अनुकरणीय जातिके भीतर अपनी समस्त सत्ताको लय करके चिरकालकेलिये काल समुद्रमें डूब जायगी। इसी कारण जब कोई एक जाति किसी अन्य जाति पर शासनाधिकारको जमाती है तो जेता जातिका सबसे प्रथम यह कर्त्तव्य होता है कि विजित जातिकी जातीय विशेषताको नष्ट कर देवे या उसके प्रति विजित जातिकी पूज्य बुद्धिको बिगाड़ देवे, क्योंकि ऐसा किये बिना जेता जाति विजित जातिको पूर्णरूपसे अपने अधीन नहीं कर सकती है। यही जेता जातिकी दूरदर्शिता तथा बुद्धिमत्तासे पूर्ण राजनीति है। इसी राजनीतिका अवलम्बन करके जेता जाति प्रथमतः विजित जातिका शिक्षाकार्य अपने हाथमें लेती है और उसीके द्वारा धीरे धीरे विजित जातिके जातिगत सभी विशेषताको नष्ट करनेकेलिये उद्योग करती है। भाषाके साथ भावका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये भावके नष्ट करनेके लिये भाषाका नाश करना, भाषाको मृतभाषा बनाना अति आवश्यकीय राजनीति है। इस कारण जेता जाति शिक्षादान कार्यमें प्रथमतः विजित जातिकी मातृभाषाका नाश करके उसके स्थानपर अपनी भाषाका प्रभाव जमाती है। जब रोमन जातिने सिलिसिया देशपर शासनविस्तार किया था तो सिलिसियन जातिको पूर्णरूपसे पराधीन करनेके लिये प्रथमतः सिलिसियन भाषाका नाश करके विद्यालयोंके द्वारा लैटिन भाषाका ही प्रचार कराया था। जातीय प्राचीन इतिहास जातीय जीवन तथा जातीय भावका परिपोषक है इसलिये भाषा विस्तारके साथ ही साथ जेता जाति विजित जातिके प्राचीन इतिहासको भी बिगाड़ देती है और नाना प्रकारके स्वकपोलकल्पित इतिहासकी शिक्षा देकर विजित जातिके शिक्षार्थी नवयुवकोंके हृदयमें स्वदेशीय प्राचीन महापुरुषोंके प्रति अश्रद्धा तथा घृणा उत्पन्न करनेके लिये यत्न करती है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही विस्तारमात्र है। इसलिये स्थूलशरीरमें भावान्तर होनेसे उसका प्रभाव सूक्ष्मशरीर या अन्तःकरण पर पड़कर उसमें भी भावान्तर उत्पन्न कर देता है। आचार तथा वेशके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है इसलिये आचार और वेशमें भावान्तर होनेसे अर्थात् स्वजातीय वेश तथा स्वजातीय आचारोंको छोड़कर विजातीय वेश तथा आचारोंके ग्रहण करनेसे धीरे धीरे विजातीय भाव मनोदुर्ग पर अधिकार जमाता है। इस कारण शासनविस्तार तथा शिक्षा विस्तारके साथ साथ जेता जाति विजित जातिके

वेश तथा आचारके नाशके लिये पुरुषार्थ करती है। तदनन्तर शिक्षाके द्वारा विजित जातिके सभी जातिगत संस्कार, सामाजिक रीति नीति, जीवनका लक्ष्य आदि विशेषताके उपादानोंको एक एक करके तोड़ने लगती है, जिसका अन्तिम फल यही होता है, कि विजित जाति अपनी समग्र विशेषताके प्रति अत्यन्त अश्रद्धा तथा उपेक्षापरायण होकर उसके आमूल नाश करनेमें तथा जेता जातिके भीतर अपनी सत्ताके लय कर देनेमें ही अपनी जातीय उन्नतिको मान लेती है। जैसा संकल्प, क्रिया भी ऐसी ही होती है, जैसी क्रिया, सिद्धि भी ऐसी ही होती है और अन्तिम परिणाम विजित जातिका सत्तानाश ही देखनेमें आता है। अतः जातीय जीवन-ध्वंसकर इस घोर दुर्गतिसे आत्मरक्षा करनेके लिये विशेषता रक्षा ही प्रत्येक जातिका एकमात्र कर्त्तव्य है। जेता जातिकी मोहिनी मायामें न फँसना, प्राणरूपिणी जातीय-विशेषताकी रक्षा करना और सहस्र विपत्तियोंके भीतर भी स्वजातीय लक्ष्यसे च्युत न होकर उसीके अनुकूल अपने जीवनको आदर्श जीवन बनाना और वर्त्तमान देशकालके अनुरूप अन्य शिक्षित जातियोंसे यथायोग्य गुणसंग्रह द्वारा अपनी जातीय गुणावलीकी परिपुष्टि करते हुए स्वजातीय विशेषताकी रक्षा करना यही जातीय प्राणप्रतिष्ठाका मूलमन्त्र है।

प्रत्येक जातिकी उन्नतिके लिये जातीय विशेषताकी प्रतिष्ठाका प्रयोजन बताकर आर्य्यजातिकी जातीय विशेषताके विषयमें चर्चा की जाती है। विशेषताके लक्षणके विषयमें पहले ही कहा गया है कि अनन्यसाधारणता और जातीय जीवनके साथ मौलिक सम्बन्धवत्ता ही विशेषताका लक्षण है। इसलिये आर्य्यजातिके भीतर जो कुछ खास वस्तु है जो कि पृथ्वीकी और किसी जातिमें नहीं देखनेमें आती है तथा जिसके अस्तित्वके साथ आर्यजातिके जीवनमरणका सम्बन्ध है उसीको आर्यजातिकी जातीय विशेषता समझनी चाहिये। विचार करने पर पता लगेगा कि आर्य्यजातिका अनूठा आध्यात्मिक लक्ष्य तथा उसके साधक, सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म और आर्य्यस्त्रीका पातिव्रत्यधर्म, यही सब अन्य जातियोंसे आर्य्यजातिकी विशेषताको प्रतिपादित करते हैं। आर्य्यजातिका लक्ष्य अपनी जीवसत्ताको मायासे अतीत सुखदुःखहीन नित्यानन्दमय ब्रह्मसत्तामें विलीन कर देना है, त्याग उसका साधन है, इन्द्रियसंयम उसका प्रधान उपाय है। आर्य्यजाति स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर, तीनों शरीरोंसे संसारमें जो कुछ करती है, सभीका लक्ष्य उसी ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि है। आर्यजातिके तीनों शरीर ब्रह्मपूजाके लिये पुष्परूप हैं। इनकी रक्षा वैषयिक सुखलाभके लिये आर्य्यजाति नहीं करती है, किन्तु ब्रह्मपूजाके अनुष्ठानार्थ इनकी रक्षा आवश्यकीय है, इसलिये आर्य्यजाति शरीरोंकी रक्षा तथा सेवा करती है। शरीर शरीरके

लिये नहीं है, किन्तु आत्माके लिये है, इसीलिये शरीरकी सेवाका प्रयोजन लक्ष्य आत्मा ही है, बाकी सब उसका साधन तथा उपकरणरूप हैं। यही आर्यजातिका आध्यात्मिक लक्ष्य है। ऐसा लक्ष्य पृथिवीकी अन्य किसी जातिमें नहीं देखनेमें आता है, इसलिये आर्यजातिकी यह एक अनन्यसाधारण जातीय विशेषता है। जिस प्रकारसे आर्यजाति सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा नारीधर्मका अनुष्ठान करती है उसके द्वारा ऊपर कथित आत्मलक्ष्यकी सिद्धिमें विशेष सहायता मिलती है। अन्यजातिमें उस प्रकार आत्मलक्ष्य नहीं है, इसलिये उसके साधन सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा पातिव्रत्यधर्मकी भी सामाजिक सुव्यवस्था नहीं है। केवल आर्यजातिमें ही इनकी सुव्यवस्था है। अतः सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म और पातिव्रत्यधर्म भी आर्यजाति-की अनन्यसाधारण जातीय विशेषता है। इस प्रकारसे विशेषताका प्रथम लक्ष्य जो अनन्य साधारणता है उसकी चरितार्थता आर्यजातिके आध्यात्मिक लक्ष्य, आचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा सतीधर्ममें सम्यक्रूपसे प्रतिपादित होती है। अब विशेषताका जो दूसरा लक्षण है अर्थात् जातीय चिरजीवके साथ मौलिक सम्बन्ध उसकी सिद्धि वर्णाश्रम आदियोंके द्वारा कैसे हो सकती है सो नीचे क्रमशः बताया गया है।

आर्यशास्त्रमें मनुष्यजीवनके समस्त पुरुषार्थके चार लक्ष्य बताये गये हैं, यथा— काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न होकर जो कुछ करता है सभीका लक्ष्य इन चारोंमेंसे कोई न कोई होता है। इसीकारण आर्यशास्त्रमें साधनाके भी अधिकारानुसार ये ही चार लक्ष्य बताये गये हैं। कोई साधक धर्मलक्ष्य करके भगवान्की उपासना करता है, कोई अर्थप्राप्तिके लिये उनकी पूजा करता है, कोई कामनासिद्धिके लिये भगवद्भक्त बनता है और कोई मोक्षप्राप्तिके अर्थ परमात्माकी आराधनामें रत रहता है। भगवान् अपने चारों हाथोंसे अधिकारानुसार अपने आर्त्त, अर्थार्थी आदि सभी प्रकार भक्तोंको चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चतुर्वर्ग प्रदानके लिये ही उनके चार हाथ हैं। उनका चक्रयुक्तहस्त धर्मका देनेवाला है, शङ्खयुक्तहस्त मोक्ष प्रदाता है, गदायुक्त हस्त धनद है और सकमलहस्त कामद है। इसी-प्रकार शिवरूपमें भी 'परशुमृगवराभीति' हस्तोंसे भगवान् चतुर्वर्ग ही देते हैं। परशुधारी-हस्त धनद है, मृगयुक्तहस्त कामप्रदाता है, वरमुद्रायुक्तहस्त वरणीय धर्मका देनेवाला है और अभयमुद्रायुक्तहस्तसे भवभयनाशकारी मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि जगत्में चतुर्वर्ग ही सकल जीवोंके सकल पुरुषार्थका लक्ष्य है। कर्म तथा अधिकारके तारतम्यानुसार लक्ष्यमें भी तारतम्य होता है। इसीकारण कोई व्यक्ति या जाति अर्थ या कामको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है और कोई व्यक्ति या जाति

धर्म मोक्षको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है। उपनिषद्में लिखा है "यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति" अर्थात् सुखहीको लक्ष्य करके जीवकी सकल चेष्टा होती है। दुःखकेलिये किसीकी भी कोई चेष्टा नहीं होती है। अतः धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी वर्गमें भी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है। अर्थकामलक्ष्यपरायणा जाति अर्थ काममें ही परम सुख मानकर उसीकेलिये पुरुषार्थ करती है। धर्ममोक्षलक्ष्यपरायणा जाति धर्म मोक्षमें ही आत्यन्तिक सुख जानकर उसीके लिये पुरुषार्थमें प्रवृत्त हो जाती है। लक्ष्य सुखलाभ करना सभीका है, केवल अधिकार तथा विचार तारतम्यानुसार ही पुरुषार्थप्रवृत्तिमें तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

पूज्यपाद दूरदर्शी प्राचीन आर्य्यमहर्षियोंने अनेक विचार करके अर्थकामकी अपेक्षा धर्ममोक्षको ही श्रेष्ठतर लक्ष्यरूपसे निर्णय किया है और इसीलिये आर्य्यजातिके आत्यन्तिक सुख साधन तथा जातीय लक्ष्यरूपसे धर्ममोक्षको ही बताया है। उन्होंने अर्थकामके प्रति आर्य्यजातिको उपेक्षा करनेका उपदेश नहीं दिया है, सो पूर्वकथित उपासना विज्ञानसे बुद्धिमान व्यक्ति स्पष्ट ही समझ सकते हैं। वेदके संहिता तथा ब्राह्मणभागमें अर्थकामप्रधान प्रवृत्तिमार्गका ही इसलिये वर्णन है। महर्षियोंने केवल अर्थकामके लिये ही अर्थकामकी सेवा न करके धर्मानुकूल अर्थकामकी सेवा करनेको कहा है ताकि धर्म्मरहित अर्थकामका जो दुःखमय परिणाम है सो जीवको प्राप्त न होकर धर्मानुकूल अर्थकामके द्वारा अन्तमें आनन्दमय मोक्षपदमें जीवकी प्रतिष्ठा हो। यही उनके इस प्रकार उपदेश करनेका तात्पर्य है और यह तात्पर्य कितना गम्भीर, दूरदर्शिता यथा सत्यदर्शितासे पूर्ण है सो अर्थकामलक्ष्यके विषयमें धीर होकर थोड़ा विचार करनेसे ही पता लग जायगा। अर्थकाम जीवके चित्तमें विषयवासनाको उत्पन्न करता है। जीव अर्थकामका दास होकर इन्द्रियसुखकेलिये उन्मत्त हो जाता है। विषयवासनाका स्वरूप यह है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

विषयभोगके द्वारा विषयवासना निवृत्त नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है। इसलिये जिस जातिमें अर्थ-काम ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम लक्ष्य नहीं है वह जाति वासनाकी दास बनकर उसीकी तृप्तिके लिये संसारमें किसी प्रकारके अधर्माचरणमें सङ्कोच नहीं करती है। काञ्चनमें आसक्त जीव मिथ्या, प्रतारणा, चोरी, कपटव्यवहार, दूसरेको ठगना, नरहत्या आदि सभी पापकर्म द्वारा अर्थ संग्रहमें रात दिन व्यग्र रहता है। काममें आसक्त जीव उससे भी अधिक

पशुभाव प्राप्त हो जाता है, क्योंकि एक तो कामसेवाके द्वारा कामाग्नि बढ़ती ही रहती है; दूसरा कामसुख मनका अभिमानमात्र होनेसे नवीन भोग्यवस्तुमें कामुक स्त्रीपुरुषको अधिक सुखकी प्रतीति हुआ करती है। इसलिये जिस जातिमें धर्महीन काम ही लक्ष्य है वहाँके स्त्रीपुरुषोंमें व्यभिचारका विस्तार होना स्वतः सिद्ध है। इसीसे विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि धर्म्महीन अर्थकामपरायण जातिकी अन्तिम दशा क्या होगी। अर्थलोलुप बनकर सम्पत्ति संग्रहके लिये दूसरोंकी सम्पत्ति तथा दूसरोंका धन उन्हें ठगकर या उनसे लड़कर लेनेकी स्वभावतः ही इच्छा होगी। कामका दास बनकर परस्त्रीके छीननेकी या दूसरेको वञ्चना करके लेनेकी स्वतः ही इच्छा होगी। फल यह होगा कि अर्थकामपरायण जातिके भीतर अन्तर्विवाद परस्परमें कलह, प्रतारणा और संग्राम सदा ही बना रहेगा और यह दोष जब समस्त जातिके भीतर फैल जायगा तो ऐसी जाति दूसरी जातिको सम्पत्तिहरण अथवा बलात्कारसे युद्धादि द्वारा सम्पत्ति आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगी। इसीसे जातीय संग्राम या जातीय महासमर भीषण-रूपसे प्रवृत्त होकर जातीय शान्ति, जातीय प्रेम सभीको ग्रास कर लेगा। यूरोपका महासमर इसी धर्महीन अर्थकामपरताका ही विषमय परिणामस्वरूप था और जब तक समस्त संसारमें धर्म्ममूलक अर्थकामसंग्रहकी प्रवृत्ति नहीं होगी तब तक बीच बीचमें इस प्रकार संग्राम सर्वथा अपरिहार्य है। कुरुक्षेत्रका महासमर जिसके तीव्र अनलमें चिरकालके लिये भारतीय वीरता भस्मीभूत होगई है, वह भी कौरवोंकी धर्महीन अर्थ-कामपरायणताका ही चरम परिणाम था। अर्थकाम तथा राजसिक शक्तिके मदमें उन्मत्त होकर दुर्योधनने जब धर्मकी कुछ भी परवाह नहीं की और कपटता, प्रवञ्चना तथा घोर अधर्मका आश्रय लेकर धार्मिक पाण्डवोंको अनन्त दुःख दिया तभी कुरुक्षेत्रका महासमर प्रारम्भ हुआ था। इसी प्रकारसे जगत् प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जातिका भी विनाश धर्महीन अर्थकामसेवाके द्वारा हुआ था। यूरोपके नाना देशोंपर अधिकार विस्तार करके सम्पत्ति तथा प्रभुताके मदमें अत्यन्त उन्मत्त होकर रोमनजातिमें विषय लालसा बहुत बढ़ गई थी। अतिघृणितरूपसे कामसेवा, व्यभिचार, पशु तकके साथ अप्राकृतिक इन्द्रिय संसर्ग, ये सब उनके सामाजिक आचारमें परिगणित तथा निर्दोष आनन्दके उपादान माने जाने लग गये थे। प्रकाश्य थियेटर आदिमें स्त्रीपुरुष मिलकर इन सब वीभत्स नारकीय दृश्योंको करने और देखने लग गये थे, तभी पापके गुरुभारसे वसुन्धरा कांप उठी थी और भीषण भूकम्पके द्वारा इटाली देशका अनेक अंश विध्वस्त हो गया था। और पश्चात् इसी अर्थकाममूलक महापापके फलसे रोमनजाति स्वाधी-नताच्युत, विदेशीय जातिके द्वारा विदलित और नष्ट भ्रष्ट हो गई थी। यही सब धर्महीन

अर्थकामपरायणताका अवश्यम्भावी कुपरिणाम है। ऐतिहासिक घटनाओंसे अर्थकाम मूलक पुरुषार्थके भीषण घोर दुःखमय परिणामका कुछ दिग्दर्शन कराया गया, यही यथेष्ट होगा। अब वर्त्तमान जगतकी सामाजिक स्थितिकी कुछ पर्यालोचना भी कर लेना उचित होगा। प्राचीन कालमें शूद्रमें कामलक्ष्यप्रधान धर्म तथा वैश्यमें अर्थलक्ष्यप्रधान धर्मकी ही व्यवस्था मानी जाती थी। और क्षत्रियोंमें धर्मलक्ष्य तथा ब्राह्मणमें मोक्ष-लक्ष्यका ही प्राधान्य माना जाता था। यद्यपि उस समय भी इन चारों वर्णोंमें इन चारों लक्ष्योंकी प्रधानता रहती थी, परन्तु उस समयके शूद्र और वैश्यगण भी वेदादि शास्त्र तथा उनके प्रणेता निवृत्तिधर्मपरायण ब्राह्मणोंके अधीन रहनेसे अर्थकामके संग्रहमें धर्म-लक्ष्यको नहीं भूलते थे। और यह कैसे सम्भव था सो वर्णाश्रमधर्ममूलक सदाचार पर थोड़ासा विचार करनेसे ही भली भाँति मालूम होगा। इससमय क्या यूरोप, क्या एशिया, क्या अमेरिकाकी बड़ी बड़ी सभ्यजातिओंकी सामाजिक रीति नीतिकी थोड़ी ही पर्यालोचनासे भली भाँति सिद्ध हो जायगा कि उन जातियोंकी सामाजिक परिस्थिति-में मोक्ष और धर्मका तो नाममात्र नहीं है। उनके सामाजिक आचार, व्यवहार, विवाहादि व्यवस्था-प्रणाली, अर्थसंग्रह, राज्यविस्तार, व्यापार-विस्तार, वैज्ञानिक तथा शिल्पादिकी उन्नति सभी केवल अर्थकाममूलक है। घोर दुःखका कारण यह है कि इस समय भारतवासी भी इसी नरकप्रद घोर अमङ्गलकर रीतिका अनुसरण करने लगे हैं। इसीकारण दूरदर्शी प्राचीन महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको लक्ष्य न बताकर आत्माको लक्ष्य बताया है। और धर्मानुकूल अर्थ काम सेवा द्वारा अन्तमें मोक्षपदवी पर प्रतिष्ठा हो उसी आत्माराम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये उपदेश किया है।

पहले ही कहा गया है कि "सुखार्थाः खलु भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः" अर्थात् जीवकी यावतीय चेष्टा सुख लाभके लिये ही होती है। इस कारण अदूरदर्शी जीव अर्थ-कामकी भी सेवा सुखलालसासे ही करता है। किन्तु ऊपर लिखित वर्णनोंसे स्पष्ट होगा कि अर्थ काम जीवको वास्तवमें सुख न देकर अन्तमें घोर दुःखानलमें ही दग्ध करता है। शास्त्रमें त्रिगुणभेदसे जो तीन प्रकारके सुख बताये गये हैं उनमेंसे अर्थकामजन्य सुख राजसिक तामसिक है। राजसिक सुखका लक्षण यह है कि—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे राजसिक सुख उत्पन्न होता है, वह प्रथमतः अमृतकी तरह होनेपर भी परिणाममें विषवत् दुःखदायी तथा प्राणघातक है। पूज्यपाद

महर्षियोंने शास्त्रोंमें भली भाँति इस बातको सिद्धकर दिखाया है कि मोक्षकी तो बात ही नहीं है, धर्मको अपने सम्मुख न रखकर केवल अर्थ और कामके लिये जो अर्थ-कामका संग्रह जीव करता है, उससे उपस्थित राजसिक और तामसिक सुख कुछ होने-पर भी अन्तमें वह व्यक्ति अवश्य ही घोर नरकका अधिकारी होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। विषय सुखमें दुःख क्या है इस विषयमें भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।"

विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेक प्रकारके दुःख होनेसे विवेकी पुरुषके निकट विषयसुख दुःखरूप है। चित्तकी शांति ही सुखका कारण है, किन्तु विषयसेवाद्वारा विषयस्पृहा पुनः पुनः बलवती होकर चित्तको कदापि शान्त होने नहीं देती है, इसलिये भोगकालमें भी भोगीका चित्त भोगमुग्ध तथा चञ्चल होकर दुःखी ही रहता है। मन चञ्चल रहता है किन्तु इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर काम नहीं देती हैं, भोगान्तमें प्रतिक्रियाद्वारा समस्त शरीर तथा मन अवसन्न, क्लान्त, मृतवत् होकर अगाध दुःख तथा अनुतापके समुद्रमें डूब जाता है, वासनाकी शान्ति नहीं, किन्तु उसकी तृप्तिके पहले ही शरीर भोगपरिणाममें अवश्यम्भावी अतिकठिन रोगोंके द्वारा ग्रस्त हो जाता है, जिससे अकालमृत्यु, अतिकष्टप्रद मृत्यु आदि सभी दुःख जीवको प्राप्त होते हैं—ये ही सब विषयसुखके साथ अवश्य भोक्तव्य परिणामदुःख हैं। भोगदशामें समभोगी या अधिक भोगीको देखकर ईर्षादिद्वारा महान् तापदुःख भोगीको प्राप्त होता है। और अन्तमें भोगमें असक्त वृद्धावस्थामें भोग्यवस्तुओंका स्मरण करके संस्कारदुःख होता है। इस प्रकारसे विषयसुखके साथ परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कार दुःखका नित्य संबन्ध होनेसे विचारवान् पुरुषगण विषयसुखको दुःखरूप ही समझते हैं। जब राजसिक विषयसुखके साथ ही इतना दुःख है तो उसके तामसिक हो जानेपर प्रमाद, मोह आदि द्वारा विषयसुख कितना दुःखप्रद होगा इसका वर्णन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः केवल इह जन्ममें ही विषयसुखसहचर दुःखकी समाप्ति नहीं होती है। उसका संस्कार कर्माशयमें एकत्रित होकर मृत्युके समय, मृत्युके अनन्तर-प्रेतादि-योनि, तथा नरकादिमें पुनः पुनः जन्म मरणमें जीवकेलिये अशेष दुःखका कारण बनता है। आजीवन सेवित विषयके जीव मृत्युके समय छोड़ नहीं सकता है, किन्तु भोगसे तृप्ति होनेके पहले ही काल जीवनतरुका छेदन कर देता है, अतृप्त विषयी अत्यन्त दुःखके साथ संसारको छोड़कर परलोकमें जाता है, विषयके उन्मादमें अनुष्ठित अधर्माचरणोंको स्मरण करके अनुतापके अनलमें दग्ध होने लगता है, वासनाके

केन्द्र स्त्री पुत्रपरिवारोंको सामने विलाप करते हुए देखकर उसका प्राण फटता है और इस प्रकारसे विषयमुग्ध होकर मरनेसे निश्चय ही जीवका मरणानन्तर प्रेतयोनि प्राप्त होती है। प्रेतयोनिमें वासनाविदग्ध जीवको दारुणदुःख भोगना पड़ता है, उसको क्षण भरके लिये भी उस योनिमें शान्ति नहीं मिलती है, वासना हृदयमें बलवती रहनेपर भी उसके भोगनेमें असमर्थताके कारण प्रेतके हृदयमें अशान्तिकी अग्नि सदा ही जलती है, इत्यादि इत्यादि अनेक दुःख भोगके बाद अर्थकामपरायण जीवको पूर्व असत्कर्मानुसार नरकलोकमें भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन आदि नरकोंका दुःख शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। उनमें भीषण कष्ट पानेके बाद पुनः मातृगर्भमें प्रविष्ट होकर दस महीने तक जीवको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। तदनन्तर गर्भसे निकलनेके समय अनेक कष्ट पाकर पूर्व मन्दकर्मानुसार हीनयोनियोंमें जीवका जन्म होता है। अन्यायरूपसे अर्थोपार्जनकारी दरिद्रके घरमें उत्पन्न होकर आजीवन दुःख पाते हैं। कामपरायण पापी कामसम्बन्धीय अनेक कष्टोंको झेलते हैं। इसी प्रकारसे अर्थकामवासना द्वारा नवीन नवीन संस्कार उत्पन्न होकर जीवको घटीयन्त्रकी तरह जन्म-मरण चक्रमें घुमाया करते हैं और सहस्र प्रकारसे जीवहृदयमें अनन्त दुःखके दारुण दाहको बढ़ाया करते हैं। क्षणभङ्गुर अर्थकाममूलक विषय सुखके साथ इतना परिणामादि दुःख सम्बन्ध होनेसे ही दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य्यजातिकेलिये अर्थकामको जीवनका लक्ष्य न बताकर आत्माको ही जीवनका लक्ष्य बताया है और धर्मके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमें अग्रसर होकर उसी नित्यानन्दमय आत्माकी उपलब्धिको ही आत्यन्तिक लक्ष्य करके वर्णन किया है।

सुख क्या है? वास्तवमें विषय सुखनिदान है कि नहीं? इस विषयमें विचार करके पूज्यपाद महर्षियोंने यह तत्त्वनिर्णय किया है कि विषय सुखनिदान नहीं है, किन्तु आत्मा ही सुखनिदान है। विषयमें सुखकी तात्त्विक सत्ता नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो सभी वैषयिक वस्तुओंसे सभीको सुखबोध होता। किन्तु ऐसा नहीं होता है। एक ही पदार्थ किसीको सुखकर और किसी को दुःखकर प्रतीत होता है। इतना तक कि एक ही पदार्थ किसी समय सुखकर तथा अन्य समय दुःखकर जान पड़ता है। बालकका खेल बालकपनके लिये ही सुखकर है, वही बालक यौवनकालमें उसमें कोई भी सुख अनुभव नहीं कर सकता है, यौवनमें कामिनी उसको सुखदायिनी प्रतीत होती है, किन्तु वही कामिनी बालकके लिये कुछ भी सुखदायिनी नहीं बन सकती है; कामीके लिये कामिनीकाञ्चन सुखदायक है किन्तु वैराग्यवान्केलिये वही कामिनीकाञ्चन अति दुःखदायी है, किसीको मिष्टद्रव्य प्रीतिकर जान पड़ता है और किसीको मिठाई अच्छी

न लगकर खटाई ही अच्छा लगती है, किसीको जङ्गलके दृश्य अच्छे लगते हैं और किसीको शहरके दृश्य प्रीतिकर प्रतीत होते हैं। यदि कामिनी काञ्चन मिठाई आदि वैषयिक वस्तुओंमें सुखकी तात्त्विक सत्ता होती तो अवश्य ही बालक, युवक, वृद्ध सभीको सभी अवस्थामें वे सुखदायक जान पड़तीं, परन्तु ऐसा जब नहीं होता है तो निश्चय हुआ कि किसी वैषयिक पदार्थमें सुखकी तात्त्विक सत्ता नहीं है। परमात्मा आनन्दरूप हैं, श्रुतिने उनको रसरूप करके वर्णन किया है, इसलिये परमात्मामें ही आनन्दकी सात्त्विक सत्ता विद्यमान है। परमात्मा विभु है, सभी जीवके अन्तःकरणमें उनकी आनन्दमयी सत्ता प्रतिबिम्बरूपसे विद्यमान है। जिसप्रकार चञ्चल जलमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब रहनेपर भी चाञ्चल्यके कारण ठीक ठीक प्रतिभास नहीं होता है, किन्तु जलके शान्त होते ही सूर्य्य प्रतिबिम्ब पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार चञ्चल जीवचित्त जब किसी विषयके अवलम्बनसे थोड़ी देरकेलिये शान्त तथा एकाग्र हो जाता है तभी उसी विषयमुग्ध एकाग्र अन्तःकरणमें अन्तर्विहारी आनन्दमय आत्माका प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। जीवको विषय सुख नहीं देता है, किन्तु विषय थोड़ी देरके लिये चित्तको शांत कर देता है, और उसी शांत अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आत्माका आनन्द जीवको भीतर भीतर अनुभव होने लगता है। इसीको शास्त्रमें विषयसुख कहा गया है। वह ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्बमात्र है, यथार्थ ब्रह्मानन्द नहीं है। वेदमें भी ऐसा ही कहा है यथा—

"एषोऽस्य परमानन्दोऽन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते"

ब्रह्मानन्द अखण्ड और असीम है, जीवगण विषयके द्वारा उसीके अंशमात्रका आस्वादन करते हैं। किन्तु इस अंशमात्रका आस्वादन यदि लगातार निरवच्छिन्नरूपसे रहता और उसके साथ कोई दुःख मिला हुआ न रहता तो भी विषयी जीवके लिये मनोविनोदनका आश्रय बन सकता। किन्तु प्रकृतिके क्षणभङ्गुर तथा परिणामधर्मी होनेके कारण जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, उसी अंशमात्र सुखके साथ परिणाम तापादिजन्य हजारों प्रकारके दुःख मिले हुए रहते हैं जो भोगकालमें, भोगके अन्तमें, परिणाममें तथा जन्मान्तर तकमें विषय सुखप्रयासी जीवको दुःखके अतल समुद्रमें डुबा देते हैं और समस्त सुखस्मृतिको मिट्टीमें मिलाकर अन्तमें दुःख ही दुःख कर देते हैं। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने यही सिद्धान्त निर्णय किया है कि जब विषयमें तात्त्विक सुखके लिये कोई भी उपादान नहीं है, आत्मा ही यथार्थ सुखके दाता है विषय केवल चित्तको एकाग्र करके आत्माभिमुखीन कर देता है तो इस प्रकार दुःख

परिणामी, क्षणभङ्गुर विषयके आश्रयसे क्यों चित्तको एकाग्र तथा आत्माभिमुखीन किया जाय, क्यों नहीं आत्माके ही अवलम्बनसे उपासनादि द्वारा चित्तको आत्माभिमुखीन किया जाय जिससे निशिदिन आत्मामें चित्त एकाग्र होकर दुःखपरिणामी विषय-सुखकी अपेक्षा शतगुण अधिक दुःखलेशहीन विमल आनन्द जीवको प्राप्त हो सके और अन्तमें परमात्मामें समाधि द्वारा लवलीन होकर जीवका जीवत्व ही छूट जाय तथा जीवको अविनश्वर शाश्वत नित्यानन्दका समुद्र प्राप्त हो जाय। इसीप्रकार विचार करके ही महर्षियोंने तथा श्रीभगवान्‌ने निज मुखसे कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

विषयके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श होने पर जो कुछ सुख होता है वह दुःखकी ही खान है, वह आदि अन्तसे युक्त तथा क्षणभङ्गुर है इसकारण विवेकी जनोंको उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये। विषय वासनाका क्षय होनेपर जो महान् सुख साधकको मिलता है उसके षोडशांशके एकांश भी सुख न कामसेवासे प्राप्त होता है और न स्वर्गके दिव्य भोगमें ही प्राप्त होता है। निर्विषयचित्त निष्पाप योगी परमात्मामें सदा युक्त होकर असीम अक्षय आनन्दका लाभ करते हैं। अतः इन सब विचारोंसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि विषय लक्ष्य न होकर परमात्मा ही जीवका लक्ष्य होना चाहिये। और उसीमें मनुष्यकी वास्तविक उन्नति तथा यथार्थ सुख-शान्ति प्रतिष्ठित है। इसीकारण पूज्यपाद महर्षियोंने आर्यजातिकेलिये अर्थ-कामको लक्ष्य न बताकर धर्ममोक्षको ही लक्ष्य बताया है।

आत्मा ही आर्यजातिका लक्ष्य है, आत्माके राज्यमें विराजमान होना ही आर्यजातिके लिये स्वराज्यप्राप्ति है, इसी स्वराज्यलाभकेलिये ही आर्यजाति आदिकालसे अनन्त दुःखमय संसारमें घटीयन्त्रकी तरह घूम रही है। स्थूलशरीरका स्वराज्य, सूक्ष्मशरीरका स्वराज्य सभी इसी आध्यात्मिक स्वराज्यसिद्धिमें सहायक-मात्र है। इन सभोंको सहायक तथा आध्यात्मिक स्वराज्यसिद्धि साधकरूपसे करना

ही आर्य्यशास्त्रानुकूल है, बाधकरूपसे करना आर्य्यजातिका शास्त्रसम्मत आदर्श नहीं है, यही अन्यान्यजातियोंसे आर्यजातिकी विशेषता है। आचारकी विशेषता, वर्णाश्रमकी विशेषता आदि सभी विशेषता इसी स्वराज्यसिद्धिरूप ऐकान्तिक विशेषताकी सहायिका है, सो कैसे है तथा आध्यात्मिक स्वराज्यलाभकेलिये क्या क्या उपाय आर्य्यशास्त्रमें बताये गये हैं सो नीचे क्रमशः वर्णित किये जाते हैं।

आत्माके राज्यमें पहुँचनेके लिये तीन बाधाएँ हैं जिनके दूर किये बिना जीव कदापि स्वराज्यमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। आत्माके ऊपर स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीरके तीन पर्दे हैं, जिनसे आत्माका राज्य अतिदूरवर्ती तथा अतिपरोक्ष जान पड़ता है। स्थूलशरीरके पर्देको मल, सूक्ष्मशरीरके पर्देको विक्षेप तथा कारणशरीरके पर्देको आवरण कहा जाता है। अतः मल, विक्षेप, आवरणके दूर किये बिना स्वराज्य नहीं मिल सकता है। आर्य्यमहर्षियोंने मल विक्षेप आवरणके दूरीकरणार्थ कर्म-उपासना, ज्ञानका अनुष्ठान बताया है। विहित कर्मानुष्ठान द्वारा मलनाश, उपासना द्वारा विक्षेपनाश और ज्ञानद्वारा आवरणनाश होता है, तब जीवको आत्माकी उपलब्धि द्वारा स्वराज्यसिद्धि होती है। अब इन तीनों द्वारा मलविक्षेप-आवरण नाश कैसे होता है सो बताया जाता है। जीवसत्ता बहुत ही क्षुद्र तथा देशकालवस्तु परिच्छिन्न है और ब्रह्मसत्ता अतिवृहत्, विभु तथा देशकाल वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न है। इसलिये जबतक जीव अपने व्यष्टिशरीरके ऊपर ही ममताग्रस्त होकर उसीके सेवामें लालायित रहता है, तब तक उसकी आत्मा न उदार बन सकती है और न जीवकी क्षुद्रता नष्ट होकर विराट् ब्रह्मके साथ एकता हो सकती है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा जीव अपनी क्षुद्रसत्ताको उदार करता हुआ तथा अनुदार मलोंको दूर करता हुआ ब्रह्मकी विराट् सत्ताके साथ धीरे धीरे एकतायुक्त हो सकता है। इसलिये वेदमें कर्मयोगका उपदेश किया गया है। कर्मयोग स्वराज्यप्राप्तिका एक प्रधान उपाय है। निष्कामता, स्वार्थसङ्कोच, तथा दूसरेके सुखकेलिये आत्मसुख विसर्जन इसके प्रधान साधन हैं। इसका प्रथम अनुष्ठान पारिवारिक राज्यमें ही प्रारम्भ होता है। charity begins at home उदारता घरमें ही प्रारम्भ होती है ऐसा वचन भी मिलता है। मनुष्य एक परिवारमें रहकर स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजनोंकेलिये अपना स्वार्थ त्याग करना सीखता है। उनके सुखमें सुखी होना, उनके दुःखमें दुःखी होना, उनके सुखकेलिये अपना सुख त्याग करना—इस प्रकारसे अभ्यास करते करते जीवभावसुलभ स्वार्थपरताका सङ्कोच और ईश्वरभावसुलभ परार्थपरताका विकाश होने लगता है। तदनन्तर यही परार्थभाव उदार होता हुआ ग्रामसेवा, प्रदेशसेवा, जातिसेवा इत्यादि क्रमसे समग्र देशसेवामें जब

जीवके चित्तको नियोजित करता है तभी यह महान् आत्मा धर्मवीर, स्वदेशसेवी कहलाता है। प्राचीन रोमजातिमें इसप्रकार कर्मवीरकी पूजा देवताकी तरह हुआ करती थी और इसका नाम Heroworship या वीरपूजा था। आधुनिक युरोपियन जातिके भीतर भी कर्मवीरोंका सम्मान होता है। किन्तु रोमनजातिकी देशसेवा और अर्वाचीन युरोपीयन जातिकी देशसेवामें बहुत कुछ अन्तर है। रोमनजातिकी स्वदेश तथा स्वजातिसेवामें परजातिविद्वेष या परजातिपीड़न नहीं था। वे दूसरी जातिको पीड़ित करके अपनी जातिकी पुष्टि नहीं करते थे, केवल आत्मकल्याणके विचारसे ही देशसेवा करते थे। किन्तु वर्त्तमान यूरोपमें वह आदर्श नामशेष रह गया है। वर्त्तमान यूरोपका स्वदेशप्रेम बहुधा परदेश तथा परजातिपीड़नपर ही निर्भर करता है। वे परकीय द्वेषके द्वारा आत्मीय प्रेमका परिचय प्रदान करते हैं। किन्तु संसारकी स्थिति तथा शान्ति तमोगुणमूलक द्वेषके द्वारा नहीं हो सकती है, सत्त्वगुणमूलक प्रेमके द्वारा हो सकती है। इसीकारण यूरोपकी स्वदेशसेवामें शान्ति नहीं फैल रही है, किन्तु द्वेषकी अग्नि क्रमशः बढ़कर जातीय घोरसंग्राम फैल रहे हैं। आर्य्यजातिकी देशसेवा ऊपर लिखित दो प्रकारकी देशसेवाओंसे बहुत कुछ उन्नत आदर्शयुक्त है। आर्य्यजाति स्वदेशको विराट् पुरुषका उत्तमांग समझती है और निष्कामभावसे भगवत्पूजा समझकर देशकी सेवा करती है। आर्य्यजातिकी देशसेवामें फलाकांक्षा या देशोन्नतिका अभिमान नहीं है। क्योंकि फलाकांक्षा या अभिमानके साथ कार्य्य करनेसे सफलतामें 'मैंने ही किया' इसप्रकारसे अहंकारजन्य बन्धनका उदय तथा विफलतामें असीम दुःखप्राप्ति और नैराश्यजन्य कर्त्तव्यत्यागकी भी इच्छा हो सकती है, ये दोनों ही कर्मयोगके लक्षण नहीं हैं। कर्मयोगमें—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तुम्हारा कर्ममें अधिकार है फलमें कभी नहीं, फलाकांक्षासे कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलता है, ऐसा समझकर कर्मत्याग भी नहीं होना चाहिए—इस प्रकारका सिद्धान्त रहता है। कर्मयोगी संसारको भगवान्का रूप मानकर जगत्सेवा द्वारा परमात्माकी ही पूजा करता है। उसका सारा कर्त्तव्य ही भगवत्पूजाके नैवेद्यरूपसे भगवच्चरणकमलोंमें समर्पित हो जाता है और पूजाका फलाफल भी भगवान्में ही अर्पित हो जाता है। यही प्राचीन आर्य्यजातिमें स्वदेशसेवाका महान् लक्ष्य था। समस्त जीव आत्माके ही रूप हैं, क्योंकि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ऐसा श्रीभगवान्ने

निजमुखसे कहा है। इसलिये स्वदेशवासी आर्य्यवीर देशवासीकी सेवा द्वारा भगवत्-पूजाका आनन्दलाभ करते हैं और उसी सेवामें आत्मविसर्जन करके परमात्माके चरणोंमें ही विलीन हो जाते हैं। उनकेलिये देशसेवामें मृत्यु नाश नहीं किंतु अमृतत्वका द्वार-स्वरूप हो जाता है। इसी प्रकारसे, आर्यवीर देशसेवा द्वारा यथार्थ स्वराज्यकी ओर द्रुत-वेगसे अग्रसर होते हैं। तदनन्तर कर्मयोगनिरत उदारहृदय पुरुषकी उदारता क्रमशः स्वदेशसे भूमण्डलके समस्त देशोंमें व्याप्त होकर उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव प्राप्त हो जाता है। इस भावमें समस्त संसार ही उनका स्वदेश बन जाता है, वे संसारके मनुष्य-मात्रके कल्याणार्थ स्वार्थत्याग तथा सुखत्याग करनेमें सदैव तत्पर रहते हैं। इस समय उनके हृदयोंमेंसे परजातिपीड़न, परजातिविद्वेष, परधर्मिविद्वेष आदि सभी क्षुद्रताएँ एकबार ही तिरोहित हो जाती हैं और वे मनुष्यमात्रको श्रीभगवान्का अंश तथा आत्मप्रतिबिम्ब समझकर सभीसे प्रेम-व्यवहार करते रहते हैं। इसभावमें स्वराज्यसिद्धि बहुत ही निकटवर्त्ती हो जाती है। किन्तु अभी भगवद्राज्यके अनेक अंश उनके उदार हृदयोंसे बाहर रहनेके कारण आर्यजातिकी स्वराज्यसिद्धि सम्पूर्ण नहीं होती है। इस कारण उदार कर्मयोगी मनुष्यमात्रके साथ-साथ जीवमात्रके प्रति प्रेम करने लगते हैं; मनुष्य, पशुपक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता सभीमें भगवत्कला जानकर सभीके साथ अपने उदार हृदयका सम्बन्ध स्थापन करते हैं। जैसा कि भागवतमें लिखा है—

> मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
> ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

ईश्वर सकल जीवोंमें व्याप्त हैं इसलिये सभीको आत्माका अंश समझकर सभीका सत्कार करना चाहिये, इससिद्धान्तके अनुसार उदारचेता कर्मयोगी विश्वके समस्त जीवोंके प्रति प्रीतिपरायण हो जाते हैं। इसके भी अनन्तर जब कर्मयोगीका आध्यात्मिक सम्बन्ध सजीव निर्जीव समस्त भूतोंमें, मनुष्येतर पश्वादि जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि, पितृ सभीमें तथा सबसे परे विराजमान परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी उनको यथार्थमें पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति होती है। पूज्यपाद महर्षियोंने 'स भवति स्वराट्' इत्यादि वेदवचनोंके द्वारा इसी स्वराज्यकी ओर लक्ष्य कराया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
> संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

आत्माको सकल भूतोंमें तथा सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञपरायण

महात्मा स्वराज्यलाभ करते हैं। इस स्वराज्यका लाभ करनेसे ही सिद्धयोगी समस्त संसारको ब्रह्मरूपमें देखकर सभीसे प्रेम तथा सभीसे पवित्र आनन्द-लाभ कर सकते हैं, उनको शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारकी स्वतन्त्रता पूर्णरूपसे प्राप्त हो जाती है और तभी श्रीभगवान् शंकराचार्यके वचनानुसार उनको अनुभव होता है कि—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

आनन्दमय ब्रह्मके सर्वत्र अनुभवगम्य हो जानेसे समस्त जगत् ही नन्दनकानन है, सभी कल्पवृक्ष हैं, सभी जल गङ्गाजल है, सभी कार्य्य धर्मकार्य हैं, प्राकृतिक संस्कृत सभी वाक्य वेदवाक्य हैं, सभी भूमि वाराणसी है और सभी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है, यही स्वाराज्यमें विराजमान योगीका आनन्दमय अनुभव है। धर्म और मोक्षको लक्ष्य बनाकर अर्थ और कामको उसके सहायकरूपसे सेवन करनेपर अन्तमें यही आनन्दमय आत्माका राज्य प्राप्त हो जाता है और यही आध्यात्मिक लक्ष्यसम्बन्धमें आर्य्यजातिकी अन्यजातियोंसे परम विशेषता है। जिसप्रकार कर्मयोगके द्वारा मलनाश तथा चित्तकी पवित्र उदारताको बढ़ाते हुए योगी आत्माका लाभ कर सकते हैं, उसीप्रकार उपासना द्वारा चित्तके विक्षेप अर्थात् चाञ्चल्यको दूर करके तथा ज्ञानद्वारा आत्मापर अनादि अध्यासजन्य आवरणको हटाकर स्थिर-धीर चित्त ज्ञानवान् योगी परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इसीकारण पूज्यपाद महर्षियोंने आत्मलक्ष्य सिद्ध करनेके अर्थ आर्य्यजातिका कर्म-उपासना-ज्ञानका समवेत अनुष्ठान बताया है और उसी लक्ष्यसे आर्य्यमुमुक्षु च्युत न हो जाय इसलिये आत्मलक्ष्यसिद्धिके सहायकरूपसे सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि विशेषताका निर्देश किया है।

सारांश यह है कि, आर्यजाति आत्मराज्यको प्राप्त करना ही स्वराज्य प्राप्तिकी चरमसीमा समझती है। आत्मराज्य प्राप्तिके प्रधान तीन उपाय हैं, यथा मल दूर करके स्थूलशरीरको शुद्ध करना, विक्षेप दूर करके मनोराज्यको शुद्ध करना और आवरण दूर करके बुद्धिराज्यको परिशुद्ध करना। इन तीन प्रधान उपायोंमेंसे मल दूर करनेके लिये निष्काम कर्मयोग प्रधान सहायक है। उस निष्काम कर्मयोगके यथार्थरूपसे अभ्यास करनेमें स्वधर्मियोंका हितचिन्तन, स्वजातिका हितचिन्तन और स्वदेशकेलिये आत्मसमर्पण प्रधान सहायक है। सुतरां आर्यजातिकेलिये स्वधर्मी और स्वजाति-

वात्सल्य अथवा स्वदेशप्रेम पूर्वकथित आध्यात्मिक स्वराज्यपर लक्ष्य करके ही करनेकी महर्षियोंकी आज्ञा है। आर्यजातिको पूज्यपाद महर्षियोंके इस अतिदूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्तको अपने लक्ष्यनिर्णयमें सदा सम्मुख रखना उचित है।

अर्थकामको लक्ष्य न बना करके आत्माको आर्यजातिने क्यों लक्ष्य बनाया है इसका रहस्य ऊपर वर्णन किया गया। अब सदाचारादि आर्यजातीय विशेषताओंके द्वारा इस लक्ष्यकी सिद्धिमें कैसे सहायता पहुँच सकती है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको सदाचार कहते हैं। धर्म सत्त्वगुणवृद्धिकारी और तमोगुणका नाशक होता है। इस कारण पूज्यपाद महर्षियोंके द्वारा आदिष्ट सदाचारोंका पालन करनेसे अवश्य ही तमोगुणका नाश तथा सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यह पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर तमोगुणप्रधान है, क्योंकि पञ्चतत्त्वोंके तामसिक परिणाम द्वारा ही स्थूलशरीर उत्पन्न होता है। इसलिये स्थूलशरीर आत्माको प्रच्छन्न करनेवाला मलरूप है। उस मलको दूर न करके हम जितना उसे बढ़ावेंगे उतना ही आत्मा और भी प्रच्छन्न होकर स्वराज्यसिद्धि दूरवर्त्ती हो जायगी। इस कारण खान, पान, स्नान, शयन, स्पृश्यास्पृश्य, इस विचारसे होना चाहिये, जिससे स्थूलशरीरका मल दूर होकर स्थूलशरीर सात्त्विक बन जाय और सात्त्विक स्थूलशरीरके प्रभावसे अन्तःकरण भी सात्त्विक बनकर आत्माकी साधना निरुपद्रव हो। स्थूलदेह सूक्ष्मशरीरका ही विस्तारमात्र है, क्योंकि सूक्ष्मशरीरमें अवस्थित प्रारब्धसंस्कारके अनुसार उसीके ही भोगार्थ भोगायतनरूपसे उसीके अनुरूप स्थूलशरीर जीवको मिलता है। इस कारण स्थूलका प्रभाव सूक्ष्ममें और सूक्ष्मका प्रभाव स्थूलमें बहुत कुछ पड़ता है। प्राणकी शक्ति, मनकी शक्ति तथा बुद्धिकी शक्ति भुक्त अन्नकी शक्ति पर ही निर्भर करती है। उपवास करने पर अन्नकी शक्ति नहीं मिलती है इसलिये प्राण, मन, बुद्धि सभी दुर्बल हो जाते हैं। अतः यह बात निश्चित है कि हम जिसप्रकार शक्तिप्रद अन्नका आहार करेंगे हमारी बुद्धि, मन, तथा प्राणमें भी ऐसी ही शक्ति होगी। तामसिक अन्नके खानेसे मन, बुद्धि, प्राण सभी तामसिक हो जायँगे। राजसिक अन्नके खानेसे सभी रजोगुणसम्पन्न हो जायँगे और सात्त्विक अन्नके खानेसे मन, बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग पर सत्त्वगुणका प्रभाव पड़ेगा। इसीलिये वेदमें लिखा है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

आहारकी शुद्धिसे सत्त्वगुण बढ़ता है, उससे सदसद्विचारकी स्मृति परिपक्व होती है। इसी प्रकारसे स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंका अभेद्य सम्बन्ध देखकर ही पूज्यपाद

महर्षियोंने सदाचारपालनरूपसे आर्य्यजातिके लिये सात्त्विक अन्नग्रहण, सात्त्विक रीतिसे स्नान, वस्त्र परिधान, शयन, बाह्यशौच आदि सब कुछ बताया है, जिनके शास्त्रानुसार पालन द्वारा स्थूलशरीरका मल दूर होकर स्थूलशरीर शुद्ध सात्त्विक तथा साधनाके योग्य बन सकता है और उसका प्रभाव सूक्ष्मशरीरपर पड़कर विक्षेप तथा आवरणकी भी निवृत्ति द्वारा आत्माकी उपलब्धि अनायास हो जाती है। यही स्वराज्यसिद्धिके लिये सदाचारकी उपकारिता तथा अवश्य प्रयोजनीयता है। इसी कारण अनार्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषताके निर्देश करनेमें सदाचारको भी विशेषताके एक अङ्गरूपसे बताया गया है।

आर्य्यजातिकी तीसरी विशेषता उसमें चिरन्तन प्रचलित वर्णधर्म है। इसी वर्णधर्मकी कृपासे ही अनेक विजातीय अत्याचार सहन करने पर भी आज तक आर्य्य-जाति संसारकी अनेक जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताके प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुई है। कालसमुद्रमें बुलबुलेकी तरह उठकर कितनी ही जातियाँ पुनः उसीमें चिरकालके लिये विलीन हो गई हैं किन्तु यह केवल वर्णधर्मकी ही महिमा है कि, आज तक आर्य्यजातिकी सत्ता अक्षुण्ण है। वर्णधर्म किसको कहते हैं और प्रकृतिके त्रिगुणा-नुसार चार वर्ण स्वाभाविकरूपसे कैसे बनते हैं इत्यादि इत्यादि विषय वर्णधर्म नामक अध्यायमें पृथक्रूपसे बताये गये हैं। यहाँपर इतना ही समझना यथेष्ट होगा कि वर्ण-धर्मने ही रजोवीर्यशुद्धि द्वारा आर्यपिता तथा आर्यमाताका पवित्र बीज अब तक बना रक्खा है, जिसके कारण आर्यजाति अन्य किसी जातिमें विलीन न होकर अपने अस्तित्वको अटूट रखनेमें समर्थ हुई है। द्वितीयतः आध्यात्मिक स्वराज्यलाभकेलिये वर्णधर्मकी उपयोगिता सर्वोपरि है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। पूज्यपाद महर्षियोंने चार वर्णोंकी स्वाभाविक प्रकृतिको देखकर धर्मव्यवस्था ऐसी बाँधी है, जिससे अनायास ही चारों वर्ण क्रमशः वैषयिक प्रवृत्तिको छोड़कर आत्माके राज्यमें प्रतिष्ठा पा सकते हैं। वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक कहा गया है। "प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः" ऐसा कर्ममीमांसादर्शनका सूत्र है। उद्दाम प्रवृत्तिके वशीभूत होकर ही जीव ब्रह्मसे च्युत हो मायाजालमें फँसता है और क्रमशः पशु पक्षी आदि मूढ़ योनियोंको प्राप्त करता है। वर्णधर्म जीवकी इस उद्दाम प्रवृत्तिको क्रमशः रोककर जीवको आत्माके राज्यकी ओर आगे बढ़ाता है, इसी कारण वर्णधर्म स्वराज्यसिद्धिमें परम सहायक माना गया है। जीवभावका प्रथम विकाश उद्भिज्जयोनिमें होनेके अनन्तर जीव प्रकृतिमाताकी ऊर्द्ध्वगतिशील स्वाभाविक धारामें बहता हुआ मनुष्ययोनि तक पहुँचता है। इन योनियोंमें प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार जीवकी आहार-मैथुनादि सभी प्रवृत्ति नियमित हुआ करती है। किन्तु

मनुष्ययोनिमें आनेके साथ ही साथ अहंकारादि वृद्धिके द्वारा जीवकी इन्द्रियप्रवृत्ति अनियमित तथा उद्दाम होने लगती है। इसलिये उस अनियमित प्रवृत्तिके रोकनेके लिये यदि कोई शक्ति कार्य न करे तो मनुष्ययोनिसे पुनः अधोगति होनेकी आशङ्का जीवके लिये हो जाती है। यह वर्णधर्मकी ही महती शक्ति है जिससे जीवकी उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति क्रमशः रुककर मनुष्ययोनिमें जीवकी परमात्माकी ओर क्रमोदूर्ध्वगति बनी रहती है। इसी कारण मीमांसादर्शनने वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक कहा है। वर्णधर्म ही प्रकृतिके त्रिगुणभेदानुसार जीवको पृथक्-पृथक् कर्मनिर्देश द्वारा क्रमशः परमात्मप्राप्तिके मार्गमें आगे बढ़ता है और जीवहृदयमें नैसर्गिकरूपसे विद्यमान प्रवृत्तिसम्बन्धीय उद्दामभावको धीरे धीरे कम कर देता है। शूद्रयोनिमें तमोगुणका आधिक्य है; तमोगुण-का स्वभाव धर्ममें अधर्मज्ञान तथा अधर्ममें धर्मज्ञानरूप विपरीत कल्पना है। इस प्रकार विपरीत भावग्रस्त जीवको स्वयं कर्तृत्वका अधिकार देनेसे वह अवश्य कुकर्म करके अधोगति प्राप्त करेगा। इसलिये वर्णधर्मने शूद्रको स्वयं कर्तृत्वका अधिकार न देकर त्रिवर्णकी आज्ञानुसार उनकी सेवाका ही अधिकार दिया है। इस प्रकारसे हार्दिक सेवा द्वारा शूद्रकी निम्नगामी प्रवृत्ति रुकेगी और वह अवश्य ही उच्चवर्णमें जन्मलाभ कर सकेगा। तदनन्तर वैश्ययोनिमें रजोमिश्रित तमोगुणका प्राधान्य है। रजोगुणके रागात्मक होनेसे इस योनिमें अर्थादि विषयमें आसक्ति स्वाभाविक है और साथ ही साथ तमोगुण रहनेसे उस अर्थके द्वारा अनर्थ होना भी सम्भव है। इसकारण वर्णधर्मने वैश्यको कृषि-वाणिज्य आदि द्वारा अर्थोपार्जन करनेको कहा है किन्तु उस उपार्जित अर्थको विषयक्षेत्रमें न बिगाड़कर गोरक्षा, अन्य-वर्णोंकी रक्षा, सत्कर्ममें दान आदि धर्मकार्यमें व्यय करनेकी आज्ञा दी है। यदि वैश्य इस प्रकारसे स्वधर्मानुकूल आचरण करेगा तो अवश्य ही उसकी उद्दाम प्रवृत्ति रुककर उत्तरोत्तर उन्नत योनिमें उसका जन्मलाभ हो सकेगा। तदनन्तर क्षत्रिययोनिमें रजो-मिश्रित सत्त्वगुणका स्वाभाविक प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे क्षत्रियजातिमें क्रियाशक्तिका आधिक्य होना नैसर्गिक है, किन्तु वह क्रियाशक्ति तमोगुणकी ओर न झुककर सत्त्वगुणकी ओर झुके, इसलिये वर्णधर्मने क्षत्रियको धर्मरक्षा, राज्यपालन, पापियोंका दण्डविधान, प्रजाके सुखकेलिये सर्वस्वत्याग, अधर्मसे देश और जातिकी रक्षा आदि सात्त्विक कार्यमें उस क्रियाशक्तिका उपयोग करनेके लिये उपदेश किया है। इस प्रकारसे सत्त्वगुणमूलक क्रियाके द्वारा क्षत्रिय अवश्य ही अपनी निम्नगामी प्रवृत्तिको दबाकर उन्नत परम सात्त्विक योनिको प्राप्त कर सकेंगे। उसके बाद सबसे अन्तिम योनि अर्थात् ब्राह्मण योनि है। अन्तिम योनि होनेसे इसमें सत्त्वगुणका ही नैसर्गिक प्राधान्य

है। इसलिये जितेन्द्रियता, अन्तरिन्द्रिय बहिरिन्द्रियोंका संयम, तपस्या, ज्ञानार्जन, निष्काम, कर्मयोग, जगत्सेवा, उपासना आदि सात्त्विक सभी कर्म ब्राह्मणके करने योग्य है, इन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण क्रमशः आत्माकी ओर अग्रसर होते होते अन्तमें निखिल प्रवृत्ति निरोध द्वारा मल विक्षेप आवरणको नष्ट करके परमात्माको अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे। यही ब्राह्मणयोनिमें जीवका अन्तिम लक्ष्य है। अतः सिद्ध हुआ कि, वर्णधर्म प्रवृत्तिनिरोध द्वारा जीवको स्वराज्यकी ओर अवश्य ही अग्रसर करते करते अन्तमें स्वराज्यकी उच्चपदवीपर प्रतिष्ठित कर देता है। उसी प्रकार समष्टिसृष्टिमें भी प्रथमतः उत्तमकोटिके मनुष्य उत्पन्न होनेपर भी प्रकृतिकी स्वाभाविक निम्नगतिके कारण जब मनुष्योंका चित्त अत्यन्त पापप्रवण होकर आत्मासे एक बार ही विमुख होने लगता है, तब चार वर्णरूपी चार बन्धके द्वारा ही यह निम्नगामिता रोक दी जाती है और वर्णानुकूल कर्त्तव्य निर्देश द्वारा समस्त मनुष्योंको परमात्माकी ओर क्रमशः अग्रसर किया जाता है। अतः क्या व्यष्टि सृष्टि, क्या समष्टिसृष्टि सभीमें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म ही स्वराज्यसिद्धिका अमोघ कारण है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहितामें लिखा है—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥

विवाहविधिमें अपने वर्णमें विवाह होना ही धर्मानुकूल तथा प्रशस्त है। जहाँ धर्मविवाह न होकर कामजन्य विवाह हो, वहाँ अनुलोमविधिके अनुसार नीचेके वर्णकी स्त्री भी ली जा सकती है। मनुजीके इस प्रकार कहनेका हेतु अन्वेषण करनेपर भी आत्मोन्नतिप्रद वर्णधर्म्मकी ही महिमा देखनेमें आती है। ब्रह्मकी एक शक्तिसे प्रकृति-पुरुष दोनों उत्पन्न होकर समस्त संसार विस्तार होता है। प्रकृति अर्द्धाङ्गिनीरूपसे तथा पुरुष अर्द्धाङ्गरूपसे अपनी अपनी शक्तिके प्रभाव द्वारा सृष्टिक्रियामें सहायता करते हैं। जब तक ये दोनों पृथक् पृथक् रहें तभी तक सृष्टिका वैचित्र्य है। अर्द्धाङ्ग तथा अर्द्धाङ्गिनी होनेसे दोनोंकी शक्ति समान है और शक्तिकी समानता होनेसे ही संघर्ष ठीक ठीक होकर सृष्टिक्रियाका विस्तार भी हो सकता है और क्रियाके अवसानमें प्रकृति पुरुषमें लय होकर दोनोंका मोक्षसाधन भी हो सकता है। आदिकारणमें जो व्यापार है, विश्वप्रपञ्चके प्रत्येक कर्म्ममें वही व्यापार है। इसलिये प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न नारी, पुरुषके अंशसे उत्पन्न नरकी अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है। विवाहके द्वारा दोनोंका संयोग होता है। अर्द्धाङ्गिनी अर्द्धाङ्गमें मिलकर शक्ति संघर्ष द्वारा सृष्टिका विस्तार करती है। और इस प्रकारसे अर्द्धाङ्गमें क्रमशः लीन होकर अन्तमें दोनोंकी ही

मुक्ति साधन कराती है। प्रगाढ़ मेलमें प्रेमकी प्रगाढ़ता ही मुख्य कारण है। वह समान वर्णोंमें विवाह होनेसे जैसा हो सकता है, असमान वर्णोंमें ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रेम हृदयकी एक शक्ति है, उसका दूसरे हृदयमें समानशक्तिके पानेसे ही संघर्ष ठीक ठीक होगा और संघर्षके द्वारा दाम्पत्यप्रेम परिपुष्ट होगा, उससे जो सृष्टि-क्रिया होगी, वह भी यथोचित होनेके कारण दाम्पत्यप्रेमसे उत्पन्न सन्तान धार्मिक तथा आत्मतत्पर होगी और अन्तमें यही दाम्पत्यप्रेम पतिपत्नी दोनोंके लिये मोक्षका कारण बन जायगा। इसीकारण समान वर्णोंमें विवाहको श्रीभगवान् मनुजीने प्रशस्त तथा धर्मपरिणाय कहा है और असमान वर्णोंमें अनुलोम विवाहको कामपरिणाय कहा है। काम चित्तकी निकृष्ट वृत्ति होनेसे सदा निम्नगामी है। इसकारण अपनेसे नीच वर्णकी स्त्रीके साथ विवाहकी इच्छा कामवेगसे ही होती है, धर्म्मभावसे नहीं होती है। समान-वर्णके स्त्रीपुरुषमें शक्तिकी समानताके कारण जो पवित्र प्रेमकी उत्पत्ति होती है, असमान वर्णोंमें शक्तिकी असमानता रहनेसे सो होने नहीं पाती। इसलिये अनुलोम विवाहमें प्रेमका विकाश न होकर कामका ही विकाश होता है, जिससे विवाहित स्त्री-पुरुष दोनों ही विषयमदान्ध होकर अत्यन्त हीनमतिको प्राप्त करते हैं। उनकेलिये आत्मोपलब्धिका पथ एक बार ही अन्धकारमय हो जाता है। उनकी सन्तान भी कामज होनेसे हीनचेता तथा हीनकर्मा होती है। इस प्रकारसे अनुलोमविवाह द्वारा वर्णधर्मके व्यत्ययसे स्वराज्यलाभ दुर्लभ हो जाता है। और प्रतिलोम विवाहके कुपरिणामकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्रतिलोम विवाहके द्वाराही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होकर जाति, वंश तथा देशको रसातलमें पहुँचाती है। जिसप्रकार अश्व तथा गर्दभके मेलसे उत्पन्न अश्वतर सृष्टि आगे नहीं चलती, उसीप्रकार वर्णसङ्करी सृष्टि भी आगे नहीं चलती। इस कारण प्रतिलोमविवाह द्वारा स्वराज्यप्राप्ति तो दूर ही रही, अधिकन्तु जातिका जीवित रहना ही असम्भव हो जाता है। जैसा कि, श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव प्रणश्यति॥

जिस राज्यमें वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, वह राज्य तथा उसकी प्रजा सभी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अतः सिद्धान्त हुआ कि क्या परमात्माकी ओर जातिका अटूट लक्ष्य बनाये रखना, क्या जातीय जीवनको चिरजीवी बनाये रखना, दोनोंहीके लिये वर्णधर्मकी रक्षा तथा उन्नति एकान्त आवश्यकीय है। इसीकारण पूज्यपाद महर्षियोंने आर्यजातिके इतर जातियोंसे विशेषतावर्णनमें वर्णधर्मको अति उत्तम स्थान दिया है।

जिस प्रकार वर्णधर्मकी सहायतासे प्रवृत्तिनिरोध द्वारा जीव क्रमशः परमात्माकी ओर अग्रसर होता है, उसीप्रकार आश्रमधर्मकी सहायतासे निवृत्तिपोषण द्वारा जीवकी गति परमात्माकी ओर बन जाती है। इसकारण वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्म भी आर्यजातिकी एक प्रधान विशेषता है। ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमोंमें प्रवृत्तिसे संग्रामकेलिये शक्तिलाभ तथा क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये महर्षियोंने ऐसी विधियाँ बताई हैं, जिनके यथाशास्त्र अनुष्ठान द्वारा अवश्य ही आर्यजाति आत्माके आनन्दमयपद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। शक्ति एकान्तमें प्राप्त होती है यह प्राकृतिक विधि है। माताके एकान्तगर्भमें दस महीने तक रहनेसे ही भ्रूणको पूर्णशरीर जीव होकर पृथिवीमें उत्पन्न होनेकी शक्ति प्राप्त होती है। धरित्रीके एकान्त गर्भमें प्रच्छन्न रहनेसे ही बीजमें वृक्ष उत्पन्न करनेकी शक्ति आती है। महाप्रलयके एकान्त गर्भमें चिरकाल तक रहनेसे ही प्रलयविलीन जीवोंमें पुनः प्रकट होनेकी शक्ति आती है। निद्रादेवीके एकान्त अङ्कमें विश्राम करनेसे ही दिनमें कार्य्य करनेकी शक्ति आती है। इसीकारण महर्षिगण ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारी बालकको शक्तिमान् बनानेके लिये गर्भधारिणी माताके मोहमय अङ्गसे अतिदूर आचार्य्यकी एकान्त सेवामें रहनेकी आज्ञा दे गये हैं। श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्ति ज्ञानमय वेदके द्वारा, अधिदैवशक्ति सूर्यात्माके द्वारा तथा अधिभूत शक्ति पार्थिव अग्निके द्वारा प्रकट होती है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रममें वेदाभ्यास द्वारा अध्यात्मशक्तिलाभ, सूर्योपस्थान द्वारा आधिदैवशक्ति-लाभ तथा अग्निसेवा द्वारा अधिभूत शक्तिलाभ ब्रह्मचारी बालकको हुआ करता है। और त्रिसन्ध्या तथा गायत्री उपासना द्वारा वरेण्य बुद्धिप्रेरक आदि देवताका तेजोलाभ हुआ करता है। उपानच्छत्रधारण-त्यागद्वारा पार्थिवशक्ति तथा सूर्य्यशक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापन होनेसे उभय शक्तिका ही संग्रह होता है और मधुमांस त्याग, अष्टविध मैथुन त्याग आदि द्वारा इन्द्रियसंयम शक्तिका लाभ होता है। प्रतिगृह भिक्षाचर्यापूर्वक गुरुसेवा द्वारा दीनता, निरहंकार और परमगहन सेवाधर्मका नित्यानुष्ठान होता है। भिक्षा करते समय "भवती भिक्षां देहि मातः" इस प्रकारसे प्रत्येक स्त्रीको माता कहनेका संस्कार संग्रह होनेसे 'मातृवत् परदारेषु' इस जितेन्द्रियतामूलक देवभावका अनायास ही लाभ हो जाता है। केवल अपने पिता माताके अन्नसे शरीर पुष्ट न होकर समस्त स्वदेश-वासियोंके अन्नसे शरीर प्रतिपालन होनेके कारण समग्र देशके प्रति अभिनिवेश उत्पन्न होकर देशसेवापरायणताकी पवित्र बुद्धि स्वतः ही प्रकट हो जाती है। इत्यादि इत्यादि समस्त विधियोंके द्वारा ब्रह्मचर्याश्रममें गार्हस्थोपयोगी धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा आत्मा की ओर गति तथा प्रवृत्तिके साथ संग्राम द्वारा निवृत्ति लाभके उपयुक्त शक्ति प्राप्त होती है।

जिस ब्रह्मचारीका प्राक्तन संस्कार अति उत्तम है वह ब्रह्मचर्याश्रमसे एक बारही संन्यासाश्रममें प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जिसका संस्कार इतना उच्चकोटिका नहीं है; उसको धर्ममूलक प्रवृत्तिकी सहायतासे क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होना पड़ता है। यद्यपि ज्ञानहीन भावशुद्धिहीन धर्महीन प्रवृत्ति घृताहुत वह्निकी नाईं उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है, तथापि प्रवृत्ति धर्ममूलक होनेसे और उसके साथ ज्ञान तथा भावशुद्धिका नित्य सम्बन्ध रहनेसे कालान्तरमें जाकर वह निवृत्तिप्रसविनी अवश्य ही हो जाती है। गृहस्थाश्रममें इसीका साधन होता है। गृहस्थाश्रमके प्रधान कर्त्तव्य अतिथिसेवा द्वारा नररूपमें नारायणकी नित्य पूजा होती है, जिससे हृदयकी उदारता, पुण्यलाभ और भगवत् शक्ति लाभ यथेष्ट होता है। पञ्चमहायज्ञके क्रियानुष्ठान द्वारा विराट् शक्तिसे एकता, तथा ऋषि-देवता-पितरोंकी त्रिविध शक्ति प्राप्त होती है। परिवारादि सभीके लिये आत्मसुखत्याग करनेका अभ्यास करते करते स्वार्थसङ्कोच, त्याग, संयम आदि सभी उन्नत वृत्तियां आने लगती हैं। एकपत्नीव्रत और शास्त्रनियमानुसार स्त्रीसेवाद्वारा प्रवृत्ति-संस्कार क्रमशः क्षीण होकर निवृत्तिभावका उदय होने लगता है। सन्तानके प्रति स्नेह, पितृ मातृ-भक्ति, दाम्पत्यप्रेम आदि मधुर दिव्य गुणावली स्वतः ही उन्मेषित होने लगते हैं। विषयसुखकी क्षणभङ्गुरता तथा परिणामतापादि दुःखका उसके साथ अच्छेद्य सम्बन्ध अनुभव करके चित्तमें धीरे धीरे विषयके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इष्टोपासना द्वारा आत्माके प्रति गति अवश्यसम्भावी हो जाती है। बहु आत्मियोंका एक परिवारसे सम्बन्ध होनेसे, कई परिवारका एकान्नवर्त्ती होनेसे अनेक नरनारियोंका एक ही पारिवारिक स्वार्थमें सम्बन्धयुक्त रहनेसे और उस परिवारके नरनारियोंमें यथायोग्य अधिकारके अनुसार यथायोग्य आचरण करके निःस्वार्थ भाव प्राप्त करनेसे मनुष्यके चित्तकी उदारभूमिका उदारतर विस्तार होता है। और ऐसा ही भाग्यवान् गृहस्थ स्वधर्मसेवा, स्वजातिसेवा और स्वदेशसेवाके लिये कालान्तरमें यथार्थ उपयोगी बन सकता है। पृथिवीभरमें और किसी जातिमें भी इस प्रकार गृहस्थधर्मकी उदारता नहीं दिखाई पड़ती है। हिन्दुगृहस्थधर्मकी महिमाका यह एक ज्वलन्त दृष्टान्त है, इत्यादि इत्यादि विधियोंके द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थतासे निवृत्तिका परिपोषण होनेपर वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश हो जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिका विशेष अभ्यास होता है। विषयसे शिथिल गार्हस्थशरीर वानप्रस्थाश्रममें कठिन तपस्या द्वारा परिपक्व होकर अग्निदग्ध काञ्चनकी तरह निर्मल हो जाता है, ऐसे निष्पाप शरीर तथा अन्तःकरणमें परमात्माकी उपासना तथा निवृत्तिकी प्रतिष्ठा स्वतः ही होने लगती है, जिसके फलसे संयमशील, तपस्वी, क्षीण-

कल्मष, वैराग्यवान् साधक निवृत्तिके पराकाष्ठाप्रद सन्न्यासाश्रमको लाभ कर सकते हैं। इसी तुरीयाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठामें ही पूर्ण स्वराज्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है, यथा वेदमें—

"न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनऽमृतत्वमानशुः"

सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक महात्मा अमृतत्व प्राप्त हो गये हैं। विषयके पूर्णत्यागमें ही आत्माकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। संन्यासी वैराग्यके द्वारा विषयका त्याग करके अभ्यासके परिपाकमें आत्माकी उपलब्धि करते हैं। अत: सिद्ध हुआ कि चार आश्रमके द्वारा क्रमशः जीव आत्माकी ओर ही अग्रसर होता हुआ अन्तिम आश्रममें परमात्माको प्राप्त कर ले सकता है। यही कारण है कि अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषता-वर्णनमें वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्मको भी एक विशेषतारूपसे वर्णन किया गया है।

इसीप्रकार सतीधर्म भी आर्यजातिकी एक अनूठी विशेषता है, जो संसारमें और किसी जातिके भीतर नहीं प्राप्त होती। पातिव्रत्यधर्म संयम तथा तपस्यामूलक है, तपस्विनी पतिव्रता नारी जीवन-मरणमें एक पतिके सिवाय अन्यपुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन करना नहीं जानती, उनका शरीर, मन, प्राण, पतिदेवताके चरणकमलमें चिरविक्रीत है, सुखमें दु:खमें सभी दशामें वह एक ही पतिकी सेवामें समस्त जीवनको व्यतीत करती है। इस प्रकार जिस स्त्रीकी धारणा तथा पवित्र भाव है उसकी सन्तान अवश्य ही परम धार्मिक तथा आर्यगुणसम्पन्न होती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। और जिस जातिमें इस प्रकार सतीधर्म सामाजिक धर्मरूपमें परिगणित है वह जाति अवश्य ही आत्मलक्ष्यपरायण होगी इसमें भी अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः आर्यलक्ष्यसिद्धि तथा स्वराज्यसिद्धिके लिये वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिकी तरह पातिव्रत्यधर्मकी भी परमावश्यकता है यह निर्णय हुआ। बिना पातिव्रत्यके स्त्रीजातिमें पुंश्चलीवृत्ति होना स्वाभाविक है, जिसके फलसे जातिमें अनाचार, व्यभिचारादि दोष और आत्मलक्ष्यहीन पशुभावकी वृद्धि अवश्यम्भाविनी है। साथ ही साथ वर्णसङ्कर प्रजोत्पत्ति द्वारा पूर्ववर्णानुसार जातिका नाश होना भी सिद्ध है। अतः आर्य्यजातिके आध्यात्मिक-लक्ष्य-सम्पादन तथा जातीय चिरजीवनके लिये पातिव्रत्यधर्मकी विशेष आवश्यकता है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। सतीधर्मका महत्त्व, सतीधर्मका विस्तारित लक्षण और सतीधर्मका दार्शनिक तत्त्व स्वतंत्र अध्यायमें कहा गया है।

यही आर्य्यजातिका यथार्थ स्वरूप तथा अन्यजातिसे विशेषता है और

इसी स्वरूपके अनुकूल उन्नतिका पथ दिखलाना ही आर्य्यजातिके लिये यथार्थ उन्नतिका आदर्श निरूपण है। आर्य्यजाति जब आत्मलक्ष्यको अटूट रक्खेगी और उसकी पूर्णसिद्धिके लिये सदाचार, वर्णधर्म; आश्रमधर्म तथा पातिव्रतधर्मको पूर्णतया परिपालन करेगी तभी पृथिवीकी पवित्र सन्तान आर्य्यनामको अक्षुण्ण रखकर उन्नतिके उच्च शिखरपर आरोहण कर सकेगी। और यदि इन पाँचों शुभ लक्ष्योंको भूल जायगी, इनके सिद्धान्तको अनावश्यक समझेगी, अथवा इनमेंसे किसीका भी अनादर करेगी तो वह निश्चय ही आर्य्य नामसे अभिहित होने योग्य नहीं रहेगी। प्रत्येक आर्य्यसन्तानको अपनी व्यक्तिगत तथा समाजगत उन्नतिके आदर्शनिरूपणमें इन पांचों लक्ष्योंको संसार-समुद्रमें ध्रुवताराकी तरह अपने नेत्रोंके सम्मुख रखना उचित है।

अष्टम काण्डकी अष्टम शाखा समाप्त हुई।

आर्य्यजीवन

प्रसङ्गानुसार द्वितीय प्रबन्ध 'आर्य्यजीवन' पर बताया जाता है।

'अर्त्तुं सदाचरितुं योग्यः आर्यः" ऐसे लक्षणके द्वारा वैदिक सदाचारपरायण जातिको हिन्दुशास्त्रमें आर्य्यजाति कहा गया है। "उभयोपेताऽऽर्यजातिः" इस लक्षणके द्वारा वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मसे युक्त जातिको मीमांसाशास्त्रमें आर्य्यजाति कहा है। "आर्य्य ईश्वरपुत्रः" ऐसा कह कर यास्कमुनिने निरुक्तशास्त्रमें आर्य्यजातिको आध्यात्मिक सम्पत्तिसम्पन्न अति उन्नत जाति कहा है। क्योंकि पुत्र जिस प्रकार पिताका आत्मज होनेसे स्वभावतः ही पितृभक्त तथा पितृगुणसम्पन्न होता है, उसी प्रकार आर्य्यजाति भी परमात्माकी सन्तान होनेसे उन्नत आध्यात्मिकगुणयुक्त तथा आत्मरतियुक्त होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब आर्य्यजातिका ऐसा लक्षण क्यों किया गया है सो ही विवेच्य है। पहलेके प्रबन्धमें कहा गया है कि, त्रिगुणमयी प्रकृतिके राज्यमें गुणविकाशके नैसर्गिक तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देश-कालमें भिन्न भिन्न प्रकृतिकी जातियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिके जिन जिन विभागोंमें रजोगुण-तमोगुणका विकाश स्वभावतः अधिक है और सत्त्वगुणका विकाश नाममात्र है वहाँ आत्मलक्ष्यहीन अर्थ-कामपरायण जाति स्वभावतः ही उत्पन्न होगी। इसीप्रकार प्रकृतिके जिस विभागमें तीनों गुणोंका पूर्ण विकाश है वहाँ पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग साधनपरायण आत्मलक्ष्ययुक्त जाति स्वभावतः ही उत्पन्न होगी इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। समस्त-भूमण्डलमें भारतवर्षकी प्रकृति ही पूर्ण है और इतर देशोंकी प्रकृति अपूर्ण है, इस विषयमें पूर्ण विचार हो चुका है। अतः भारतमाताकी आदि सन्तान आर्य्यजाति ईश्वरपुत्र क्यों कहलाती है और आर्य्यजातिमें परमात्मा ही अन्तिम लक्ष्य क्यों है तथा अन्यान्य जातियोंमें आत्मा लक्ष्य न होकर अर्थकाम लक्ष्य क्यों है, इस विषयमें अधिक आलोचनाका कोई भी प्रयोजन नहीं रहा। गवेषणापरायण पक्षपातरहित उदारचरित पुरुष थोड़े ही विचारसे इस तथ्यका पूर्ण रहस्य जान सकेंगे। सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म तथा पातिव्रत्य धर्मद्वारा किस किस प्रकारसे जातिका आत्मलक्ष्य अटूट रह सकता है इसका वृत्तान्त पहले ही कहा गया है। अतः 'आर्य' जातिके विषयमें ऊपरकथित सभी लक्षण आर्य्यप्रकृतिके अनुकूल तथा नैसर्गिक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अर्थकामके साथ प्रमाद तथा अनुदारताका स्वाभाविक सम्बन्ध रखनेसे अर्थकामपरायण इतर जातियाँ आर्यजातिके जातीय जीवनके अलौकिक लक्ष्यको न समझकर उसकी निन्दा तथा उसपर अयथा कटाक्ष कर सकती हैं, किन्तु आत्मरतियुक्त आर्यजाति उन सब अयथा आलोचनाओंको बालचापल्य तथा अज्ञानका विजृम्भणमात्र समझकर उनपर उपेक्षा ही करती है और अपनी स्वभावसुलभ उदारताकी वशवर्तिनी होकर इतर जातियोंकी अधिकारानुसार उन्नति ही चाहती है।

प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्ति सङ्कल्पके अनुसार हुआ करती है, किन्तु लक्ष्यके तारतम्यानुसार संकल्पका तारतम्य होता है। आर्यजीवनका जो लक्ष्य पहले बताया गया है आर्यजातिकी समस्त चेष्टा उसी लक्ष्यके अनुसार ही अवश्य नियमित होगी। इसी कारण अर्थकामपरायण जातियोंकी सभ्यताके साथ आर्यजातीय सभ्यताका इतना अन्तर देखनेमें आता है जिसका गूढ़ हेतु न समझकर मनुष्य बहुधा भ्रममें पतित होते हैं। अब नीचे लक्ष्यभेदानुसार चेष्टाभेदका तात्पर्य बताकर क्रमशः इन बातोंका समाधान किया जायगा।

(१) अर्थकाम लक्ष्य न होकर धर्ममोक्ष तथा उसके द्वारा साध्य आत्मलक्ष्य होना चाहिये इसका विस्तृत विवरण 'उन्नतिका आदर्श' शीर्षक प्रबन्धमें पहले ही बताया गया है। भारतीय प्रकृतिमें प्रकाशलक्षण सत्त्वगुणका स्वाभाविक विकाश होनेसे भारतीय आदिनिवासी आर्य-महर्षियोंने ज्ञानदृष्टि द्वारा यह अनुभव कर लिया था कि नित्य आत्माको छोड़कर अनित्य भौतिक वस्तुको लक्ष्य बनाना मूर्खता तथा अज्ञानमात्र है। क्योंकि विनाशी, परिणामी, अनित्य, परिवर्त्तनशील भूतसङ्घातके द्वारा कदापि चिरशान्तिप्रद आत्यन्तिक शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण आर्यजीवनमें आत्मा ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम उसका साधनमात्र है। इसी कारण आर्यजातिके सिद्धान्तानुसार कामप्रधान शूद्रजाति, अर्थप्रधान वैश्यजाति और धर्मप्रधान क्षत्रियजाति, इन तीनोंकी सामाजिक जीवनके अङ्गरूपसे परम आवश्यता रहने पर भी मोक्षप्रधान ब्राह्मणधर्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा सबका अन्तिम लक्ष्य है। इसीकारण प्राचीन आर्यजीवनमें शूद्रवर्णका कलाकौशल, वैश्यवर्णकी धनसम्पत्ति तथा वाणिज्यश्री, क्षत्रियवर्णकी युद्धविद्या तथा अपूर्व वीरता आदि सभी कुछ पूर्णविकाशको प्राप्त होनेपर भी अन्तिम लक्ष्य ये सब नहीं थे किन्तु महर्षि याज्ञवल्क्यके सिद्धान्तानुसार—

'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'।

अर्थात् अन्तमें योगद्वारा आत्माका साक्षात्कार ही अन्तिम लक्ष्य था। बल्कि

ऐसा कहना ही युक्तियुक्त होगा कि आर्य्यजाति अन्तिम लक्ष्यसिद्धिमें कोई बाधा प्राप्त न हो इसी विचारसे ही प्रथम त्रैवर्णिक भौतिक उन्नतिमें प्रोत्साहन दिया करती थी। स्थूलशरीर आत्मसाधनाका उत्तम उपकरण है इस कारण उसकी रक्षा प्रथम कर्त्तव्य है, निवाससुगमता आदिके लिये कलाकौशलकी आवश्यता है, नहीं तो स्थूलशरीरको कष्ट होगा और उससे आत्मसाधनमें बाधा होगी, इसी विचारसे आर्यजाति शूद्रवर्णमें कलाकौशल तथा सेवाधर्मकी सहायता करती थी। उदरपूर्त्तिके बिना शरीरकी रक्षा नहीं होती है, अर्थकामके विना परिवार-प्रतिपालन तथा अभावग्रस्त देशवासियोंकी अभावपूर्त्ति नहीं हो सकती है और इन सभोंके अभावसे स्थिरचित्त हो साधनमें रति नहीं हो सकती, इसीलिये आर्य्यजाति वैश्यजीवनकी सर्वतोमुखिनी उन्नतिमें विशेष सहायता करती थी। स्थूलसम्पत्ति, शरीरसम्पत्ति सभी कुछ होनेपर भी विजातीय आक्रमण तथा अत्याचारसे उसकी रक्षा किये बिना तथा स्वतन्त्रताके विना आत्मरक्षा और आत्मसाधना नहीं हो सकती, इसलिये आर्यजाति क्षत्रिय-भावप्रतिष्ठाकी और क्षत्रियवीरताकी महिमा गाया करती थी। अतः विचार द्वारा यही सिद्धान्त निकलता है कि आर्यजीवनका लक्ष्य आत्मानुसन्धान तथा आत्म-साक्षात्कार ही था, और सब विषय उसके साधनरूपसे पूर्णता पर पहुँचा जाया करते थे। यही कारण है कि प्राचीन समयमें आर्यजातिके भीतर शिल्पकला, वाणिज्य, भौतिकविज्ञान, युद्धविद्या, स्थापत्यविद्या, चिकित्साविद्या आदि सभी विद्याओंकी विशेष उन्नति तथा अध्यात्मविद्याकी पराकाष्ठा प्राप्त हुई थी जिसको पक्षपातरहित अनेक पश्चिमी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं। किन्तु इसप्रकार सर्वतोमुखिनी लौकिक अलौकिक प्रतिभाका विकाश उसी प्रकृतिमें हो सकता है जिसमें त्रिगुणका नैसर्गिक पूर्णविकाश हो। नहीं तो गुणविकाशके तारतम्यानुसार प्रतिभाके विकाशमें तारतम्य अवश्य ही रहेगा, जो कि पृथिवीके भिन्न भिन्न इतिहासोंकी पर्यालोचना करनेसे प्रत्येक मनुष्य ही जान सकता है।

तमोगुणका स्वरूप अज्ञान तथा अन्धकारमय है। प्रकृति अपनी तमोमयी-अविद्याभावके द्वारा ही जीवको संसारचक्रमें घटीयन्त्रवत् घुमाती है। देहको आत्मा समझकर, आत्माके यथार्थ स्वरूपको भूलकर देहकेलिये ही सब कुछ करना तथा देहे-न्द्रियोंकी भोगवासनामें लिप्त रहना तमोगुणका स्वभाव है। इस कारण जिस प्रकृतिमें तमोगुणका स्वाभाविक विकाश है वहाँकी जाति अर्थकाममें ही मग्न रहती है और उनकी समस्त चेष्टाओं, समस्त उन्नतियोंका अन्तिम पर्यवसान अर्थकाममें ही होता है। उन्नतिके प्रथम स्तरमें स्थूलशरीरको ही सर्वस्व समझना स्वाभाविक है, क्योंकि स्थूल शरीर ही

प्रत्यक्ष है। इसलिये जिन जातियोंमें सभ्यताका प्रथम स्तर है, वे स्थूलशरीरके ही सुखके लिये अपने मस्तिष्कको व्यापृत रखती हैं और इसी स्तरमें शिल्पकला, भौतिक विज्ञान या सायन्स आदिका विकाश होता है भौतिक विज्ञानके चमत्कारको देख कर स्थूलदर्शी मनुष्य मुग्ध हो सकता है किन्तु थोड़ा विचार कर देखनेसे ही पता लगता है कि स्थूल-शरीरकी सुखेच्छाको तथा इन्द्रिय-सुखभोगको सुखसाध्य बनानेके सिवाय भौतिक विज्ञान-का और कोई भी विशेष लक्ष्य नहीं है। तदनन्तर उन्नतिके द्वितीय स्तरमें जातिकी दृष्टि स्थूल इन्द्रियोंसे कुछ हट कर सूक्ष्म इन्द्रियोंकी ओर जाती है। उसीके अनुसार द्वितीय स्तरकी सभ्यतामें मनोराज्यमें जातिका कुछ कुछ अधिकार जमाने लगता है। मनोविज्ञान (psychology) की उन्नति ही इस समय भौतिक विज्ञानके स्थानको अधि-कार करने लगती है और स्थूल शिल्पकलाके सिवाय भावजगत्की बहुतसी बातें इस समय जातीय उन्नतिके लक्षणरूपसे परिगणित होने लगती हैं। सङ्गीतविद्याकी उन्नति, काव्यकलाकी उन्नति, चित्रकलाकी उन्नति, चिन्ताशक्तिकी उन्नति, मानसिक बल तथा मनोविज्ञानकी स्फूर्त्ति इस स्तरकी सभ्यताका लक्षण है। इस दशामें तमोगुणके साथ-साथ रजोगुणकी विशेष स्फूर्त्ति रहती है और इसलिये लौकिक जीवन, जातिके इस स्तरमें रहने पर भी पशुभावसे कुछ उन्नत अनुरागात्मक मनुष्यभाव इसमें विकासको प्राप्त होने लगता है। उन्नतिके तृतीय स्तरमें बुद्धिका विकाश होने लगता है। इसमें प्रथमतः बुद्धि जब अलौकिक जगत्में अपने चमत्कारको दिखाने लगती है तो लौकिक उन्नतिकी पराकाष्ठा बुद्धिजीवी जातिको प्राप्त होने लगती है। सभ्यताके इस तृतीय स्तरमें बुद्धि-जीवी जाति बुद्धिबलसे पदार्थविद्या, रासायनिक विद्या, चिकित्साशास्त्र, राजनीति, प्राकृ-तिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, आधिभौतिक दर्शनशास्त्र आदि बुद्धिविलाससुलभ सभी विभागोंमें विशेष उन्नति कर दिखाती है। किन्तु बुद्धिके लौकिक-विलासमें रजोगुणका आधिक्य रहनेसे इन सभी विद्याओंका लक्ष्य द्वैतप्रपञ्चमय प्रत्यक्ष-जगत्में विचरण करना ही होता है। प्रकृतिका प्रथमतत्त्व बुद्धिरूपी महत्तत्त्व है। उसमें ज्ञानमय, आनन्दमय अलौकिक आत्माकी झलक है। इसलिये सभ्यताके चतुर्थ स्तरमें सत्त्वगुणका कुछ विकाश होते ही बुद्धि केवल लौकिक जगत्में विचरण करना पसन्द न करके अतीन्द्रिय जगत्में तथा दैवजगत्में स्वतःही विचरण करना प्रारम्भ कर देती है। इस स्थूल इन्द्रियग्राह्य मर्त्यलोकके सिवाय और कोई लोक है कि नहीं, मृत्युके बाद जीवकी गति कहाँ कहाँ होती है, दैवजगत, परलोक, प्रेतलोक, स्वर्ग नरकादिका अस्तित्व है कि नहीं, देव, गन्धर्व, ऋषि, पितृ आदि कैसे कैसे होते हैं, प्रकृतिसे अतिरिक्त आत्म-सत्ता नामक कोई सत्ता है कि नहीं, समस्त अनित्य सुखदुःखमय चञ्चल स्थितिके मूलमें

कोई नित्य सदानन्दमय निश्चल सत्ता अवश्य ही होनी चाहिये इत्यादि इत्यादि अलौकिक तत्त्वसम्बन्धीय सभी विषयोंमें अनुसन्धित्सा इस स्तरकी सभ्यतासे युक्त बुद्धिजीवी मानवका स्वाभाविक धर्म है । आर्यजातिके सिवाय पृथिवीकी और सभी जातियाँ अभी तक सभ्यताके प्रथम तीन स्तरोंमेंसे किसी न किसी स्तरमें घूम रही है और चतुर्थ स्तरका अनुमान कदाचित् उनके अन्तःकरणमें हुआ करता है । यही कारण है कि आर्यजीवनके साथ विजातीय जीवनोंका जीवनयज्ञमें इतना महान् प्रभेद है ।

(२) आर्यजीवनके आदर्शमें मङ्गलमय शान्तिकी प्रधानता है । आर्यजीवनमें आत्मा लक्ष्य होनेसे कुछ मधुर गुणोंका स्वतः ही विकाश होता है, जिसका रहस्य न जानकर अर्थकामपरायण जातियाँ विविध प्रकारके आक्षेप कर सकती हैं । संसारमें समस्त विप्लव, अशान्ति तथा संग्रामके मूलमें अर्थकाम ही है । अर्थ तथा कामकी पिपासा कभी मिटती नहीं अधिकन्तु संग्रह तथा भोग द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है । इस कारण अर्थकामपरायणजाति हृदयमें कदापि यथार्थ शान्ति लाभ नहीं कर सकती है । उसके हृदयकी अदम्य आशा उसे निशिदिन चिन्ताके चक्रमें ही डाल रखती है, उसको आशानुरूप अर्थकामवृत्तिकी चरितार्थताके लिये प्रतारणा, शठता, मिथ्याचार, व्यभिचार आदि सभी कुछ करना पड़ता है । इसके फलसे प्रबल रागद्वेषकी वृद्धि तथा परस्परमें विवाद और अन्तमें देशव्यापी संग्राम होना स्वाभाविक ही है । अन्य पक्षमें जिस जातिने अर्थकामको परिणामदुःखद समझकर उसके प्रति आसक्ति छोड़ केवल जीवनयात्रा निर्वाहमात्रके लिये अर्थके संग्रहका प्रयोजन समझ लिया है और आत्मामें यथार्थ आनन्द तथा सकल आनन्दका निदान देखकर उसीका अपना आत्यन्तिक लक्ष्य बनाया है, उसके चित्तमें क्रमशः आत्मानुभवके साथ साथ निरतिशय शान्ति आती जायगी । क्योंकि जहाँ त्रिगुणका विकार है वहीं अशान्ति है और जहाँ त्रिगुणकी समता है वहीं ब्रह्मका राज्य है । श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

जिसका मन साम्यमें स्थित है उसने यहीं समस्त सृष्टिको जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इस कारण अन्तःकरणकी समतामयी स्थिति ही ब्राह्मी स्थिति है । इस प्रकारकी ब्राह्मी स्थिति जिस जातिका लक्ष्य तथा आनन्दनिकेतन है, वह जाति कभी अर्थकामके तुच्छ सुखको सर्वस्व समझकर उसमें उन्मत्त हो, अपने जीवनको वृथा नष्ट तथा अशान्तिमय नहीं बना सकती है । वह उतना ही अर्थकामका संग्रह करेगी

जितना जीवनधारणार्थ प्रयोजन है और बाकी अंशको सञ्चय न करके बाँट देगी। प्राचीन आर्य्यजातिका जीवन तथा महर्षिप्रदर्शित आदर्श ऐसा ही था। और इसी कारण आर्य्यभूमि वास्तवमें ही शान्तिभूमि तथा मोक्षभूमि थी। यदि आज भी संसारकी समस्त जातियाँ यथार्थ सुख कहाँ है इसको समझ जायँ, आत्मानन्दरूपी स्पर्शमणिके संस्पर्शसे अपने अपने जीवनको सुवर्णमय बना लेवें तो समस्त संसारव्यापी घोर अशान्ति, संग्राम तथा विद्रोहका दावानल एकबार ही निवृत्त हो जायगा और तब अर्थ-कामजन्य विलासितासे उत्पन्न तुच्छ सभ्यताको सभ्यता न समझकर आत्मोन्नतिमूलक सरल सभ्यताको ही यथार्थ सभ्यता वे मान सकेंगी। किन्तु निखिल जातिके भाग्यगगनमें इस प्रकारके शुभ नक्षत्रका उदय कब होगा सो अन्तर्यामी भगवान् ही जानते हैं। अब अनेक विजातीय जनोंके हृदयमें ऊपर प्रदर्शित सत्यसभ्यताकी क्षीण रश्मि चमकने लगी है और वे निष्पक्ष हृदयसे सत्यासत्यके निर्णयमें तत्पर होने लगे हैं। किसी जापानी वक्ताने यूरोपमें वक्तृता देते समय यूरोपियोंको सम्बोधन करके ठीक ही कहा था कि* "दो हजार वर्ष जब तक हमलोग समस्त संसारके साथ शान्तिका वर्त्ताव रखते थे और सूक्ष्म कलाविद्यामें प्रवीण थे तो हमारी गणना असभ्य जातियोंमें थी और जबसे हम दूसरी जातियोंके साथ संग्राम करने लगे और हजारों मनुष्योंकी हत्या की, तब आप हमें सभ्यजाति कहने लगे!!" प्रोफेसर हक्सूले साहबने पाश्चात्य सभ्यताकी समालो-चना करते हुए कहा—"सर्वोच्च कोटिकी आधुनिक सभ्यताके भीतर भी यथार्थ उन्नतिका आदर्श अथवा चिरजीवनका लक्षण मैंने कुछ भी नहीं पाया; मुझे इस बातके बतानेमें कोई भी सङ्कोच नहीं है कि यदि वर्त्तमान सभ्यता तथा ज्ञानलाभका यही परिणाम है कि प्रकृतिपर बलात्कार तथा अर्थकामवृद्धि द्वारा अभाववृद्धि, लालसावृद्धि और विला-सिताकी ही वृद्धि हो एवं उसके फलसे साधारण जनतामें शारीरिक तथा नैतिक अवन-तिकी पराकाष्ठा प्राप्त हो जाय, तो मैं ऐसे एक धूमकेतुका उदय प्रार्थना करूँगा जिसके

---

* For two thousand years we kept peace with the rest of the world and were known to it by the marvels of our delicate ethereal art and the finely wrought productions of our ingenious handicrafts and we were accounted barbarians. But from the day on which we made war on other nations and killed many thousands of our adversaries, you at once admit our claim to rank among civilized nations.

द्वारा अवश्यम्भावी रूपसे आधुनिक सभ्यताका समूल विनाश साधन हो सके" *। डाक्टर ए० आर० वालेस साहबने कहा है कि † "पश्चिमी सभ्यता गोला बारूदकी वर्षा, मनुष्यहत्या, जीवहत्या, अन्य देश तथा अन्य जातियोंपर निष्ठुर आधिपत्य-विस्तार, नैतिक अवनतिकी पराकाष्ठा तथा अन्यजातिको कष्ट देकर दासत्वश्रृंखलामें बाँधनेपर पर्यवसित है।" मेरी करेलीने कहा है ‡—"सभ्यता अतिमहान् शब्द है। अपना अभिमान तथा अहंकारके चरितार्थ करनेकेलिये और दूसरेके सामने दम्भ

---

* Even the best of modern civilizations appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability. I do not hesitate to express the opinion that if there is no hope of a large improvement of the condition of the greater part of the human family; if it is true that the increase of knowledge, the winning of a greater dominion over nature which is its consequence and the wealth which follows upon that dominion, are to make no difference in the extent and the intensity of want with its concomitant physical and moral degradation amongst the masses of the people, I should hail the advent of some kindly comet which would sweep the whole affair away as a desirable consummation.

("Government: Anarchy or Regimentation" Collected Essays. Vol. 1)

† The result of the European mission in Africa so far has been the sale of vast quantities of rum and gunpowder, much bloodshed owing to the objection of the natives to the seizure of their lands and cattle : great demoralisation of black and white and the condemnation of the conquered tribes to a modified form of slavery.

(The Wonderful Century,. P. 372).

‡ Civilization is a great word. It reads well—it is used everywhere—it bears itself proudly in the language. It is a big mouthful of arrogance and self-sufficiency. The very sound of it flatters our vanity and testifies to the good opinion we have of ourselves. We boast of civilization as if we are really civilized, just as we talk of Christianity, as if we were really Chris-

बतानेके लिये यह शब्द बड़ा ही अच्छा तथा मीठा है। हमलोग सभ्यताका अहंकार बताते हैं—मानों हम लोग यथार्थमें सभ्य ही हैं, जैसा हमारा यथार्थ ख्रिश्चियन बननेका अहंकार है। किन्तु यह सब केवल दम्भमात्र ही है, हम लोग वास्तवमें अभी तक असभ्य ही हैं। हमारा जीवन पूर्ण असभ्यतामय है। हमारे भीतर जो जातीय पक्षपात, अन्यजातिसे द्वेषद्रोहादि वृत्ति, धनलोभ ईर्ष्या तथा कठोर परकीय दलनप्रवृत्ति है, ये ही हमारी प्रबल असभ्यताके सूचक हैं।" विदेशीय विद्वानोंके मुखसे इन्हीं सब प्रमाणोंके द्वारा आर्य्यजातीय प्राचीन सभ्यताकी सर्वोत्तमता सर्वथा सिद्ध हो जाती है और वर्त्तमान आर्यजीवनको यथार्थतः आर्यजीवन बनानेके लिये यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त होता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

(३) आर्यजीवन सरलतामय है, इसमें कपट, छल, चातुरी, विलासिता तथा अस्वाभाविक बाह्याडम्बरका नाममात्र भी नहीं है। Plain living. high thinking अर्थात् सादा रहना, उच्च चिन्ता करना इसका स्वाभाविक सिद्धान्त (motto) है। इस प्रकार सरलता तथा सादापन आर्यजातिको परिश्रम करके उपार्जन करना पड़ता है, आर्यजीवनकी लक्ष्यसिद्धिके साथ साथ ऐसी बातें स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं। प्रत्येक आडम्बरकी उत्पत्ति अभिनिवेश द्वारा हुआ करती है। जिसका जिसपर अभिनिवेश है वही उसका आडम्बर बताया करता है और उसी आडम्बरको बनाये रखने के लिये नाना प्रकारकी चातुरी, छल, कपट आदिका उसे आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। जिसका स्थूल शरीरपर अभिनिवेश है वह सदा ही प्रयत्न करेगा कि उसका स्थूलशरीर मनोरम बना रहे, स्त्री पुरुष उसे देखते ही मुग्ध हो जायँ और इसीके लिये विलासिता, स्थूल चटक मटक छैलापनका सामना वह व्यग्र होकर सदा ही संग्रह करेगा और इसी विलासिताको प्रकट करनेके लिये उसको नाना प्रकारके अस्वाभाविक आडम्बर, छल कपट आदिका भी स्वतः ही अवलम्बन करना पड़ेगा। उसीप्रकार जिसका अभिनिवेश सूक्ष्म शरीरपर है, वह मन बुद्धि आदिका आडम्बर बताया करता है। नाना प्रकारकी

---

tians. Yet it is all the veriest game to make believe, for we are mere savages still : savages in "the lust of the-eye and pride of life,"—savages in our national prejudices and animosities, our jealousies, our greed and malice and savages in our relentless efforts to overreach or pull down each other in social and business relations.

(Nash's Magazine)

कल्पनाओंका विलास, रागद्वेषका विलास, काव्यजगत्‌का अतिरञ्जित विलास, मनोविलास, बुद्धि कौशल, अहंकार, चातुरी, दम्भ, विद्याका आडम्बर ये सब सूक्ष्मशरीरपर अभिनिवेश द्वारा मन-बुद्धिके विलासरूपसे प्रकट होते हैं। किन्तु जहाँ पर स्थूल-सूक्ष्म किसी भी शरीर पर अभिनिवेश लक्ष्य नहीं है, केवल आत्मा ही लक्ष्य है वहाँ ऐसे अप्राकृतिक आडम्बर कदापि नहीं होंगे। क्योंकि उस अवस्थामें स्थूल-सूक्ष्म शरीरपर दृष्टि ही कम होनेसे और जो कुछ दृष्टि हो सो भी आत्माके साधनरूपमें होनेसे, स्थूल सूक्ष्म-शरीरका विलास या रूप बनाना सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि आडम्बर या विलास प्रयोजनसे अतिरिक्त अस्वाभाविक विकृतिका सूचक है, जहाँ पर विकृति लक्ष्य नहीं है किन्तु प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करना लक्ष्य है वहाँ प्रयोजनानुसार स्थूल-सूक्ष्म-शरीरकी रक्षा तथा सञ्चालन ही हो सकता है, अस्वाभाविक तथा प्रयोजनसे अतिरिक्त वृथा बाह्याडम्बर नहीं हो सकता हैं। आर्यजीवनमें स्थूलशरीरका बाह्यविलास लक्ष्य नहीं है किन्तु सदाचार, परिच्छिन्नता तथा आहारशुद्धिके अवलम्बनसे स्थूलशरीरकी यथोचित रक्षा, पुष्टि तथा उसे सत्त्वगुणमय साधनोपकरण बनाना लक्ष्य है। आर्यजीवनमें मानसिक प्रगल्भता, मनोवृत्तिका तीव्रसंवेग संकल्प विकल्पका उत्ताल तरंग-विस्तार तथा ऋजुभाव रहित मलिनता कुटिलता कपटता प्रकाश करके अपने तथा पराये जीवनको उद्‌व्यस्त करना लक्ष्य नहीं है, किन्तु आसुरी वृत्तियोंके दमन तथा दैवी वृत्तियोंके उद्‌बोधन द्वारा मनको शुद्ध सात्त्विक निर्मल बनाकर शतदल कमलकी तरह श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें उपहार देने योग्य बनाना, लक्ष्य है। आर्यजीवनमें बुद्धिको लौकिक चातुरी तथा दम्भाहंकारका यन्त्र बनाकर समस्त संसारमें खलबली मचाना लक्ष्य नहीं है, किन्तु लौकिक चातुरीको अलौकिक आत्मसाधनका उपकरण और अलौकिक बुद्धि-विनियोगको ब्रह्मपदवीपर प्रतिष्ठा पाने योग्य बनाना लक्ष्य है। और इस प्रकारसे शरीर, मन, बुद्धि आदिका उपयोग जिस जातिमें होगा उस जातिका (Plain living, high thinking) सरल जीवन उच्चचिन्ता अवश्य ही स्वाभाविक सिद्धान्तरूप (motto) होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही आर्य्यजीवनके सरलतामय होनेका कारण है।

आर्यजीवनके सरलतामय होनेका अन्य कारण महाप्रकृतिके साथ आर्यजीवनकी सदा सम्मिलनचेष्टा है। "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" तीन गुणोंकी समतावस्थाको प्रकृति कहते हैं। सृष्टि गुणत्रयकी वैषम्यावस्थामें होती है, इसलिये सृष्टि प्रकृति नहीं है, किन्तु विकृति है। इस विकृतिको जीव मनुष्ययोनिमें आकर और भी बढ़ा लेता है। क्योंकि मनुष्ययोनिमें अहंकारवृद्धि तथा अपने केन्द्रपर स्वामिभावका

अभिनिवेश अधिक हो जानेसे जीव व्यापक प्रकृतिसे बहुत ही अलग हो जाता है और अपनी व्यष्टि सत्ताको समष्टि सत्तासे एक बार ही पृथक् कर लेता है। इस अवस्थामें विश्वजननी प्रकृति मातासे अतिदूर हो जानेके कारण मनुष्यमें विकृतिभावकी पराकाष्ठा होती जाती है। वह अपने तीनों शरीरोंको ब्रह्माण्ड शरीरसे पृथक् मानकर उसी विलास-कला विस्तारमें रातदिन लगा रहता है। यही उसके जीवनमें असरलता, अस्वाभाविकता, विलासिता तथा छल कपट आदिका हेतु है। मनुष्येतर पश्वादि योनियोंमें जीव जबतक रहता है तबतक उसके जीवनमें इतनी अस्वाभाविकता नहीं रहती। क्योंकि मूढ़ योनिमें बुद्धि तथा अहंकार-विकाशकी अतिन्यूनताके कारण पश्वादि जीव स्वशरीरके प्रभु नहीं बन सकते हैं। वे विश्वजननीके अङ्कशिशुकी तरह उन्हींके समष्टि-नियमानुसार समष्टि धारामें बह चलते हैं। विश्वजननी अपने गोदमें उन्हें रखती हुई, क्रमोदूर्ध्व-गतिके नियमानुसार मनुष्ययोनि तक मनुष्येतर जीवोंको धीरे धीरे पहुँचा देती है। उनके जीवनमें पापपुण्यकी जिम्मेवरी कुछभी नहीं होती है। उनका खान-पान भय-निद्रा सृष्टि-विस्तारादि सभी प्राकृतिक नियमानुसार हुआ करते हैं। वे कभी स्वेच्छासे प्राकृतिक नियमविरुद्ध कार्य नहीं करते हैं। विश्वजननीके आज्ञानुसार ही उसके सब कार्य्य होते रहते हैं। वे कभी स्वाभाविक वेशभूषा या रहन-सहन आदिके द्वारा विश्वजननीके मुक्त आलिङ्गनसे दूर रहनेकी चेष्टा नहीं करते हैं। वे मुक्त कलेवर होकर माताकी षड्ऋतुमयी विविध विलासकलाका उपभोग करते हैं और तभी उनका स्थूलशरीर वज्रकी तरह दृढ़, नीरोग, अपूर्व स्वास्थ्ययुक्त तथा मन बुद्धि सभी स्वभाव सरल और चातुरीहीन हुआ करते हैं। किन्तु मनुष्ययोनिमें आकर ठीक इसके विपरीत होता है। मनुष्य निज शरीरका प्रभु बनकर यथेच्छाचरण, यथेच्छ आहार, निद्रा, भय मैथुनादिका आचरण करता है, व्यष्टि सत्ताके मदमें उन्मत्त होकर विश्वमाताके मधुर नियमपर पदप्रहार करता है, उनके नियमको उल्लंघन करके अनियमित, अस्वाभाविक आचरण द्वारा असरल, कपटी, कुटिल, रोगशोकतापग्रस्त तथा महान् दुर्दशाग्रस्त हो जाता है। यही साधारण मानवजीवनकी असरल, विलासितामय गतिका निदान है। आर्य्यजीवनका आदर्श इससे बहुत भिन्न है। आर्य्यजीवन व्यष्टिसत्ताके विलासमय अस्वाभाविक विकारको पसन्द नहीं करता है, किन्तु विश्वजननीके स्वाभाविक प्रवाहमें शरीर-मन प्राण आत्माको चिरकालके लिये प्रवाहित करनेके अर्थ अनुक्षण प्रयत्न करता है। आर्य्यजीवनकी समस्त साधनका यही मूलमन्त्र है, समस्त चेष्टाओंका यही चरम लक्ष्य है, समस्त जीवनयज्ञकी इसीमें पूर्णाहुति है। आर्य्यजीवन व्यष्टि विकृतिसे समष्टि प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जानेके लिये पुरुषार्थ करता है। इस पुरुषार्थकी परिसमाप्ति वहीं है जहाँपर चरम

साम्य और परब्रह्म विराजमान है, क्योंकि आर्यशास्त्रके सिद्धांतानुसार निर्दोष ब्रह्मका राज्य ही साम्यका राज्य है। अतः जहाँपर गुणविकार नहीं, रजोगुणचपलता नहीं, तमोगुणसुलभ अज्ञान तथा प्रमाद नहीं, वहाँ सरलता, ऋजुता, निष्कपटता, बाह्याडम्बर तथा विलासिताका अभाव और उच्चचिन्ताका सद्भाव स्वभावतः ही प्रकट होगा इसमें सन्देह क्या है। आर्यजीवनकी सरलता पूततोया जाह्नवीकी सरलधाराकी तरह है, आर्यजीवनकी गम्भीरता अतल जलधिके सदृश है, आर्यजीवनकी उदारता विशाल हिमगिरिके तुल्य है, आर्यहृदयकी उच्चचिन्ता गगनचुम्बी उच्चताको भी परास्त करती है, आर्यशरीरका स्वभावसौंदर्य, आर्यनेत्रकी स्वाभाविक माधुरी, आर्यकण्ठका मधुर स्वर, मयूर-मृग-कोकिलके स्वभावविलाससे भी सुन्दरतर है। इस प्रकारसे व्यष्टिप्रकृतिके समस्त विकारोंको महाप्रकृतिकी सरल समधारामें विलीनकरते हुए अनन्तकोटि विश्वसंसारमें सरलरूपसे विराजमान परमात्माके परमपदमें प्रतिष्ठालाभ करना ही आर्यजीवनका चरम लक्ष्य है। त्रिगुणतरङ्गमय प्रपञ्चमय जगत्‌में त्रिगुणका टेढ़ापन स्वाभाविक है। किन्तु श्रीभगवान् सभी भावोंके भीतर एकभावसे रहनेके कारण इतने सरल हैं। प्रकृतिके टेढ़ेपनसे अलग होकर सरल भगवान्‌की ओर जीव जितना अग्रसर होगा, उतनी ही उसमें शारीरिक, मानसिक सभी प्रकारकी सरलता प्रकट होगी इसमें बिन्दुमात्र सन्देह नहीं है। यही कारण है कि 'सरल जीवन उच्चचिन्ता' आर्यजीवनका स्वभावसुलभ धर्म है, जिस धर्मको केवल इस देशवासी ही नहीं किन्तु गुणग्राही विदेशी विद्वान्‌गण भी मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं।

(४) आर्यजीवनमें भौतिक विज्ञान (Material Science) को उन्नति चरम उन्नति नहीं समझी जा सकती है। यद्यपि प्राचीन कालमें अर्थकामसम्बन्धीय समस्त अभावको दूर करनेकेलिये भौतिक विज्ञानकी भी विशेष उन्नति आर्यजातिने की थी, जिसका पूरा वृत्तान्त अन्य प्रबन्धमें दिया जा चुका है, तथापि निम्नलिखित कारणोंसे आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्यजातियोंकी तरह भौतिक विज्ञानोन्नतिको ही उन्नतिकी पराकाष्ठा नहीं समझ सकती।

(क) भौतिक विज्ञानोन्नतिका लक्ष्य अर्थकाम है, धर्म मोक्ष नहीं है, जो कि पूर्ववर्णित हेतुओंके अनुसार आर्यजातिको एकान्त अभीष्ट नहीं हो सकता है।

(ख) भौतिक विज्ञानोन्नति अप्राकृतिक समस्त कलाकौशलको प्रकट करके मनुष्यजीवनको एकबार ही अस्वाभाविक बना देती है। वह प्रथमतः कुछ दिनों तक अच्छी लगनेपर भी पीछेसे मनुष्य शरीर, मनुष्य मनको दुःख-शोक रोगग्रस्त तथा कुछसे कुछ

बना देती है। उसके द्वारा मनुष्य जीवनमें स्वाभाविक भावका आनन्द एकवार ही जाता रहता है।

(ग) भौतिक विज्ञानोन्नति भौतिक होनेके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें दम्भ अहङ्कारको खूब ही उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्य अहंभावग्रस्त होकर प्रायः यही समझने लगता है कि संसारमें प्राकृतिक विज्ञानके सिवाय और कोई पदार्थ ही नहीं है। समस्त संसारकी सृष्टि स्थिति या नाश रासायनिक संयोग-वियोग द्वारा प्राकृतिक रूपसे ही होता है, इसके ऊपर किसी अलौकिक परमात्मा आदि वस्तुके माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, इस प्रकारसे भौतिक विज्ञानके मदमें आकर लोग प्रायः नास्तिक हो जाते हैं और अर्थकामपरायण परलोकभयवर्जित नास्तिक बनकर अपने तथा सामाजिक जीवनको अधःपातमें ले जाते हैं।

(घ) भौतिक विज्ञान-उन्नतिके द्वारा अर्थकामकी पुष्टि होकर प्रबल राग-द्वेष तथा उसके परिणामरूप अन्तर्विवाद, जातीय कलह, जातीय संग्राम आदि तो अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु इन सब विपत्तियोंके निवारणके लिये भौतिक विज्ञानके पास कोई भी साधन नहीं है। अन्यपक्षमें आसुरी अस्त्र शस्त्र बनाकर भौतिक विज्ञान उल्लिखित संग्राम, नरहत्या तथा देशनाशक विप्लवोंको और भी वृद्धिगत कर देता है। थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि भौतिक विज्ञान उन्नतिके द्वारा युद्धकार्यमें प्राचीन कालकी तरह यथार्थ वीरताकी परीक्षाके लिये कोई भी यन्त्र नहीं बना है, किन्तु किस प्रकारसे छल कपटके द्वारा अतिदूरसे या प्रच्छन्न होकर स्वल्पकालमें अनेक मनुष्य मारे जा सकते हैं इसीके अनेक यन्त्र बने हैं। आकाशयान (Aeroplane), पनडुब्बी (Submarine), बड़ी बड़ी तोपें (Maxim gun) आदि सभी यन्त्र भीषण नरहत्याके ही यन्त्र (Engines of destruction) हैं। इनके द्वारा संग्राममें वीरताकी कोई भी परीक्षा नहीं होती है, केवल नरहत्याकारी भौतिक मस्तिष्क शक्तिकी परीक्षा होती है। अतः इस प्रकार उन्नतिके द्वारा संसारमें वास्तविक शान्ति कदापि नहीं प्रतिष्ठित हो सकती है किन्तु केवल विद्रोह, अशान्ति, मदोन्माद, राग द्वेष और प्रबल हत्याकाण्ड ही बढ़ता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल समस्त संसारमें दीख रहा है और इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि समस्त सभ्यताभिमानी जातियाँ असभ्य बन जायँगी।

(ङ) भौतिक विज्ञानके द्वारा क्रमशः स्थूल सूक्ष्म दोनों ही जगत्‌में प्रबल असामञ्जस्य (discord, disbalance) उत्पन्न होता है जिसके फलसे स्थूल संसारका स्वास्थ्य, नैरोग्य तथा मानसिक शान्ति नष्ट होकर दुर्भिक्ष हाहाकार, महामारी तथा

प्रबल अशान्तिसे संसार परिपूर्ण हो जाता है। चूँकि यह विचार कुछ सूक्ष्म तथा गम्भीर है इस कारण नीचे विस्तारके साथ पुनः इसपर विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ तभीतक अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है, जबतक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानि हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्यशरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्य-शरीर नीरोग रहता है। परन्तु ब्रह्मचर्य्यनाश, अधिक परिश्रम, काम, मोह, क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना, आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है जिस कारण वात, पित्त कफ और अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर वह शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टिशरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है जिसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डशरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, शस्य-सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी तथा देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्माण्डशरीरव्यापी प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे बिगड़ जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य-धातुओंमें भी विकार होगा, पञ्चतत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोग-ग्रस्त होकर, ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुफला वसुन्धरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरो-गतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्रकृतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया जाय—जल जिस गतिके अनुसार नदी समुद्र आदि रूपमें चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होने पर संसारका स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होनेपर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःखदारिद्र्य बढ़ जायगा। इसके सिवाय

ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्य्यमें लगा दिया जाय तो भी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवन-शक्ति घट जायगी जिससे इसमें शस्योत्पादिकाशक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिकाशक्ति, ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्धातुमें विकार तथा वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड़कर देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख दारिद्र्य और अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकताविहीन भौतिक विज्ञानोन्नति (godless scientific improvement) के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राणशक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसकी सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्य्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वोंपर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्य्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है, जैसा कि नदनदियोंके प्रवाहको नहर आदि रूपसे इधर उधर करना, उनमेंसे बिजली खींच लेना इत्यादि भौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट्धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमें संग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी, दारिद्र्य और अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है, उसके मूलको अन्वेषण करनेसे अवश्य ही पता लगेगा कि, आसुरी शक्तिके अथवा प्रयोगद्वारा प्रकृतिराज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्डशरीरके प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटना हुई है। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

> विराट्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
> तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्।
> दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार, धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है, जिससे दुर्भिक्ष, अपग्रहोंका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। प्राचीन कालमें भौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति विशेषरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताके कारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी, जिससे प्रकृतिपर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार उस समय भी था, जिससे विराट्धातुमें विकार अनार्य अस्त्रप्रयोग आदिके द्वारा

उत्पन्न होकर दुर्भिक्ष, अपग्रहोत्पात आदि दुर्घनाओंकी उत्पत्ति करता था। इन सब आसुरी शक्तियोंके प्रकोपको दूर करनेकेलिये ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञद्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। विचार कर देखनेसे स्पष्ट होता है कि, महर्षियोंके द्वारा प्रतिष्ठित गृहदेवता, ग्रामदेवता, वनदेवता आदिके मन्दिर तथा तीर्थादि, इसी प्रकारसे समस्त देशमें दैवीशक्तिके पोषण द्वारा प्रकृतिके शक्ति-सामञ्जस्य विधानकेलिये ही हैं। अर्थात् इन सब दैवीशक्तिके केन्द्रस्थानोंके द्वारा आध्यात्मिक आदि अन्य प्रकारके उपकार अनेक होने पर भी समष्टि-जगत्में शान्तिरक्षा भी इनका अन्यतम उद्देश्य है। इस प्रकारसे दैवीशक्ति जितनी ही प्रकट की जाती है उतना ही आसुरी शक्तिका प्रकोप ह्रास होता है और भौतिक विज्ञान, आसुरी अस्त्रोंका प्रयोग, प्राकृतिक प्राणशक्तिका नाश आदि द्वारा जो संग्राम, दुर्भिक्ष आदि विराट् शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, वे सब दूर हो जाते हैं। गृह, ग्राम तथा देशमें उपासनादि द्वारा श्रीभगवान्‌की अथवा अन्य देवताकी दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा द्वारा भी उपरोक्त प्रकारसे आसुरी शक्तिका दमन होता है। भौतिक विज्ञानकी प्रक्रिया द्वारा विकृत पञ्चतत्त्वोंकी विषमता दूर होकर देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिका नाश होता है और अन्य कार्यमें व्ययित ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिकी पुष्टि होती है, जिससे आवश्यकतानुसार भौतिक विज्ञानका प्रचलन रहने पर भी इसके द्वारा प्रकृतिराज्यमें किसी प्रकारकी हानि अनुभूत नहीं होती है। यही कारण है कि, आर्य्यजीवनमें भौतिक विज्ञान ही एकमात्र लक्ष्य न होकर अर्थकामप्रद भौतिक विज्ञानके साथ धर्ममोक्षप्रद आध्यात्मिक विज्ञान (spiritual science) को मिलाना और दोनोंका सामञ्जस्य रखना ही परम लक्ष्य है।

(५) आर्य्यजीवन कर्म उपासना-ज्ञानमय है। प्रकृति त्रिगुणमयी तथा प्रतिक्षण-परिणामिनी है। इतना तक कि दिवारात्रिके भीतर भी समष्टि प्रकृति तथा व्यष्टि-प्रकृतिमें तीन गुणोंके परिवर्तन होते रहते हैं। इस परिवर्त्तन नियमके अनुसार यदि व्यष्टि प्रकृति यथोचित व्यापारमें रत रहे तो, समष्टिप्रकृतिके प्रवाहमें स्वतः ही वह बहा करेगी और समष्टिप्रकृति उसे अपनेमें मिलाकर अन्तमें प्रकृतिराज्यसे परे तथा प्रकृतिके प्रति परमात्मामें पहुँचा देगी। इसी कारण व्यष्टि-प्रकृतिको समष्टि प्रकृतिमें मिलानेके लिये ज्ञानदृष्टि-सम्पन्न पूज्यपाद महर्षियोंने गुणपरिणामके नैसर्गिक नियमानुसार कर्म-उपासना-ज्ञानका विधान किया है। जिस समय प्रकृतिपर तमोगुणका प्रबल आवेश हो जाय उस समय निद्रा ही प्रकृतिके अनुकूल व्यापार है, क्योंकि उतने तमो-

गुणमें कोई भी क्रिया नहीं बन सकती। उससे ऊपर जब तमोगुण रजोगुणोन्मुखी हो तब कर्मका समय है, इस प्रकृतिके लिये महर्षियोंने वेदविहित कर्मोंका विधान किया है। तदनन्तर प्रकृतिके और थोड़ा आगे बढ़ने पर जब तमोगुण दब जाय तथा रजोगुण सत्त्वोन्मुखी हो जाय तब मनुष्यका अन्तःकरण सत्त्वगुणोदयमें स्वतः भगवान्की ओर जाता है। इसीलिये इस प्रकृतिमें उपासनाका विधान है। तदनन्तर रजोगुण और तमोगुणका पूर्ण अभाव तथा सत्त्वगुणके विशेष विकाशके समय ज्ञान ही एकमात्र अवलम्बनीय होता है। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकृतिमें ही २४ घण्टेके भीतर नैसर्गिकरूपसे ऊपर लिखित नियमानुसार त्रिगुणपरिणाम होता रहता है। इसलिये सत्यदर्शी पूज्यचरण महर्षियोंने व्यष्टिसमष्टि प्रकृतिके सामञ्जस्यविधानार्थ आर्य्यजीवनको कर्म-उपासना-ज्ञानमय बनानेका उपदेश दिया है। इसी कालज्ञानके विचारसे ही दिन व रातमें चार सन्धियाँ शास्त्रोंमें मानी गई हैं। वे ही चार सन्ध्या कहाती हैं और उनमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे कर्म और उपासना करनेकी भी विधि रक्खी गई है। यही कारण है कि दिनके भी तीन विभाग मानकर देवता और पितरोंकी पूजाके काल बताये गये हैं। इसमें समष्टि प्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिकी समता सिद्ध होकर परोक्षरूपसे ब्रह्मसागरमें मिलना सुलभ हो ही जाता है, इसके सिवाय साक्षात्रूपसे आत्मज्योतिः-प्रकाशनार्थ इसमें सभी कुछ अवकाश रक्खा गया है। यथा—

(क) यावतीय मनुष्यप्रकृति साधारणतः तीन नैसर्गिक भागोंमें विभक्त है, यथा स्थूलवृत्तिमयी (Physical), मनोवृत्तिमयी (Emotional) और बुद्धिवृत्तिमयी (Intellectual) इन तीनों वृत्तियोंके द्वारा ही जीवजगत् सदा चञ्चल रहा करता है और इनके शान्त होनेसे ही समाधि द्वारा ब्राह्मी स्थिति लाभ हुआ करती है। मनुष्ययोनिके प्रथम उन्नति स्तर—(Evolution) में मन बुद्धिका साधारण विकाश रहनेसे वहाँ स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिका ही प्रभाव अधिक रहता है। तदनन्तर क्रमशः मनोवृत्ति और विशेष उन्नत अवस्थामें बुद्धिवृत्तिका बल अधिक हो जाता है, किन्तु तीनों वृत्तियोंका स्वल्प विस्तर प्रभाव मनुष्ययोनिके सभी जीवोंमें रहता है। अब ब्राह्मी स्थिति लाभकेलिये वही एकमात्र अवलम्बनीय उपाय होगा, जिससे तीनों वृत्तियाँ सामञ्जस्यके साथ क्रमशः शान्त हो जायँ। कर्मके साथ स्थूलजगत्का सम्बन्ध अधिक रहनेसे स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिके साथ कर्मका नैसर्गिक सम्बन्ध है और वह वेदविहित कर्मके द्वारा ही उन्नतिशील हो सकती है। उपासनाके साथ अन्तःकरणका सम्बन्ध विशेष रहनेसे मनोवृत्तिका निरोध उपासनाके द्वारा ही सम्भव है और ज्ञानके साथ बुद्धिवृत्तिका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे बुद्धिवृत्तिकी सूक्ष्मगति ऋतम्भरा प्रज्ञावस्थाज्ञान द्वारा ही लभ्य है।

तीनोंके सामञ्जस्यानुसार अवलम्बन द्वारा ब्राह्मी स्थिति हुआ करती है, इस कारण आर्य्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये कर्म, उपासना, ज्ञानकी नैसर्गिक आवश्यकता है।

(ख) आस्तिक जगत्में साधारणतः मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—कामपरायण, अर्द्धनिष्काम, पूर्णनिष्काम। इन तीनोंकी आध्यात्मिक क्रमोन्नतिके लिये आर्य्यशास्त्रमें तीन उपाय बताये गये हैं। यथा भागवतमें—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

मनुष्योंके श्रेयोविधानकेलिये कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन योग कहे गये हैं। संसारासक्तिशून्य कामनारहित व्यक्तियोंके लिये ज्ञानयोग तथा सकाम व्यक्तियोंके लिये कर्मयोग आध्यात्मिक उन्नतिप्रद है और जो भगवत्कथामें रुचि रखते हैं तथा न अधिक विषयासक्त ही हैं या अत्यन्त विरक्त ही हैं, ऐसे मनुष्योंकेलिये उपासनायोग सिद्धिप्रद है। चूँकि संसारके सभी लोग इन तीनों प्रकृतियोंमें बँटे हुए हैं इसीकारण सत्यदर्शी महर्षियोंने आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये सामञ्जस्यानुसार कर्मोपासनाज्ञानका विधान किया है।

(ग) आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु जिस प्रकार मेघके द्वारा दृष्टि आच्छन्न होनेपर सूर्य देखनेमें नहीं आते उसी प्रकार स्थूलशरीरका मल, सूक्ष्मशरीरका विक्षेप और कारणशरीरका आवरण आत्मदर्शन पथमें इन तीनों बाधाओंके रहनेसे परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते। कर्मके द्वारा मल नाश, उपासनाके द्वारा विक्षेपनाश और ज्ञानके द्वारा आवरणनाश होता है, तब यथार्थतः आत्मसत्ताका अनुभव होता है। इसी कारण आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये महर्षियोंने उसे कर्म-उपासना ज्ञानमय बनाया है और इसलिये वेदके भी तीन काण्ड हैं।

(घ) कार्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही विकाशमात्र है। इसलिये कारणब्रह्ममें जो भाव है सो कार्यब्रह्ममें भी होता है। अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव, अधिदैव अर्थात्

ईश्वरभाव, अधिभूत अर्थात् विराट् भाव कार्यब्रह्मके ये तीन भाव हैं । इसलिये कार्यब्रह्मके प्रत्येक अङ्गमें भी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हुआ करते हैं। जीवमें तीन भाव अपूर्ण हैं, ब्रह्ममें ये तीन भाव पूर्ण हैं । इसलिये अपूर्ण जीव पूर्णब्रह्मके भावको तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत इन त्रिविध शुद्धियों-का सम्पादन कर सकें। कर्मके द्वारा अधिभूतशुद्धि, उपासनाके द्वारा अधिदैवशुद्धि और ज्ञानके द्वारा अध्यात्मशुद्धि होती है। जीवमें स्थूलशरीर अधिभूत है, मन अधिदैव है और बुद्धि अध्यात्म है । कर्मके द्वारा स्थूलशरीरकी शुद्धिसे अधिभूतशुद्धि होती है, उपासना द्वारा मनोनिरोधसे अधिदैव शुद्धि होती है और ज्ञानद्वारा बुद्धिकी शुद्धिसे अध्यात्म शुद्धि होती है । वेदविहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंका ईश्वरार्पण बुद्धिसे नियमित अनुष्ठान करते-करते आधिभौतिक शुद्धिके साथ साथ चित्तशुद्धि भी होती है और इस प्रकारसे शुद्ध चित्त द्वारा उपासना तथा ज्ञानका साधन सम्यक्रूपसे हो सकता है, जिसके फलरूपसे आत्मसाक्षात्कार सुलभ हो जाता है, यही आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये ऋषिप्रदर्शित कर्म-उपासना-ज्ञानकी साधना तथा उनका प्रयोजन है ।

(ङ) श्रीभगवान् सत्-चित्-आनन्दरूप हैं। उनकी अद्वितीय सत्सत्ता पर ही द्वैतभावमय निखिल प्रपञ्चका विलास है । उनकी चित्सत्ता लौकिक, अलौकिक, व्याव-हारिक, पारमार्थिक, तटस्थ, स्वरूप सकल प्रकारके ज्ञानका निदान है। उनकी अद्वितीय मौलिक आनन्द सत्ता ही द्वैत जगत्में दुःखमिश्रित सकल प्रकारके सुख तथा अद्वैता-वस्थाके निर्मल सुखकी जननी है। जब ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द रूप है और जीव ब्रह्मका अंशरूप है तो जीवमें भी तीन सत्तायें आंशिकरूपसे विद्यमान हैं । इसलिये जीव ब्रह्म तभी बन सकता है, जब जीव उपलब्धि द्वारा अपनी सत्सत्ताके साथ व्यापक सत्सत्ताकी अभिन्नताको समझे, अपनी चित्सत्ताके साथ व्यापक चित्सत्ताकी एकताको समझे और अपनी आनन्दसत्ताको पूर्ण करके व्यापक आनन्दसत्तामें लवलीन हो जाय। निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा अपनी क्षुद्र सत्सत्ता क्रमशः विस्तृत होकर व्यापक सत्सत्तामें जा मिलती है, उपासनायोगके अनुष्ठान द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध होकर परमात्माकी आनन्दसत्ताका अखण्ड अनुभव होता है और ज्ञानयोगके अनुष्ठान द्वारा परमात्माकी चित्सत्ताकी उपलब्धि होती है, इसीप्रकारसे कर्म-उपासना-ज्ञान द्वारा जीव अपने क्षुद्र जीवत्वको छोड़ शिवत्वको प्राप्त कर सकता है । यही आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये कर्म-उपासना-ज्ञानकी परमोपयोगिता है । इस प्रकारसे प्रकृतिके स्वाभाविक विधानानुसार आर्यजीवन कर्म उपासना-ज्ञानमय बनता है और कर्म, उपासना,

ज्ञानके यथाधिकार अनुष्ठान द्वारा व्यष्टिसत्ताको समष्टिसत्तामें विलीन करके अन्तमें शिवत्वपदवी पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

(६) पूर्णामें छोटे बड़े सभीका समावेश होनेसे आर्यजीवनमें प्रथम धर्म सदाचारसे लेकर अन्तिम धर्म आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त सभी स्तरके धर्म समाविष्ट हैं। आर्य्यजीवन धर्मके किसी अङ्गके प्रति उपेक्षा प्रदर्शन नहीं करता है, किन्तु अपनी स्थितिको पूर्णतापर पहुँचानेके लिये उन्नतिक्रमानुसार सभीका आश्रय ग्रहण करता है। बिना प्रथम धर्मके पालनके द्वितीय अधिकारके धर्ममें प्रवेश नहीं हो सकता है, इस कारण धर्ममूलक स्थूलशरीरचेष्टारूप सदाचार पालन अर्थात् पान, भोजन, शयन, उत्थान, स्नान, पूजन आदि सभीमें सत्त्ववृद्धिकर व्यवहारको अवलम्बन करके आर्यजीवन आध्यात्मिक उन्नतिपथमें पदार्पण करता है। बिना रजोवीर्य्यकी शुद्धिके आधिभौतिक शुद्धि और उसके परिणामरूप आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शुद्धि नहीं हो सकती है, इसकारण आर्य्यधर्ममें रजःशुद्धिकारण पातिव्रत्य धर्म और वीर्य्यशुद्धिकारण वर्णधर्मका श्रेष्ठ समावेश किया गया है। वैषयिक प्रवृत्ति आत्मसाक्षात्कारका बाधक है, इसलिये भी आर्य्यजीवनमें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्मके अनुष्ठानकी आज्ञा है। मनोनिवृत्ति आत्मसाक्षात्कारका राजद्वार है, इसलिये निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म पालनकी आज्ञा आर्य्यजीवनमें सर्वोपरि है। इस प्रकारसे प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म, निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म तथा वर्णाश्रमानुकूल विहित कर्मोपासनाज्ञानसाधन द्वारा आर्यजीवन अनायास ही आत्माके महत्तीय राज्यकी ओर द्रुतपद अग्रसर होने लगता है। कर्मके नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि भेद, उपासनाके सगुण, निर्गुण आदि भेद, ज्ञानके तटस्थ, स्वरूपादि भेद सभीका अवलम्बन प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकार विचारानुसार आध्यात्मिक उन्नतिपथमें स्वतः ही हो जाता है और इस प्रकारसे निरवच्छिन्न वेगके साथ परमात्माकी ओर प्रधावित आर्यजीवन अन्तमें—

'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।'

इस महर्षि याज्ञवल्क्य-वचनानुसार परमात्माका साक्षात्कार करके शाश्वती ब्राह्मी स्थितिमें चिरप्रतिष्ठित हो जाता है, यही आर्यजीवनमें प्रथम धर्मसे लेकर अन्तिम धर्मतक सामञ्जस्यानुसार सभीके समाविष्ट होनेका रहस्य है।

(७) आर्यजीवन धर्ममय है। महर्षि कणाद—कथित—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

जिन क्रियाओंके द्वारा इहलोक परलोकमें उन्नति और अन्तमें मोक्षप्राप्ति हो वे

सभी धर्मके अन्तर्गत हैं, धर्मके इस उदार व्यापक लक्षणको आर्य्यजाति ही ठीक ठीक समझती है ।

"धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः"

जो शक्ति समस्त विश्वको तथा समस्त जीवोंको धारण करे, नाशसे या पतनसे बचावे वही धर्म है, महर्षि वेदव्यास-कथित धर्मके इस सार्वभौम लक्षणको आर्यजाति ही यथार्थतः जानती है । धर्म आर्यजीवनका चिरसहचर है, सूतिकागृहसे श्मशान पर्यन्त धर्म ही एकान्त आश्रय है । परलोकमें धर्म ही एकमात्र सहायक है, मायासे परे परम-पदमें पहुँचनेके लिये धर्म ही प्रियबन्धु है, और उत्तालतरङ्गविशिष्ट भवाब्धिमें गन्तव्य-पथ बतानेके लिये धर्म ही ध्रुवतारा है । प्रियसहचर धर्मको आर्यजाति स्नान, भोजन, शयन, जागरणमें भी नहीं छोड़ती । क्योंकि धर्मके व्यापक धारणलक्षणके अनुसार स्नान, शयन भोजनादि सभीमें धर्माधर्मका सम्बन्ध अवश्य होता है । जिन वस्तुओंके भोजनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, रजोगुण-तमोगुणका नाश हो, उन वस्तुओंका भोजन धर्म है, उससे विपरीत रजोगुण तमोगुण वर्द्धक वस्तुओंका सेवन अधर्म है, क्योंकि उससे मनुष्यकी अधोगति होती है । भोज्यवस्तुको श्रीभगवान्को समर्पण करके प्रसाद-बुद्धिसे भोजन करना धर्म है, और उसे लोभके साथ केवल रसनेन्द्रियकी तृप्तिकेलिये खाना अधर्म है । शरीरकी शुद्धि होनेसे मनःशुद्धि होती है और शुद्धान्तःकरण द्वारा भगवदुपासना अच्छी बनती है, इस भावसे स्नान करना धर्म है किन्तु आराम या विलासिता वृद्धिके लिये स्नान करना अधर्म है । जिस प्रकार वेशभूषा द्वारा सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, सरलता या सादापन बढ़े ऐसा वेशभूषण धारण करना धर्म है, विलासबुद्धि, रूप बनाना या राजसिक अहंकार दिखानेके लिये वेशभूषण धारण अधर्म है । इत्यादि इत्यादि विचारोंके द्वारा यही सिद्धान्त होता है कि शारीरिक मानसिक सभी व्यापारोंके साथ व्यापकरूपसे धर्माधर्म सम्बन्ध लगा हुआ है, इसको समझ कर पान, भोजन, स्नान आदि सभी कर्मोंको धर्ममय बनाना आर्यजीवनका स्वभाव है ।

तदन्तर व्यावहारिक जीवनकी जो कुछ उन्नति है आर्यजाति उन सभोंको धर्मके साथ मिलाकर ही प्राप्त करती है । क्योंकि धर्मसे ही यथार्थरूपसे चिरस्थायी अर्थकामकी प्राप्ति हो सकती है, आर्यजातिका यही सिद्धान्त है । धर्महीन अर्थकामके द्वारा किस प्रकारसे परम अनर्थ तथा परलोकमें अनन्त दुःख प्राप्त होते हैं, यह आर्य्य-जातिको पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपासे पूर्णरूपसे परिज्ञात है । अर्थको अधार्मिक उपाय द्वारा अर्जन करनेसे अथवा अर्जित अर्थको अधार्मिक रीतिसे खर्च करनेपर इहजन्म

या परजन्ममें दारिद्र्यदुःख मिलता है, कामसेवा इन्द्रियसुखलालसाके द्वारा प्रेरित होकर करनेसे इह तथा परजन्ममें अनन्त दुःखका उदय होता है, किसी इन्द्रिय शक्तिका अपव्यवहार करनेसे वह इन्द्रिय इह या परजन्ममें शक्तिहीन होकर प्रकट होती है—चक्षुरिन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले चक्षुहीन होते हैं, कर्णेन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले बधिर होते हैं, वागिन्द्रियके अपव्यवहार करनेवाले वाक्शक्तिहीन होते हैं, दूसरेके प्राणको कष्ट देनेपर अपनी प्राणहानि, शरीरमें विविध व्याधि अथवा अल्पायु होती है, इत्यादि इत्यादि क्रिया-प्रतिक्रियाकी सभी बातें आर्यजातिको विशेषरूपसे ज्ञात हैं। इस कारण आर्यजाति व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक कार्यको धर्मके साथ मिलाकर करती है। आर्यजातिका ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रममें धर्मचर्याका हेतुभूत तथा सहायक होता है। आर्यजातिका गृहस्थाश्रम इन्द्रियसंयम भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा अतिथिसत्कारादि गार्हस्थ्यकर्त्तव्यके सम्यक् परिपालन द्वारा वानप्रस्थ तथा सन्न्यासाश्रमके उपयोगी होता है। आर्यजीवनके एक मुहूर्तका धर्मपालन, कर्त्तव्यपालन परमुहूर्त्तको मधुमय बनानेके लिये कारणरूप होता है, यही आर्यजीवनमें धर्म्ममय ऐहलौकिक अभ्युदय-साधनका लक्षण है। अन्यजातिके लिये राजनीति स्वार्थसेवासुलभ अर्थकामप्रद नीतिमात्र है, किन्तु आर्यजातिके सिद्धान्तानुसार राजनीति राजधर्म है। उसमें अष्टलोकपालके अंशसे उत्पन्न राजाके प्रजावत्सलतामय, न्यायानुसार राज्यपालनमय परमावश्यकीय धर्मका समावेश है और प्रतिपालित प्रजाके राजभक्तिमय धर्मका भी समावेश है तथा इन दोनोंका धर्मानुसार परम सामञ्जस्य है। इस प्रकारसे ऐहलौकिक यावतीय अभ्युदयकेलिये धर्म ही आर्यजीवनका एकमात्र अवलम्बन है।

धर्म आर्यजीवनके पारलौकिक अभ्युदयका मूलमन्त्र है। परलोकपर विश्वाससे तथा धार्मिक कर्मोंके फलसे स्वर्गादि उत्तरोत्तर उन्नत लोकोंमें अनुपमसुखभोगार्थ गमन तथा अधार्मिक कर्मोंके फलसे उत्तरोत्तर अधोलोक या नरकादिमें दुःखभोगार्थ गमन आस्तिक आर्यजातिकेलिये सर्वमान्य सिद्धान्त है। आर्यशास्त्रका यह अटल सिद्धान्त है कि भूलोकके ऊपर भुवः, स्वः, महः, जन आदि उत्तरोत्तर अधिक आनन्दप्रद लोकसमूह स्थित हैं, जिनमें वेदविहित सकाम यज्ञादि धर्मानुष्ठान द्वारा जीवोंकी गति होती है और कर्मक्षयपर्यन्त तत्तल्लोकोंमें जीव परम आनन्द उपभोग करते हैं। इस प्रकारसे सकाम धर्मानुष्ठानके फलसे इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवयोनिप्राप्ति और उन योनियोंमें देवभोग्य अनुपम आनन्दराशिके भी विषयमें आर्यशास्त्रमें बहुत वर्णन मिलते हैं। यथा बृहदारण्यकोपनिषद्में—

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैः

मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एक प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः।

यहाँ मनुष्योंमें जो धनवान् और समृद्धिशाली होना है तथा दूसरों पर आधिपत्य पाकर सम्पूर्ण पार्थिवभोगसे युक्त होना है वही मनुष्योंका उत्तम आनन्द हैं; मनुष्योंसे सौगुणा अधिक आनन्द पितरोंके हैं, जिन्होंने पितृलोकको प्राप्त किया है; इससे शतगुणा आनन्द गन्धर्वलोकका है और गन्धर्वलोकसे शतगुणा आनन्द कर्मदेवोंका है, जिन्होंने कर्मद्वारा देवत्वलाभ किया है; कर्मदेवके आनन्दसे शतगुणा अधिक आनन्द आजानदेवताओंका है, जो श्रोत्रिय निष्काम तथा निष्पाप होते हैं; आजानदेवलोकसे शतगुणा अधिक आनन्द प्रजापतिलोकका है और इससे भी शतगुणा आनन्द ब्रह्मलोकमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे उन्नतिलाभ करते करते नाना ऊर्ध्वलोक तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रपदवी तक प्राप्त करना और उन सब पदवियोंमें अनुपम आनन्दलाभ करना धर्मकी ही परलोकमें अभ्युदयकारिणी शक्तिका विविध विलासमात्र है। आर्य्यजातिका जीवन धर्ममय है, इस कारण धर्मशक्तिके द्वारा ही आर्य्यजाति यावतीय पारलौकिक अभ्युदयको प्राप्त करके सकाम धर्मानुष्ठानके अन्तिम सुखास्वादनमें भी समर्थ हो जाती है। तदन्तर निष्काम कर्मोपासना-ज्ञानमय-धर्मानुष्ठान द्वारा स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरगत मलविक्षेपावरणको विदूरित करके नित्यानन्दमय ब्रह्मोपलब्धिमय निःश्रेयस पदवीपर प्रतिष्ठित होना, धर्मके महर्षि कणाद-कथित अभ्युदयनिःश्रेयसकर लक्षणकी अन्तिम चरितार्थता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि आर्यजीवन धर्ममय है और धर्मके ही बलसे आर्यजीवनमें ऐहलौकिक पारलौकिक सर्वविध अभ्युदयप्राप्ति तथा अन्तमें परमानन्दमय निःश्रेयससिद्धि होती है।

(८) आर्यजीवन देशसेवामय है। नवशिक्षित लोगोंमेंसे कोई कोई ऐसा

सन्देह करते हैं कि आर्यजातिमें देशसेवाका संस्कार नहीं था। परन्तु जो लोग आर्य-शास्त्रके रहस्यसे परिचित हैं, वे भलीभाँति जानते हैं कि आर्यजातिमें देशसेवा संस्कार बहुत ही महत्त्व तथा वैज्ञानिक रहस्यसे पूर्ण है। आर्यजातिने अपने शास्त्रमें देशको तीन भागमें विभक्त किया है। यथा शरीरदेश, जन्मभूमि देश और समस्त विश्वदेश। शरीरदेशके विषयमें शास्त्रमें ऐसा कहा है यथा—

अधुना देशविज्ञानं वर्णयामि सुसाधनम्।
प्रकृतेर्मण्डलं यत्तद् ब्रह्माण्डं तत् समष्टितः।
तदेव पिण्डरूपेण प्रोच्यते व्यष्टिनामतः।

तात्पर्य यह है कि प्रथम अवस्थामें साधक अपने शरीरको ही देश मानता है और शरीरकी सहायतासे आत्मोन्नतिमें तत्पर होकर योग्यता लाभ करता है। दूसरी अवस्थामें मनुष्य अपनी जन्मभूमिको देश समझ कर उसकी सेवासे निःस्वार्थ पुरुषार्थ की शिक्षा द्वारा पुण्यसञ्चय करता है। इस अधिकारके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

'विभूतित्वात् सेव्याः पितृकालमहाकालाः' 'मातृदेहजन्मभूमयश्च'
'तथात्वात् पुण्यशक्तिमुक्तयश्च'

श्रीभगवान्की विभूति होनेसे पिता, काल और महाकाल तथा भगवत्शक्तिकी विभूति होनेसे माता, देह और जन्मभूमि सेव्य हैं। इनकी सेवा द्वारा यथाक्रम पुण्य, शक्ति और मुक्ति होती हैं। इस मध्यम अवस्थामें देशभक्त साधक देशकी सेवा द्वारा आधिभौतिक मुक्ति लाभ करता है, यही इस वचनका तात्पर्य है। इसीकारण शास्त्रमें लिखा है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। और सर्वोत्तम परमहंस वृत्तिके लिये समस्त विश्व ही स्वदेश है। इसीके विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

"बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्"

और भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

आर्य्यजाति अन्य जातियोंकी तरह मोह, राग या परकीय द्वेषमूलक अभिमानके द्वारा ग्रस्त होकर स्वदेशकी सेवा नहीं करती है। क्योंकि आर्यजातिको ज्ञात है कि ये सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट तथा बन्धनकारिणी हैं। राग, मोहादि द्वारा देशसेवा करनेसे उस सेवाका यह परिणाम निकलता है कि यदि कार्यमें सफलता हुई तो अहंकार और कर्त्तृत्वाभिमान बढ़ जायगा। यथा गीताजीमें—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते

समष्टिजीवके कर्मानुसार ही फलाफल होता है, किन्तु आसक्तियुक्त कर्त्ता यही समझता है कि मानो उसने ही देशका उद्धार कर दिया। इस प्रकार अहंकारजन्य कर्त्तृत्वाभिमान जीवका बन्धनकारक तथा अधोगतिप्रद होता है। पक्षान्तरमें यदि प्रारब्धवशात् कार्य्यमें विफलता हुई तो मोह या अनुरागमें धक्का लगनेसे सकाम देश-सेवक नैराश्यके समुद्रमें डूब जायगा और कदाचित् नैराश्यके तीव्र आघातसे भग्नहृदय होकर सेवाव्रतको त्याग भी दे सकता है। इसके सिवाय तृतीय पथ, जिसमें परकीय द्वेषपर स्वकीय प्रेमकी प्रतिष्ठा है अर्थात् अपने देशकी उन्नतिके लिये दूसरे देशपर अत्याचार करना है, वह तो परम द्वेषमूलक होनेसे महातमोगुणमय, संग्राममय, अशान्तिकर, आध्यात्मिक अवनतिकर तथा सर्वथा परित्याज्य है, क्योंकि स्थितिका लक्षण प्रेममूलक सत्त्वगुणमें है द्वेषमूलक तमोगुणमें नहीं है। तमोगुण नाशकर्त्ता है; इसलिये जो जाति अन्य जातिपर अत्याचार तथा द्वेषके वर्ताव द्वारा अपनी श्रीवृद्धि चाहती है, वह कदापि चिरकालस्थायिनी, शान्तिमयी श्रीको नहीं प्राप्त कर सकती है। उसके स्वार्थपरतामय, अनुदार नीच आचरणोंसे अन्तर्जातीय संग्राम तथा विप्लव होता है, कदापि यथार्थ उन्नति नहीं होती है। इस कारण पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजीवनमें मोह-राग-अभिमानहीन गीतोक्त कर्मयोगके सिद्धान्तानुसार स्वदेशसेवाका उपदेश किया है। उनका उपदेश यह है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

कर्ममें ही अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं है। फलाकाङ्क्षासे कभी कर्म नहीं करना चाहिये और फल नहीं मिलेगा इस विचारसे कर्मका त्याग भी नहीं करना चाहिये। आसक्तिशून्य तथा सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न होकर कर्म करना चाहिये, इस प्रकार समभाव ही योग कहलाता है। आर्यजातिके आदर्श लक्षणोंमें परधर्मी विद्वेष या परजाति विद्वेष है ही नहीं। इन दोनोंको आर्यजाति निन्दनीय तथा जातीय कलङ्क-रूप समझती है। जिस जातिके धर्ममें यह उदार सिद्धान्त है कि:—

> धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
> अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव ॥

अर्थात् जो धर्म अन्य धर्मको बाधा देवे वह कुधर्म है और सब धर्मोंसे अविरुद्ध धर्म ही सद्धर्म है, उस जातिमें परधर्मी विद्वेष हो नहीं सकता। और जिस जातिके उदार लक्ष्यमें 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ऐसी आज्ञा है, उस जातिके आदर्श-चरित्रमें परजाति-विद्वेषका कलङ्क रह ही नहीं सकता। आर्यशास्त्रमें कहीं कहीं जो अनार्यदेशमें जाने अथवा वहाँ वास करने आदिके विरुद्ध वचन पाये जाये हैं अथवा समुद्रयात्रा या विदेशयात्रा आदिकी निन्दा पायी जाती है, उसका कारण परधर्मीविद्वेष या परजातिविद्वेष नहीं है। किन्तु उसका कारण आर्यजातिमें आध्यात्मिक भावकी पुष्टिका संरक्षण ही है। आर्यजातिकी जो मनुष्यश्रेणी केवल आध्यात्मिक लक्ष्यको ही मुख्य समझती है, अथवा जो ब्राह्मणमण्डली केवल मोक्षधर्मकी ही पक्षपातिनी हो उन्हींको लक्ष्य करके ये सब आज्ञाएँ आर्यशास्त्रमें दी गई हैं। आर्यजीवन अध्यात्म-लक्ष्यमय है, इसलिये आर्यजातिकी स्वदेशसेवामें भी अध्यात्म लक्ष्य ही प्रधान रहता है। आर्यजाति भगवत्पूजारूपसे स्वदेश तथा स्वजातिकी सेवा करती है। उसके सिद्धा-न्तानुसार समस्त संसार श्रीभगवान्का विराट् रूप तथा स्वदेश उस विराट् पुरुषका हृदय है। इसलिये आर्यजातिकी स्वदेशसेवा विराट् भगवान्की पूजा है। मोक्षप्रिय आर्यजाति निष्कामभावसे ही इस विराट्पुरुषकी पूजा करती है और सफलता या विफलताको पूजाफलरूपसे श्रीभगवान्में ही समर्पण करती है। इसलिये स्वदेशसेवामें उसके मोह, आसक्ति, अभिमान, अहंकार आदि क्लिष्ट वृत्तियोंके द्वारा आक्रान्त होनेका कोई भी अवसर नहीं रहता है। वह स्वदेशसेवा द्वारा विराट् भगवान्की ओर ही अग्रसर होती है। स्वदेशसेवामें उसकी मृत्यु, मृत्यु नहीं कहलाती है, किन्तु अमृतत्व प्राप्तिकी सोपान-स्वरूप बन जाती हैं। स्वदेशसेवामें प्राणसमर्पण—करके आर्यजाति प्राणहीन नहीं होती है, किन्तु विश्वप्राण भगवान्में ही जा मिलती है। अतः इस प्रकार अलभ्य लाभके लिये प्राणदान देनेमें आर्य्यजातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं रहता है। अन्यजातिके लोग मोहादिवृत्तियोंके वशीभूत होकर स्वदेशवासियोंको भ्राता कहकर उनके सुखकेलिए आत्मसुखत्याग करनेमें पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु आर्यजातिको इसप्रकार वृत्तिके वशी-भूत होनेका प्रयोजन नहीं रहता है। उसका धर्ममय, अध्यात्मलक्ष्यमय जीवन ही आत्मैकत्वज्ञानसे जीवमात्रके प्रति, विशेषतः स्वदेशवासियोंके प्रति भ्रातृभाव उत्पादित करता है। वास्तवमें अपने देशवासियोंको 'भाई' कहनेका अधिकार आर्यजातिको ही है। क्योंकि आर्य्यजाति ही आर्यशास्त्रानुभवसे जानती है कि—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति"
"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

प्रत्येक जीवमें जीवात्मारूपसे अद्वितीय परमात्माका ही अंश विद्यमान है, अतः परमात्माके अंश होनेसे सभी आत्मा भ्रातृभावसे युक्त हैं। समस्त जीवोंमें विशेषतः स्वदेशवासियोंमें यह भ्रातृभावस्वाभाविक तथा अध्यात्मकारणजन्य है। इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार आर्य्यजाति स्वदेश-सेवामें विराट् भगवान्की पूजा और नरपूजामें नारायणकी पूजा करती है। और फलनिरपेक्ष होकर इस प्रकारसे अनुष्ठित महती पूजा आर्यजातिके लिये यथार्थतः स्वाराज्य प्राप्तिकी कारण स्वरूप बन जाती है।

आर्य्यजातिके इस स्वदेशसेवाव्रतमें आर्य्यधर्मकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जीवभाव स्वार्थमय है, इसलिये दूसरेके लौकिक सुखकेलिये प्राण देकर अपना लौकिक सुख खोनेवाला मनुष्य इस संसारमें बहुत ही कम मिलता है। किन्तु यदि जीवको इस प्रकारका विश्वास हो जाय कि इस दुःख मिश्रित सुखमय मनुष्यलोकसे ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जहाँ दुःखलेशहीन अनुपम सुख मिलते हैं और जहाँ पर इस लोकमें स्वधर्म तथा स्वदेशकेलिये प्राणदानके फलसे मनुष्य जा सकते हैं, तो परलोकपर विश्वासशील आस्तिक मनुष्यकेलिये परार्थके लिये प्राणसमर्पण, परम वाञ्छनीय तथा प्रीतिकर वस्तु हो जाती है। क्योंकि इस प्रकारसे प्राणदान तथा ऐहलौकिक सामान्य सुखत्याग अधिक सुखलाभका ही कारण हो गया। पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि उन्नत देवादि लोकोंमें मनुष्यलोकसे शत शत गुण अधिक आनन्द है। स्वर्गलोकके विषयमें शास्त्रमें प्रमाण है—

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्।"
"स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।"
"अश्नन्ति दिव्यान दिवि देवभोगान्।"

स्वर्गसुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है या उसके बाद भी दुःख नहीं होता है, वहाँ इच्छानुसार सभी भोग्य वस्तु प्राप्त होती है। स्वर्गलोक भयशून्य है, वहाँ मृत्युका अधिकार नहीं है और जराका भी भय नहीं है, क्षुत्पिपासा तथा दुःखशोकसे मुक्त होकर वहाँ लोग आनन्दके साथ दिव्य भोगोंको भोगते हैं। इस प्रकार स्वर्ग तथा अन्यान्य ऊर्द्ध्व लोकोंमें गति कैसे होती है, इस विषयमें गीता तथा मनुसंहितामें लिखा है—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"
"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥"
"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥"

धर्म तथा देशसेवाकेलिये मृत्यु और युद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार स्वरूप है। परिव्राजक योगी और सम्मुख-संग्राममें देश तथा धर्मकेलिये निहत पुरुष सूर्यमण्डल भेद करके आनन्दमय उन्नत लोकोंको प्राप्त होते हैं। अतः इस प्रकार अनुपम सुखप्रद देशसेवाकेलिये किसकी रुचि नहीं होगी? यही आर्य्यजीवनको स्वदेशसेवामय बनानेके लिये धर्मकी ओरसे पवित्र प्रोत्साहन है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु स्वदेशसेवादि उत्तम कर्मोंके फलसे बहुवर्ष तक उन्नत लोकोंमें सुख भोगानन्तर पुनः जब मनुष्यलोकमें जीवका जन्म होता है, तो सुकृतिपरिपाकरूप अति उत्तम सुखमय उन्नत कुलमें वे सब जनमते हैं। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

"ये रमणीयाचरणा अभ्याशो ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"

रमणीय आचरणकारिगण उन्नत रमणीय योनियोंको प्राप्त होते हैं। अतः धर्मसे परलोकपर विश्वास और उससे देशसेवादि उत्तम कार्योंमें प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आर्य्यजातिको यह आस्तिकता स्वदेशसेवाके लिये शक्तिप्रदानमें भी विशेष सहायक बनती है। क्रियामात्र ही विरुद्ध शक्तिके साथ संघर्ष द्वारा उत्पन्न होनेसे प्रत्येक क्रियानुष्ठानमें ही स्वल्पविस्तार शक्तिक्षय हुआ करता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि वृत्तिके वेगसे तो शक्तिक्षय और प्राणक्षय होता ही है, अधिकन्तु प्रत्येक श्वास-प्रश्वाससे भी शक्तिहानि अवश्य ही होती है। रात्रिन्दिव क्षयप्राप्त यह शक्तिभण्डार यदि नियमित भरा न जाय तो अधिक शक्तिहीनतामें स्वदेशसेवाव्रत अवश्य ही कुण्ठित हो जायगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इसकारण आर्य्यजातिके शक्तिभण्डारको सदा परिपूर्ण रखनेके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने आर्य्यजातिको सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्से उपासना द्वारा शक्तिग्रहण करनेकी आज्ञा दी है। उपासना आर्य्यधर्मका अति उत्तम

अङ्ग है। उपासनाके द्वारा भक्त भगवान्‌का समीपस्थ होता है और जिस प्रकार अग्निके समीप बैठनेसे अपने शरीरमें भी उत्ताप आ जाता है, उसी प्रकार अनन्त शक्तिके आधार श्रीभगवान्‌के समीपस्थ होनेसे उपासक भी विश्वप्राण भगवान्‌की प्राणशक्तिसे पुष्ट होकर धन्य हो जाता है। उसका दिन दिन क्षीण शक्तिभण्डार परिपूर्ण हो जाता है। अपनी प्रकृतिप्रवृत्तिके अनुसार अभिमत उपासनाके द्वारा शिवभक्त शैवी शक्तिसे, विष्णुभक्त वैष्णवी शक्तिसे, देवीभक्त महाशक्तिसे, सूर्य्यभक्त सूर्यकी प्राणशक्तिसे—इत्यादि इत्यादि बहुभावानुसार भगवदुपासना द्वारा असीम भगवत्‌शक्तिसे भक्त परिपुष्ट होकर स्वदेश तथा स्वधर्मकेलिये अतिमहान् सेवाव्रतपालनमें समर्थ हो जाता है। यही आर्यजीवनके देशसेवामय बननेका रहस्य है।

अत्यन्त खेदका विषय है कि आर्यजीवनके ऊपर-कथित अत्युत्तम आदर्शसमूह कालकी कुटिल गतिसे अब विनष्टप्राय हो रहे हैं। आर्यजाति धर्ममोक्ष लक्ष्यको छोड़कर जितनी ही अर्थकामपरायण होती जाती है, उतने ही उसके देवदुर्लभ गुणसमूह प्रच्छन्न होते जाते हैं और परार्थपरता, देश तथा धर्मकेलिये जीवनदान आदि मधुर वृत्तिसमूह नष्ट होकर उसके स्थानमें स्वार्थपरता, वैषयिक जीवनसंग्राम, विषयलोलुपता आदि नीच वृत्तियाँ बढ़ती चली जाती हैं। अर्थ काम-समूहके बलवती होनेसे विलासिता बढ़कर अभाववृद्धि बहुत कुछ हो गई है, किन्तु उसकी पूर्तिका यथेष्ट उपाय न मिलनेसे अशान्ति तथा हाहाकार बहुत मच गया है। विषयस्पृहाके बढ़ जानेसे शरीरके प्रति अभिमान बढ़ गया है, इसलिये देश या धर्मकेलिये प्राणदान देनेमें लोग कुण्ठित हो रहे हैं। समष्टि तथा समाजकी कल्याणचिन्ता दूरीभूत होकर स्वार्थपरता तथा नीचता-मय इन्द्रियसुखभोगेच्छा बढ़ रही है। इस प्रकारसे सत्त्वगुण तथा रजोगुण आवरण आजानेसे आर्यजीवनमें तमोगुणका ही घोर अभिनिवेश हो गया है, जिसका उत्तम अवसर देखकर विदेशीय राजसिक जातिने आर्यजातिपर राजसिक अधिकार विस्तार कर लिया है। विजातीय धर्मभावहीन विषयभावमय कुसङ्गसे रहा सहा आर्यभाव भी राहुग्रस्त चन्द्रकी तरह अतिमलिन हो रहा है। इसलिये आदर्श नेताके अधीन होकर आर्यजाति जबतक अपनी जातिगत अलौकिक मर्यादाकी पुनः प्रतिष्ठा न करेगी, तब तक इस जातिका पुनरभ्युत्थान असम्भव है। धर्मशक्तिके पुनरुद्बोधन द्वारा सात्त्विक शक्ति अर्थात् ब्राह्मणशक्तिकी प्रतिष्ठा करनी होगी, क्षात्रशक्तिके पुनरुद्बोधन द्वारा सत्त्वोन्मुख रजोगुणकी प्रतिष्ठा करनी होगी, जिससे विजातीय अत्याचारसे अर्थकामकी सुरक्षा तथा ब्रह्मशक्तिको सहायता प्राप्त होगी। शिल्पकला तथा वाणिज्यश्रीको वर्द्धित

करके स्थूलशरीर सम्बन्धीय समस्त अभावको विदूरित करना होगा, तभी रजोगुण सत्त्वगुणकी सहायतासे तमोगुणको नाश करके आर्यजाति अपने पूर्वस्वरूपमें पुनः प्रतिष्ठाको पा सकेगी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अष्टम काण्डकी नवम शाखा समाप्त हुई।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका प्रकीर्ण प्रकरण नामक अष्टमकाण्ड समाप्त हुआ।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका अष्टमखण्ड समाप्त हुआ।

उपसंहार।

विद्यातीर्थ परमाराध्य श्रीगुरुदेव तथा करुणावरुणालय श्रीविश्वनाथकी अपार कृपासे श्रीधर्मकल्पद्रुम नामक यह विशाल ग्रन्थ समाप्त हुआ। आजसे द्वादश वर्ष पूर्व इस ज्ञानयज्ञका प्रारम्भ पूज्यपदारविन्द गुरुगोविन्दकी आज्ञासे गोविन्दलीलानिकेतन श्री-श्रीवृन्दावन धाममें हुआ था, जिसकी पूर्णाहुति तथा निर्विघ्न समाप्ति द्वादशवर्षीय युगान्तर दृष्टिगोचर हो गई। इस महान् यज्ञके अङ्गीभूत अवान्तर यज्ञरूपसे कितने ही धर्मग्रन्थ हिन्दुनरनारियोंके धर्मतत्त्व ज्ञानके सहायतार्थ प्रणीत तथा प्रकाशित कर दिये गये हैं, जिस कारण प्रधान यज्ञकी परिसमाप्तिमें इतनी देर लग गई। प्रथमतः तीन ही खण्डोंमें इस विशाल ग्रन्थको विभक्त करनेका विचार था। किन्तु क्रमशः देशकालानुसार वर्द्धितकलेवर हो जानेपर इसे आठ सुबृहत् खण्डोंमें विभक्त करना पड़ा और तदनुसार 'सत्यार्थविवेक' नामको बदलकर 'धर्मकल्पद्रुम' नाम रख देना पड़ा है।

हिन्दुजनताने बहुत ही प्रेमके साथ इस ग्रन्थरत्नको अपनाया है। ऐसा विरला ही कोई पुस्तकालय या सज्जन हिन्दुगृह है, जहाँ धर्मकल्पद्रुमका कोई न कोई खण्ड दृष्टि-गोचर न होता हो। इसका प्रधान कारण यह है कि धर्मकल्पद्रुममें किसी मत मतान्तर, किसी प्रामाणिक शास्त्र या विचारका खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु अधिकारानुसार ज्ञानसूत्रमें विवेकमणियोंकी तरह सबका संग्रन्थन किया गया है। वास्तवमें आप्त-पुरुषोंके वचन या शास्त्र अथवा धर्मप्रवर्त्तकोंके मत खण्डन करने योग्य नहीं होते। भिन्न-भिन्न देशकाल तथा अधिकारभेदानुसार इन सभीका उपयोग कहीं न कहीं हुआ करता है। अनादि प्रकृतिके त्रिगुणतरङ्गोंमें प्रवाहित होकर अनन्त जीव क्रमोन्नति करते हुए अनन्त भगवान्‌की ओर अग्रसर होते रहते हैं। एकही देशकाल प्रकृति प्रवृत्तियुक्त कतिपय समानाधिकारसम्पन्न मनुष्योंकी एक जाति होती है। त्रिगुणके तारतम्यानुसार ऐसी भिन्न-भिन्न अधिकारसम्पन्न अनेकजातियाँ धराधाममें दृष्टिगोचर हुआ करती हैं और इनके अधिकारानुसार उन्नति सम्पादनार्थ श्रीभगवान्‌की अनेक विभूतियाँ कहीं धर्माचार्य, कहीं धर्ममत प्रवर्त्तक और कहीं अवतारादि रूपसे स्वतः ही प्रगट होती रहती हैं। अतः इन विभूतियोंके विरचित धर्मग्रन्थोंमें अवान्तर मतभेद प्रतीत होने पर भी, जिन जिन जातियोंके लिये ये सब धर्मग्रन्थ प्रकट होते हैं उनके पृथक् पृथक् प्रकृति प्रवृत्ति

अधिकारानुसार इन धर्मग्रन्थोंकी पूर्ण उपयोगिता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः क्या मुहम्मदीय धर्म, क्या खृष्टीयधर्म, क्या पारसिकोंका धर्म, क्या इसी प्रकार अन्यान्य उपधर्म सभीकी उपकारिता उन सब जातियोंके अधिकारानुसार निश्चित है। यही कारण है कि धर्मकल्पद्रुममें किसी मतमतान्तर या उपधर्मका खण्डन न करके सभीकी देशकालपात्रानुसार उपयोगिता बताई गई है और ऐसा भी एक अध्याय इसमें सन्निवेशित किया गया है जिसमें मौलिकताके विचारसे सर्वधर्मसमन्वय भी हो सके। इस विचारमें विशेष विशेष अधिकारोंकी विशेषताको अक्षुण्ण रख कर केवल मौलिक एकतापर ही प्रकाश डाला गया है। इसके सिवाय सनातनधर्मके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय तथा पन्थ आदिके भी जो अनेक प्रकारके मतभेद, सिद्धान्तभेद, आचारभेद पाये जाते हैं उन सभीका ज्ञानभूमिके तारतम्यानुसार सामञ्जस्यविधानका प्रयत्न किया गया है। जीवात्मा, परमात्मा, ईश्वर, प्रकृति, माया आदि तात्त्विक विषयोंमें जो भिन्न भिन्न दर्शनोंमें पृथक् पृथक् विचार पाये जाते हैं, इनमेंसे किसीका भी खण्डन न करके, दार्शनिक क्रमोन्नत ज्ञानभूमियोंकी विचारधाराकी सहायतासे सभीकी सत्यता, उपयोगिता तथा सामञ्जस्य दिखाया गया है। विवाह, उपनयन स्पृश्यास्पृश्य, आहार विहार, भोज्याभोज्य, उपासनाभेद, योगभेद आदि सामाजिक, धार्मिक तथा यौगिक विषयोंमें भी किसीका खण्डन न करके सामाजिक तथा वैयक्तिक स्थितिके तारतम्यानुसार सभीकी उपयोगिता प्रमाणित की गई है। प्रकृतिके अधस्तन स्तरमें जीव स्वभावतः देहात्मबुद्धि हुआ करते हैं। उससमय शरीर ही सब कुछ है, दैहिक भोगविलास ही जीवनका एकान्त लक्ष्य है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः आत्मा परमात्मा आदिके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है, इस प्रकारका विचार होना अवश्यम्भावी है। ऐसे निम्नस्तरके स्त्री पुरुष एकाएक सदाचार, सतीधर्म, संयम, आत्मानन्द, आत्मपरायणता आदिकी महिमाको समझ नहीं सकते। अतः उनके लिये उच्चकोटिका आदर्श बताना अथवा तदनुसार उनकी जीवनधाराको नियमित करनेका प्रयत्न करना वृथा श्रममात्र है। ऐसी सामाजिक या जातीय स्थितिमें ही सदाचार तथा सतीधर्म आदिका अभाव, पुरुषान्तरग्रहण, विवाहविच्छेद आदिका प्रचलन, इन्द्रियपरता, निकृष्ट विभूतियोंकी उपासना, स्पृश्यास्पृश्य खाद्याखाद्य विचारकी न्यूनता आदि निम्नकोटिकी बातें हुआ करती हैं। अतः इनके प्रति उपेक्षा न करके इन्हें अपनी स्थिति समझा देना और क्रमोन्नतिका सोपान दिखा देना ही युक्तियुक्त है। श्रीधर्मकल्पद्रुममें इसी उदार पन्थाका अनुसरण करते हुए निम्नतमसे लेकर उच्चतम अधिकार तकका पक्षपातरहित विवेचन किया गया है। इसीप्रकार उपासना,

भक्ति, योग, आदि साधनमार्गके विषयोंमें भी अङ्गभेद, अधिकारभेद आदिका दिग्दर्शन कराते हुए यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । इन्हीं सब कारणोंसे हिन्दुजनताकी हृदयभूमिपर श्रीधर्मकल्पद्रुमको इतना उत्तम स्थान प्राप्त हुआ है ।

आज दिन समस्त संसारमें सायन्सका भरमार है । प्रकृतिका अनेक चमत्कार सायन्सके द्वारा प्रकाशित होनेसे सायन्सकी आदर आज कल बहुत कुछ बढ़ गई है । किन्तु सायन्स 'कैसे' (how) के सिवाय 'क्यों' (why) को नहीं बता सकती है । प्रकृतिके नियम (Law of nature) विश्वसंसारमें उत्ताप, आलोक, सौदामिनीरूपसे या कठिन-तरल वायवीय वस्तु आदिके भेदसे 'कैसे' काम करते हैं इसीका चमत्कार बताना सायन्सका काम है । ऐसे चमत्कार 'क्यों' होते हैं, कौन अदृश्य, अलौकिक शक्ति कारणरूपसे सबके भीतर निहित रह कर प्रकृतिमाताकी ऐसी मनोहारिणी मूर्त्तिको जगज्जनोंकी नयनरञ्जनी रूपसे प्रकट करती है, इसका पता सायन्सको अबतक नहीं लग सका है । इसका पता अध्यात्मविद्या (Philosophy) को प्राप्त है । स्थूल-सूक्ष्म-प्रकृतिकी लीलाको सायन्स और कारणप्रकृतिके अलौकिक रहस्यको अध्यात्मविद्या प्रकट करती है । पश्चिम देशमें अबतक सायन्सका ही बहुत प्रचार हुआ है, अध्यात्म-विद्याका नहीं । प्राचीन महर्षियोंने सायन्स तथा अध्यात्मविद्या दोनोंसे काम लिया था और इसीकारण आर्यशास्त्रमें लौकिक प्रकृतिराज्य तथा अलौकिक ब्रह्मराज्य दोनोंका तत्त्वनिरूपण उत्तम तथा पूर्णरीतिसे किया जा सका है । श्रीधर्मकल्पद्रुममें वर्णित प्रत्येक विषयकी मीमांसा सायन्स तथा अध्यात्मविद्याकी सहायतासे की गई है । सवर्ण-विवाहके मूलमें क्या सायन्स है, असवर्णविवाहके कुपरिणामके मूलमें क्या सायन्स है, पातिव्रत्यके मूलमें कैसा गूढ़ सायन्स है, सन्ध्या-पञ्चमहायज्ञ ब्रह्मचर्यरक्षा उपासना आदिके मूलमें कैसे कैसे अलौकिक सायन्स हैं, प्रातरुत्थानसे लेकर रात्रिशयन पर्यन्त अनुष्ठेय नित्यनैमित्तिक समस्त सदाचारोंके मूलमें क्या क्या सायन्स है, स्पृश्यास्पृश्यके मूलमें क्या सायन्स है इत्यादि सभीका वर्णन विज्ञानानुकूल ही किया गया है और साथ ही साथ अध्यात्मविद्याकी सहायतासे समस्त विषयोंका कारणानुसन्धान भी कर दिया गया है । वास्तवमें सनातनधर्म ही पूर्ण विज्ञानानुकूल (Scientific) धर्म है । क्योंकि यह कोई दस बीस नियमोंसे जकड़ा हुआ 'मजहब' नहीं है, इसके अनन्त नियम हैं । जीव जगतमें जन्म लेकर परमात्मामें लय होने तक क्रमोन्नतिके पथमें चलनेकेलिये अनेक जन्मोंमें स्वभावतः जिन नियमोंको आश्रय करता है, उन सभीकी समष्टि सनातन-धर्ममें हैं । ये नियम प्रकृतिके निम्नस्तरमें कुछ और होते हैं, मध्यस्तरमें कुछ और होते हैं और उच्च, उच्चतर, उच्चतम स्तरोंमें कुछ विशेष ही होते हैं । ये सब प्रकृतिके

नियम हैं और सायन्स भी प्रकृतिके नियमको (Law of nature) ही व्यक्त करती है। अतः सनातनधर्म सायन्स अनुमोदित धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आज दिन सायन्सजगत्में जितनी उन्नति हो रही है और नव नव आविष्कार हो रहे हैं, उतने ही सनातनधर्मान्तर्गत विषयोंकी सत्यता प्रमाणित हो रही है। आत्मा तथा प्राण मनुष्येतर जड़जगत् तकमें व्याप्त है, इसको विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसुने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है, असवर्णविवाहसे क्या क्या दोष उत्पन्न होते हैं, इसको अमेरिकाके विज्ञानवित् पण्डितोंने यन्त्रके द्वारा खूब परीक्षा करके पूर्णरूपसे दिखा दिया हैं, मनुष्यकी तरह वृक्ष भी किस प्रकार सोते, जागते, देखते, सुनते हैं इसका भी भूरि भूरि प्रमाण वसुमहाशयने संसारके सामने प्रकट कर दिया है, गङ्गाजलमें किस प्रकार विषनाशिनी तथा रोगकीटाणुनाशिनी अद्भुत शक्ति है इसको इञ्जिनियर हैंकिन्स साहबने यन्त्रोंकी सहायतासे सबको दिखा दिया है, एक स्त्रीके अनेक विवाह होनेसे किस प्रकार उपदंश आदि दुरारोग्य रोग वंशमें फैल जाते हैं इसको पूर्णरूपसे हैभ्लक साहबने प्रमाणित कर दिया है, इत्यादि इत्यादि सनातनधर्मके सभी गूढ़तत्त्व जिन्हें पूज्यपाद सत्यदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंने योगदृष्टि द्वारा प्रकट किये थे, उनकी सत्यता तथा चमत्कारिता आज सायन्सकी उन्नतिके साथ साथ निखिल विश्वमें परिव्याप्त हो रही है। श्रीधर्मकल्पद्रुमके पत्र पत्रमें ऐसी सायन्सकी रीतिपर विषयोंका प्रचुर वर्णन किया गया है। इसलिये यह भी एक कारण है जिससे नवीन भारतमें इस महान् ग्रन्थकी इतनी आदर हुई है।

कालके प्रभावसे हिन्दु सामाजिक तथा धार्मिक रीति नीतिमें बहुत कुछ फेर पड़ गया है। बालविवाह, वृद्धविवाह, विवाहमें पुत्रविक्रय, कन्याविक्रय, वयः क्रमनिर्णयका असामञ्जस्य, आचारके नामसे नानाविध अत्याचार, त्यौहारोंके नामसे धर्मविरुद्ध, सभ्यताविरुद्ध कितनी ही बातें, तीर्थोंमें तीर्थगुरु नामधारियोंके आक्रमण, मन्दिर तथा मन्दिरोंके नामसे अनाचार, अत्याचार, वर्णधर्मके नामसे अधर्म, सन्न्यासाश्रमके नामसे आश्रमभ्रष्टकारी घोर पापाचार इत्यादि कितनी ही कुप्रथाएँ चल पड़ी हैं। कहीं कहीं ऐसी घटनाएँ इतनी रुढ़मूल हो गई हैं कि उनमेंसे कौन धर्म और कौन अधर्म है इसका ढूँढ़ निकालना भी कठिन हो गया है। समयकी विपरीतताके कारण अनेक स्थलपर बिना आपद्धर्मके सहारा लिये जीवनयात्रा निर्वाह नहीं होता है। इसी कारण इन सब सामाजिक तथा धार्मिक विषयोंका यथार्थ तथ्यनिर्णय, कुरीतियोंकी आलोचना तथा सुधारका उपायनिर्देश, आपद्धर्मका यथाशास्त्र विवेचन वर्त्तमान देशकालमें नितान्त आवश्यक है। श्रीधर्मकल्पद्रुममें बिना किसी प्रकार पक्षपातके उपर्युक्त सभी

विषयोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है और वर्त्तमान देशकालानुसार कहीं आपद्धर्मका एवं कहीं कुरीतिसंशोधनका यथाशास्त्र उपाय निर्देश किया गया है।

अनन्तशास्त्रं बहुवेदितव्यम्,
स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्,
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥

इसी बिचारसे एकाधारमें समस्त शास्त्रीय सिद्धान्तको प्राचीन तथा नवीन मत-सामञ्जस्यपूर्वक प्रकट करनेके लिये श्रीधर्मकल्पद्रुमकी रचना की गई है। श्रीश्रीगुरुदेव तथा श्रीश्रीविश्वपतिकी सकरुण प्रेरणासे ही इस महान् ग्रन्थकी अवतारणा की गई थी। अतः इस महान् यज्ञका समस्त श्रेयः उन्हींके पवित्र चरणकमलोंमें सभक्ति समर्पित है।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
ओं तत् सत् ।
ब्रह्मार्पणमस्तु ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम समाप्त

सनातनधर्मकी पुस्तकें।

——:००:——

धर्मकल्पद्रुम।

श्री स्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन-जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा अङ्ग-उपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दुशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठका १॥) और सप्तमका २) अष्टम खण्ड ३॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं। और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बाँधे गये हैं। मूल्य ५) है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इस ग्रन्थमें आर्यजातिका आदि वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। यह ग्रंथ धर्मशिक्षाके अर्थ बी० ए० क्लासका पाठ्य है। इसके दो खण्ड हैं। प्रत्येकका मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेकेलिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्धित और सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १।।)

शास्त्रचन्द्रिका ।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागोंमें विभक्त है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। गुरुमुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या पराविद्या कहलाती है। पराविद्या ग्रन्थोंसे नहीं प्रकाशित होती, परन्तु ग्रंथोंसे प्रकाशित होनेवाली विद्याको अपरा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या भी पुनः दो भागोंमें विभक्त है, यथा—लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्प, कला, वाणिज्य, पदार्थविद्या, सायन्स, राजनीति, समाजनीति, युद्धविद्या, चिकित्साविद्या आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेदसम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्याके अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। इसमें सब शास्त्रोंका सारांश दिया गया है। मूल्य १।।) रुपया।

धर्मचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

एन्ट्रेस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातन-धर्मका उदार सार्वभौम स्वरूप वर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्य कर्मोंका वर्णन, षोडश संस्कारोंके पृथक्-पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धिद्वारा मोक्षका यथार्थ मार्गनिर्देश किया गया है। इस ग्रन्थके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे। मूल्य १)

आर्य्यगौरव

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६वीं तथा १०वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।।)

आचारचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्म पुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या-क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिन्दुसन्तानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है, मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नतिहोना नीतिशिक्षा पर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं, कि एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रंथमें पौराणिक, ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठीं कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रखी गई है, कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होने पर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मर कर कहाँ जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका

क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गए हैं। आजकल स्वर्ग-नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दशलोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस सन्देहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका ।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित ।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्म-चन्द्रिका ।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्य्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभाँति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान ।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है, बालकोंको इसमें धर्मका साधारण ज्ञान भलीभाँति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक-बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मँगावें। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका ।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्रसम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासना रहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठ रहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिक रहस्य और सदाचार विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दीअनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रंथरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ।।)

सदाचारसोपान ।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाकेलिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य –) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान ।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य –)

ब्रह्मचर्यसोपान ।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाकेलिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्म-

चारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) चार आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेकेलिये यह ग्रन्थ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगानुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि, बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधन विषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रंथमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या क्या विषय है, धर्मवक्ता होनेके लिये किन किन योग्यताओंके होने की आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्किमहाराज अवतार धारण कर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)।

योगदर्शन।

हिन्दी भाष्यसहित।

इस प्रकारका हिन्दीभाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रिया सिद्धांशका पारगामी हो, प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर

असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं। यथा आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातन-धर्मावलम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १।)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवाद सहित।

योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधन-प्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप, उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधको दूर करनेकेलिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रुपया

हठयोगसंहिता।

भाषानुवाद सहित।

योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =)

स्तोत्रकुसुमाञ्जलि।

इसमें पञ्चदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलके आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियाँ और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियाँ हैं। मूल्य ।) चार आना।

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंकेलिये पाँच गीतायें—

श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंकेलिये संन्यासगीता और साधकोंकेलिए गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्यदेवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये हैं। ये सातों गीताएँ उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा; वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्मज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डलसे प्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रंथ आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरुशिष्य-लक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र-हठ-लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरु-माहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे दिये गये हैं। मूल, स्पष्ट, सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रन्थ छपा है। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १), श्रीधीशगीताका मूल्य ॥।), शम्भुगीताका मूल्य १), संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पाँच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबन्ध नामक चित्र भी देखनेयोग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवत्पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकृत तत्त्वबोधिनी टीका सहित।

यह प्रथम खण्ड प्रथम अध्यायसे नवें अध्याय तथा दूसरा खण्ड दसवें अध्यायसे अठारहवें अध्याय तक प्रत्येक श्लोक, अन्वय; अर्थके अतिरिक्त 'तत्त्वबोधिनी' नामकी विस्तृत टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि आजतक गीताकी विविध टीकाएँ निकल चुकी हैं, किन्तु इसकी यह अपनी मौलिक विशेषता—गीताका अध्यात्म, अधिदैव अधिभूतके साथ त्रिविधस्वरूप वैज्ञानिक ढंगसे वर्णित है जो प्रत्येक जिज्ञासुके लिये तृप्तिदायक हैं। भाषा अतिसुन्दर और सरल है। हिन्दीमें गीताकी यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य प्रथम खण्ड ४) द्वितीय खण्ड ३॥) मात्र।

कर्ममीमांसा दर्शन।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शन सहस्रों वर्षोंसे लुप्त हो गया था जिसको भगवत् पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजने अपने समाधियोगसे पुनः प्राप्त किया। यह सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद

इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्मके साथ धर्मका सम्बन्ध, धर्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसारपञ्चम भूमिकाका यह दर्शन है। महर्षि जैमिनीकृत जो वृहत् कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन-ग्रन्थ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादक और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। यह ग्रन्थ तीन खण्डोंमें प्रकाशित हुआ है। मूल्य—धर्मपादका १।।) संस्कारपाद १।।) क्रियापाद एवं मोक्षपाद ५)

दैवीमीमांसादर्शन

पूज्यपादमहर्षिअङ्गिराकृत यह भक्तिमार्गका दर्शन ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ रसपाद, उत्पत्तिपाद स्थितिपाद, और लयपाद नामक चार पदोंमें विभक्त है। प्रथम दो पादोंका यह प्रथम खण्ड ज्ञानापिपासु भक्तोंके कल्याणके लिये प्रकाशित किया जाता है। स्थिति एवं लय इन दो पदोंका दूसरा खण्ड भी यन्त्रस्थ है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इस प्रथम खण्डके दो पादोंमें से प्रथमपादमें परमात्माका स्वरूप भक्तिका लक्षण, भक्तिके भेद, रागात्मिका भक्तिके अधिकारी, भाग्यवान् भक्तका लक्षण, सप्तज्ञानभूमि, सप्त अज्ञानभूमियोंका वर्णन, सप्त मुख्य तथा सप्त गौण रसोंका लक्षण, भक्तिकी महिमा पराभक्तिकी श्रेष्ठता, भक्तिमें सबका अधिकार, भक्तिका फलआदि विषयोंका सरल सुन्दर विवेचन है। इसके दूसरे उत्पत्तिपादमें शक्ति एवं शक्तिमान्की अभिन्नता, सृष्टिका स्वरूप, मनुष्येतर योनियोंकी संख्या, मुक्ति एवं बन्धन, ब्रह्म एवं ईश्वरकी अभिन्नता, पिता, काल, महाकाल, माता एवं जन्मभूमिआदि भगवान्की विभूति, इनकी महिमा, सृष्टि एवं लयमें मन एवं बुद्धिका कारणत्व, सृष्टिके भेद, मनुष्यपिण्डकी स्वतन्त्रता, त्रिविध शुद्धि, परमपुरुषकी निर्लिप्तता, ऐश्वर्यके भेद, समर्पणका फल, प्रसादकी महिमा, अपराधके भेद, पतनके कारण भक्तिकी उन्नतिके लक्षणके विषयमें महर्षियोंके विभिन्नमत भगवद्भक्तिमें माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा आदि विषयोंका विशद् विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थके सम्यक् अध्ययनसे भक्तिके विषयमें कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। प्रथमखण्ड मूल्य ३।।)

श्रीरामगीता।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वरामायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परम धार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्म-सुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपुरराज्याधिपतिके पुरुषार्थद्वारा इसका सुललित हिन्दी-भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंकेद्वारा इसके दुरूह विषयों-का स्पष्टीकरण किया गया है, इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और

सब योगोंका अभ्यासी समझकर आनन्दित हो सकता है क्योंकि इसमें सब तरहके विषय आये हैं। इसके आदिमें श्रीरामचन्द्रजीके मर्यादापुरुषोत्तम अवतारकी लीलाओंका विशद रहस्य प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें श्रीरामचन्द्र सीता और हनुमान् आदिके कई त्रैवर्णिक चित्र भी दिये गये हैं। कागज छपाई तथा जिल्द आदि उत्कृष्ट हैं। प्रस्तुत पुस्तकका मूल्य केवल २॥)

कहावत रत्नाकर

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म-सुधाकर हिजहाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारम्भ हुआ था जिसको श्रीमहामण्डलके शास्त्र प्रकाशक विभागकी पण्डित मण्डलीने सुचारुरूपसे समाप्त किया है। हिन्दी भाषाका यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है, इसमें हिन्दी भाषाकी प्रधानता रखकर पांच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसीकी संस्कृत कहावत, अङ्गरेजी कहावत, फार्सी कहावत, उर्दू कहावत और अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानोंद्वारा संगृहीत और संशोधित हुई हैं। इसीप्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृत सुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत संस्कृत न्यायवली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्व साधारणके सुभीतेके लिए अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दी भाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर है, सुन्दर जिल्दबन्धी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण संस्करण ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि बिना किसीके सहारा लिये स्त्री, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भलीभाँति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुदृश्य है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी १॥) रखा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दीभाषाके जाननेवाले भी इसके द्वारा गीताके गूढ़रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका

आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अति सरल तथा मधुर है। इस ग्रंथके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जानने-को बाकी नहीं रह जाता। मूल्य २॥)

सनातनधर्म—दीपिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इसमें १ धर्म, २ नित्यकर्म, ३ उपासना, ४ अवतार, ५ श्राद्धतर्पण, ६ यज्ञोपवीत-संस्कार, ७ वेद और पुराण, ८ वर्णधर्म, ९ नारीधर्म, १० शिक्षादर्श और ११ उपसंहार शीर्षक निबन्ध लिखकर श्रीस्वामीजीने बड़ी ही सरलभाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। यह पुस्तक अङ्गरेजी स्कूलोंकी दशम श्रेणीके विद्यार्थियोंके धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी बनाई गई है। मूल्य ॥।) बारह आने।

त्रिवेदीय सन्ध्या।

शास्त्रविशारद-महोपदेशक

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्तशास्त्री प्रणीत।

इसमें तीनों वेदकी सन्ध्या दी गई है। हर एक मंत्रका हिन्दीमें अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दीभाषामें अनुवाद दिया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है? सन्ध्या का स्वरूप क्या है? उपासनाकी रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या क्या हानि होती है, सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है, प्राणायामका स्वरूप क्या है और कैसे किया जाता है। गायत्रीका रहस्य क्या है, प्रणवका विस्तृत स्वरूप और विज्ञान क्या है, गायत्री जप करनेका विधान क्या है, इस प्रकारसे सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई हैं। इसके साथ साथ गायत्री-शापोद्धार; गायत्रीकवच और गायत्रीहृदय भी सानुवाद दिया गया है। मूल्य केवल ।=) आने।

संगीतसुधाकर—इसमें अच्छे अच्छे भजनोंका संग्रह है। मूल्य ।=) आना।

ईशोपनिषद्।

अन्वय, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य भाष्यानुवाद और उपनिषत् सुबोधिनी टीकाके साथ उत्तम छपाई और उत्तम कागजमें सजधजके साथ प्रकाशित हो गई है। मूल्य ॥।)

केनोपनिषत्।

इसी प्रकार केनोपनिषत् भी अन्वय, मन्त्रार्थ शाङ्करभाष्य, शाङ्करभाष्यका हिन्दी अनुवाद और विस्तृत हिन्दी टीका सहित छपकर तैयार है। मूल्य ॥।)

व्रतोत्सव-चन्द्रिका।

अर्थात्

हिन्दु-त्यौहारोंका शास्त्रीय विवेचन।

वाणी पुस्तकमालाद्वारा प्रकाशित

उत्सवोंसे मनुष्यके जीवनपर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। अभीतक हिन्दी साहित्यमें कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है, जिससे हिन्दुओंके व्रतोत्सवोंके महत्वके विषयमें

कुछ ज्ञान हो। इसीसे हिन्दुलोग व्रत तथा उत्सवकी ओरसे उदासीन होते जा रहे हैं। थोड़े ही दिन हुए श्रीमान् वाणीभूषण महामहोपदेशक पं० अन्नालालजीने "व्रतोत्सव-चन्द्रिका" नामकी पुस्तक लिखकर हिन्दू जनताका बड़ा ही काम किया है। प्रस्तुत पुस्तकमें उन्होंने व्रतोत्सवके शास्त्रीय स्वरूपपर प्रकाश डालकर उनकी अनुष्ठान-विधि, उनका लौकिक स्वरूप, उनके सम्बन्धकी प्रचलित कथादि और अन्तमें इन व्रतोत्सवोंसे देश तथा जातिहितकर कैसी शिक्षा मिलनी है इस सबका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। इस प्रकार यह ग्रंथ अत्युपयोगी हुआ है। मूल्य ५)

सुगमसाधनचन्द्रिका।

वर्तमान काल इतना कराल है कि, जीवोंकी स्वाभाविक रुचि विषयोंकी ओर होती है। धर्मसाधन, ईश्वर आराधना और नित्य कर्मकेलिये उनको समय मिलता ही नहीं। इस कारण वर्तमान देश काल और पात्रके विचारसे यह 'सुगमसाधनचन्द्रिका' नामक पुस्तिका प्रकाशित की जाती है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति थोड़े ही समयमें अपने नित्य कर्तव्योंका कुछ न कुछ अनुष्ठान करके आध्यात्मिक उन्नति मार्गमें कुछ न कुछ अग्रसर हो सकेगा। "अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः" इस शास्त्रीय वचनके अनुसार इस पुस्तिकामें शाखाभेद, अधिकारभेद आदिका कुछ भी विचार न रखकर एक अति सुगम मार्ग बताया गया है। मूल्य =)

आचार-प्रबन्ध

विदेशी शिक्षाके प्रचारके कारण भारतीयोंकी शास्त्रीय विधिसे श्रद्धा उठनी चली जाती है। इसी कारण भारतीय अपने शास्त्रके विरुद्ध व्यवहारोंके अनुकरणमें प्रवृत्त होते जाते हैं। ऐसे ही लोगोंको वास्तविक मार्गपर ले आनेके लिये स्वर्गीय पं० भूदेव मुखोपाध्यायजी सी० आई० ई० ने "आचार-प्रबन्ध" नामक पुस्तक रचकर देशका बड़ाही उपकार किया है। इसमें दिनचर्या तथा अवस्थानुसार संस्कारका विस्तृत रूपसे निरूपण किया गया है। परिशिष्टमें यह भी बतलाया गया है कि, हमारे यहाँ कितने व्रत, वे किस देवताके उपलक्षमें एवं किस-किस प्रदेशमें किस-किस भाँति मनाये जाते हैं। २१० पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य १) मात्र है।

पारिवारिक प्रबन्ध।

पारिवारिक प्रबन्ध कैसा होना चाहिये, इस विषयका स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई० का रचित वह एक अनूठा ग्रन्थ है। इसमें दाम्पत्यप्रेम, पिता-माता, पुत्र-कन्या, भाई-बहिन, पुत्रवधू आदिका सम्बन्ध कैसे होने चाहिये, इसका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया गया है। प्रत्येक गृहस्थको यह पुस्तक रखनी चाहिये। १८२ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य १) मात्र है।

सामाजिक प्रश्नोत्तरी।

इसके हिन्दी, बंगला और उर्दू तीनों संस्करण हैं। इसमें वर्त्तमान समयके बड़े-बड़े जटिल विषयोंका प्रश्नोत्तररूपसे मीमांसा की गयी है। मूल्य यथाक्रम –), =) और)॥

अंगरेजी ग्रन्थ।

The World's Eternal Religion—The only Hand-Book in English on Sanatan Dharma, Price Rs. 3/- only.

कर्ममीमांसादर्शन ।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शन सहस्रों वर्षोंसे लुप्त हो गया था जिसको भगवत पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजने अपने समाधियोगसे पुनः प्राप्त किया। इसमें सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद छप गया है। कर्मके साथ धर्मका सम्बन्ध, धर्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त-प्रकरणआदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसकेद्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिकाका यह दर्शन है। महर्षि जैमिनीकृत जो वृहत् कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है, वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन-ग्रन्थ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादक और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। यह ग्रन्थ तीन खण्डोंमें प्रकाशित हुआ है। मूल्य—धर्मपादका १।।) संस्कारपाद १।।) क्रियापाद एवं मोक्षपाद ५)

दैवीमीमांसादर्शन ।

पूज्यपादमहर्षिअङ्गिराकृत यह उपासनाकाण्डका दर्शन-ग्रन्थ है ।

यह ग्रन्थ रसपाद, उत्पत्तिपाद स्थितिपाद, और लयपाद नामक चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम दो पादोंका यह प्रथम खण्ड ज्ञानपिपासु भक्तोंके कल्याणके लिये प्रकाशित होगया है। स्थिति एवं लय इन दो पादोंका दूसरा खण्ड भी यन्त्रस्थ है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इस प्रथम खण्डके दो पादोंमें से प्रथमपादमें परमात्माका स्वरूप भक्तिका लक्षण, भक्तिके भेद, रागात्मिका भक्तिके अधिकारी, भाग्यवान् भक्तका लक्षण, सप्तज्ञानभूमि, सप्त अज्ञानभूमियोंका वर्णन, सप्त मुख्य तथा सप्त गौण रसोंका लक्षण, भक्तिकी महिमा पराभक्तिकी श्रेष्ठता, भक्तिमें सबका अधिकार, भक्तिका फलआदि विषयोंका सरल सुन्दर विवेचन है। इसके दूसरे उत्पत्तिपादमें शक्ति एवं शक्तिमान्‌की अभिन्नता, सृष्टिका स्वरूप, मनुष्येतर योनियोंकी संख्या, मुक्ति एवं बन्धन, ब्रह्म एवं ईश्वरकी अभिन्नता, पिता, काल, महाकाल, माता एवं जन्मभूमिआदि भगवान्‌की विभूति, इनकी महिमा, सृष्टि एवं लयमें मन एवं बुद्धिका कारणत्व, सृष्टिके भेद, मनुष्यपिण्डकी स्वतन्त्रता, त्रिविधशुद्धि, परमपुरुषकी निर्लिप्तता, ऐश्वर्यके भेद, समर्पणका फल, प्रसादकी महिमा, अपराधके भेद, पतनके कारण भक्तिकी उन्नतिके लक्षणके विषयमें महर्षियोंके विभिन्नमत भगवद्भक्तिमें माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा आदि विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थके सम्यक् अध्ययनसे भक्तिके विषयमें कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। प्रथमखण्ड मूल्य ३।।)

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवत्पूज्यपाद श्री १९०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकृत

तत्त्वबोधिनी टीका सहित

यह प्रथम खण्ड प्रथम अध्यायसे नवें अध्याय तथा दूसरा खण्ड दसवें अध्यायसे अठारहवें अध्याय तक प्रत्येक श्लोक, अन्वय, अर्थके अतिरिक्त 'तत्त्वबोधिनी' नामकी विस्तृत टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि आज तक गीताकी विविध टीकाएँ निकल चुकी हैं, किन्तु इसकी यह अपनी मौलिक विशेषता—गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत त्रिविधस्वरूप वैज्ञानिक ढंगसे समझाया है जो प्रत्येक जिज्ञासुके लिए तृप्तिदायक है। भाषा अतिसुन्दर और सरल है। हिन्दीमें गीताकी यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य प्रथम खण्ड ४) द्वितीय खण्ड ३॥) मात्र।

सनातनधर्मका

विश्वकोष

धर्मकल्पद्रुम

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी आवश्यकता है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी आवश्यकता एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्गउपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेकेलिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलके उपदेशकमहाविद्यालयके प्रधानाचार्य श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने अपने परमाराध्य गुरुदेव भगवत् पूज्यपाद ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके आदेशानुसार इस ग्रन्थका प्रणयन किया था। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिकधर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकलप्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें, इसमें और भी एक विशेषता है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थविद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। यह आठ खण्डोंमें सम्पूर्ण हुआ है। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठ (यन्त्रस्थ), सप्तमका २) और द्वितीय संस्करण अष्टमखण्ड ३॥) है।